कइराअ-बप्पइराअस्स

ग उ ड व हो

मङ्गलाचरणम्

पढमं च्चिअ धवल-कओववीअमंबुरुह-गोअरं णमह ।
हरि-जढर-णिग्गमुक्खित्त-णाल-सुत्तं पिव सयंभुं ॥ १ ॥
सो जअइ कण्णिआ-वलअ-गब्भ-परिगूढ-विअड-बीअम्मि ।
जो वसइ णिहाणीकअ-बहु-बंभंडे व्व कमलम्मि ॥ २ ॥
तं पणमह तिंगिच्छि-च्छलेण णिवसइ णिवेस-कमलम्मि ।
जस्स परमाणु-णिवहो व्व भुवण-णिम्माण-पडिवण्णो ॥ ३ ॥
अट्ठिअमावत्तंती सो जअइ जवुज्जअस्स सा जस्स ।
फलिहक्खावलि-कज्जम्मि घडइ बंभंड-परिवाडी ॥ ४ ॥

सर्वप्रथम उस पद्मासीन स्वयंभू को नमस्कार करो जो विष्णु के उदर से निर्गत (होने के कारण) नाल सूत्र के समान धवल यज्ञोपवीत धारण किये हुए हैं ॥ १ ॥

उस ब्रह्मा की जय हो जो कमल के फल में बीज रूप से बहुत से ब्रह्माण्डों को संजोये हुए कमल पर बैठे हैं ॥ २ ॥

उस (ब्रह्मा) को नमस्कार करो जो कमल में (तिङ्गिच्छि) केसर के रूप में निवास करता है जिसके परमाणु समूह भुवन निर्माण की क्षमता रखते हैं ॥ ३ ॥

उस ब्रह्मा की जय हो, जपके उद्यम में जिनके लिए ब्रह्माण्ड की परिपाटी मानो स्फटिक की अक्षमाला हो ॥ ४ ॥

पणमह हेट्ठ-ट्ठिअ-विअड-सेस-विस-कंद-कंदलाहिंतो ।
पडिभिण्ण-कण्ह-पंकं विणिग्गमं णाहि-णलिणस्स ॥ ५ ॥
विअड-ससि-मंडलाअंत-सलिल-भरिअम्मि भुवण-वलअम्मि ।
हरिणो हरिण-च्छाअं विलास-परिसंठिअं जअइ ॥ ६ ॥
असुरोरट्ठि-णिहंसण-विसट्ट-धूमावलंबि-णह-हीरो ।
रव-रोस-गहिअ-घड-मंडलो व्व णर-केसरी जअइ ॥ ७ ॥
तं णमह समोसरिआ णहग्ग-विहडाविओरवीढस्स ।
जस्स दइच्चम्मि अलद्ध-ववसिअच्चेअ भुअदंडा ॥ ८ ॥

उस नाभि कमल से निकले हुए (ब्रह्मा) को नमस्कार करो जो कृष्णपंक अर्थात् भगवान् विष्णु के नीचे स्थित शेषनाग रूपी कमल ग्रन्थि के अंकुर के समान है जो अंकुर कृष्ण-पंक को विदीर्ण करके निकला हैं[1] ॥ ५ ॥

प्रलय के समय जल से भर जाने के कारण जब पृथ्वी एक बहुत बड़े चन्द्रमा के समान हो गयी हो उस जल में विलास पूर्वक-परिसंस्थित हुए चन्द्रमा में मृग के समान (कृष्ण शरीर विष्णु) विष्णु की जय हो ॥ ६ ॥

उस नृसिंह रूप भगवान् की जय हो जिसके नख के अग्रभाग के दैत्य (हिरण्यकश्यप) की उरोस्थि से घर्षण स्वरूप धूमावली निकलती है जो घटा-सी प्रतीत होती है। मानो बादल के गर्जन से क्रुद्ध होकर (नर) केसरी ने बादल को अपने पंजे में पकड़ लिया हो ॥ ७ ॥

उस (नरसिंह) को नमस्कार करो जिसके नख का अग्रभाग हिरण्यकश्यप के उदर को विदीर्ण कर पीठ की ओर निकल जाता

---

१. विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति मानी गयी है। विष्णु शेषशायी हैं। कवि की कल्पना है कि शेष कमल के पौधे की जड़ है। जिस प्रकार से जड़ या कन्द से जो अंकुर निकलता है वह ऊपर स्थित कर्दम को छिन्न करके निकलता है। यहाँ बिष्णु का शरीर ही कर्दमरूप है और कवि ने कल्पना की है कि नाभि से जो कमल निकला हैं उसकी जड़ शेष है और वह विष्णु शरीर रूपी कर्दम को छिन्न करके निकला है।

णमह-विआरिअ-दणुइंद-रुहिर-पल्लविअ-गअण-पेरंतं ।
रिउ-वह-समय-पसारिअ-संझं पिव महुमह-मइंदं ॥ ९ ॥
मुक्के वि णर-मइंदत्तणम्मि बोक्कार-कलुसिअ-गलस्स ।
हरिणो जअइ चिरं विहअ-सद्द-परिघग्घरा वाणी ॥ १० ॥
अवहीरिअ-दिग्गअ-चंद-हरिण-पलयब्भ-जाल-रसिअस्स ।
असुरेच्चिअ संरंभा जअंति माया-मइंदस्स ॥ ११ ॥
रव-रोस-दलिअ-घण-णिरवलंब-संघडिअ-तडि-कडप्पो व्व ।
णर-हरिणो जअइ कडार-केसरो कंधरा-बंधो ॥ १२ ॥

है जिससे कि उसके भुजदण्ड का शेष अंश बिना किसी कार्य के ही रह जाता है। [भुजा के शेष अंश के प्रयोग का कोई अवसर ही नहीं मिलता] ॥ ८ ॥

उस मृगेन्द्र रूप विष्णु को नमस्कार करो जिसके द्वारा विदारित दनुजेन्द्र का रूधिर गगन मण्डल में इस तरह फैल गया मानो संध्याकालीन अरूणिमा हो। और इस तरह से विष्णु ने मानो सन्ध्या का समय बना लिया जो कि उस दनुज की मृत्यु के लिए उपयुक्त समय था। [हिरण्यकश्यप ने यह वरदान मांगा था कि वह न रात में मरे और न दिन में] ॥ ९ ॥

नरसिंह रूप भगवान् विष्णु की वाणी की जय हो जिस वाणी में अभी भी घड़घड़ाहट है क्योंकि नृसिंह रूप में सिंहनाद करने के कारण उनका गला भर्रा गया था ॥ १० ॥

उस माया मृगेन्द्र के केवल असुर (हिरण्यकश्यप) के प्रति उद्यम की जय हो जिन्होंने कि दिग्गज, चन्द्रमा में स्थित हरिण और प्रलयकालीन बादलों के गर्जन की उपेक्षा कर दी। [सामान्यतः सिंह, गज, मृग और बादलों के गर्जन के प्रति अपना आक्रोश दिखलाता है किन्तु यह माया मृगेन्द्र (नृसिंहरूप) केवल असुर के प्रति ही क्रुद्ध है अन्यों के प्रति नहीं] ॥ ११ ॥

नरहरि के कपिश वर्ण (कडार-वर्ण) केसर की जय हो जो विद्युत के समान है मानो नृसिंह के गर्जन से घन दूर भाग गये हों और

सो जअइ गोव-भावे जो विमलिअ-गूढ-णाहि-णलिणाहि ।
णीसरमाणेहिं चेअ परिमलं वहइ ससिएहिं ॥ क ॥

दाढा-महा-वराहस्स वअण-मग्गेण णिग्गआ जअइ ।
उअर-ट्ठिअ-णाही-कमल-कंद-मूलाहि व मुणाली ॥ १३ ॥

तं णमह जो वराहत्तणम्मि फण-मणि-घडंत पडिबिंबो ।
सेस-ट्ठिअं पि वसुहं वहइ व्व पहाव-संकंतो ॥ १४ ॥

हेट्ठ-ट्ठिअ-सूर-णिवारणाअ छत्तं अहो इव वहंती ।
जअइ ससेसा वाराह-सास-दूरुक्खआ पुहवी ॥ १५ ॥

निश्चलम्ब बिजली नर केसरी की गर्दन से लिपट गयी हो ॥ १२ ॥

उसकी जय हो जो कि गोप-भाव (कृष्णावतार) में विमर्दित गूढ नाभि-कमल से निस्सरित परिमल की गन्ध को अपनी श्वास में धारण करते हैं ॥ क ॥

उस महाबराह के मुख से निकले हुए दाँतों की जय हो जो मानो कि उदरस्थित नाभिकमल कन्द से निकले हुए मृणाल के समान हों । [ऐसी कल्पना है कि विष्णु के नाभिकमल का मूल उनके उदर में है। यह मूल बाराह अवतार में भी उनके उदर में वर्तमान है। किन्तु इस बार वह नाभिकमल के रूप में नहीं मृणाल जैसे दाँतों के रूप में प्रस्फुटित हुआ] ॥ १३ ॥

उस बाराह रूप विष्णु को नमस्कार करो जो (धरती को अपने दाँतों पर उठाता हुआ) शेष के फण पर अवस्थित मणि में प्रतिबिम्बत हो रहा है और इस तरह से वह मानों शेष के सिर पर स्थित पृथ्वी को अपने प्रभाव से उठाये हुए हो ॥ १४ ॥

बाराह की श्वास से शेष सहित दूर उक्षिप्त (दूर फेंकी गयी) पृथ्वी की जय हो। वह इतनी ऊँचाई पर चली गयी है कि सूर्य उसके नीचे हो गया है और सूर्य के आतप से बचने के लिए उसने मानो शेष रूपी छत्र को नीचे कर लिया है ॥ १५ ॥

अंगाइँ विण्हुणो वामणत्तणे विसम-मास-थउडाइं ।
मडहोअर-णपहुप्पंत-भुवण-भरिआइँ व जअंति ॥ १६ ॥

जअइ धरमुद्धरंतो भर-णीसारिअ-मुहग्ग-चलणेण ।
णिअ-देहेण करेण व पंचंगुलिणा महा-कुम्मो ॥ १७ ॥

रक्खउ वो रोम-लआ माया-महिलत्तणे महुमहस्स ।
गूढोअर-तामरसाणुसारिणी भमर-माल व्व ॥ १८ ॥

सो जअइ जस्स जुवइत्तणम्मि खामोअरोसरंतेहिँ ।
भुवणेहिँ व थण-जहणाण गारवं किं पि णिव्वडिअं ॥ १९ ॥

सो जअइ जामइल्लाअमाण-मुहलालि-वलअ-परिआलं ।
लच्छि णिवेसंतेउर-वइं व जो वहइ वणमालं ॥ २० ॥

वामन रूप विष्णु के अंगों की जय हो जो अंग मांसपेशियों की विषमता के कारण ऊबड़-खाबड़ हैं। मानो उदर के छोटेपन के कारण ब्रह्माण्ड उनके अन्य अंगों में फैल गया हो ॥ १६ ॥

उस महाकूर्म रूपी विष्णु की जय हो जो धरती को धारण करने के कारण उसके भार के कारण मुँह और चरणों को बाहर निकाले हुए हैं मानो देह रूपी हाथ की वे पाँचों अंगुलियाँ हों ॥ १७ ॥

विष्णु के उस मोहिनी रूप की जय हो जिसमें कि उदर पर की रोम रेखा भमर पंक्ति के समान है जो उदरस्थ गुढ कमल पर मानो मंडरा रही है ॥ १८ ॥

युवती रूप (मोहिनी रूप) उस विष्णु की जय हो जिनके उदर के कृश होने के कारण भुवनों का समूह स्तन और नितम्ब की गुरूता के रूप में प्रकट हो गया है ॥ १९ ॥

उसकी जय हो जो लक्ष्मी के निवास भवन रूप वनमाला को धारण किए हुए है और उस वनमाला पर मंडराते हुए भ्रमर मानो अन्तःपुर के प्रहरी हों ॥ २० ॥

बालत्तणम्मि हरिणो जअइ जसोआएँ चुंबिअं वअणं ।
पडिसिद्ध-णाहि-मग्गुद्ध-णिग्गअं पुंडरीअं व ॥ २१ ॥
णह-रेहा राहा-कारणाओ करुणं हरंतु वो सरसा ।
वच्छ त्थलम्मि कोत्थुह-किरणाअंतीआ कण्हस्स ॥ २२ ॥
तं णमह जेण अज्जवि विलूण-कंठस्स राहुणो वलइ ।
दुक्खमणिच्चरिअं चिअ अमूल लहुएहिँ सासेहिं ॥ २३ ॥
पणमह बलस्स हुंकार-भअ-वसा घोलमाण-जउणे व्व ।
मअ-दोस-सिढिल-कसणावरिल्ल-संदाणिए चलणे ॥ २४ ॥
अंतो-संलीण-फणा-सहस्स-रअण-प्पहं पिव वमंती ।
हलिणो मआरुणा विहवेउ दुरिआइं वो दिट्ठी ॥ २५ ॥

शैशव में यशोदा के द्वारा चुम्बित विष्णु के मुख की जय हो जो नाभि मार्ग के अवरूद्ध हो जाने के कारण (ऊपर से) निकले हुए कमल के समान है ।। २१ ।।

हरि के (कृष्ण) वक्षस्थल पर राधाकृत सरस नख रेखाएँ आपके दुःखों को दूर करे जो मानो वक्ष-स्थित कौस्तुभमणि की किरणों के समान हैं ।। २२ ।।

उस विष्णु को नमस्कार करो जिसके द्वारा काट दिये जाने के कारण केवल मुण्ड रूप शेष राहु अब भी अपने दुःख को लघु निःस्वासों के द्वारा व्यक्त करता है ।। २२ ।।

(ऐसी मान्यता है कि दीर्घ निःस्वास नाभि से निकलते हैं। अतः नाभि के अभाव में उसके निःस्वास लघु हैं) ।। २३ ।।

बलदेव के चरणों को प्रणाम करो । मदविह्वलता के कारण जिनका उत्तरीय खिसककर उनके चरणों से लिपट गया है मानों हुँकारभय से संत्रस्त यमुना हो ।। २४ ।।

मद के कारण अरूणिमायुक्त बलदेव के चक्षु आपके दुःखों को दूर करें जिन आँखों की लालिमा मानों अन्तरनिविष्ट शेष की फणामणि की प्रभा हो । (बलदेव शेष के अवतार हैं अतः कवि की

अप्पाण-गमिअ-विअणत्तणेण भर-दलिअ सेस-कुम्माण ।
णिरुवालंभं बल-केसवाण परिवग्गिअं जअइ ॥ २६ ॥
तं णमह पीअ-वसणं जो वहइ सहाव-सामल-च्छाअं ।
दिअस-णिसा-लअ-णिग्गम-विहाअ-सबलं पिव सरीरं ॥ २७ ॥
सिरि-थण-णिवेस-मग्गा जअंति भिण्णंगराअ-णिव्वडिआ ।
वच्छम्मि णाहि-णलिणी-दलाअमाणा महुमहस्स ॥ २८ ॥
सो जअइ जस्स णाडाल-लोअणासंगिणी भुमअ-लेहा ।
अज्ज वि दीसइ कामस्स दाह-कसणा धणु-लअ व्व ॥ २९ ॥
तं णमह काम-णेहा अज्ज वि धारेइ जो जडा-बद्धं ।
तइअ-णअणग्गि-णिवडण-कअ-ववसाअं पिव मिअंकं ॥ ३० ॥

कल्पना है कि प्रभावरूप से शेष की फणामणि उनके शरीर में स्थित है जिसकी प्रभा विकीर्ण हो रही है) ॥ २५ ॥

बलदेव और कृष्ण के चंक्रमण (घूमना-फिरना) की जय हो जिसमें कि आत्मसंक्रमित वेदना के कारण शेष और कूर्म कोई उपालम्भ नहीं दे सकते । बलदेव और कृष्ण शेष और कूर्म के अवतार हैं उनके चलने से पृथ्वी पर जो भार पड़ता है वह अन्ततः शेष और कूर्म को वहन करना पड़ता है किन्तु वे गिला शिकवा करे तो कैसे ? वे स्वयं ही स्वयं को भाराक्रान्त कर रहे हैं ॥ २६ ॥

उस पीतवसन (विष्णु) को नमस्कार करो जो स्वाभाविक रूप से श्यामलद्युति को धारण करते हैं मानो दिवस और निशा की लय और निर्गम को अपने वस्त्र की पीलिमा और शरीर की कृष्णता के ब्याज से धारण किए हुए हैं ॥ २७ ॥

लक्ष्मी के चन्दन चर्जित पयोधर चिह्न जो विष्णु के वक्षस्थल पर बने हैं उनकी जय हो ये मानो नाभिस्थित कमल के पत्ते हैं ॥ २८ ॥

उस महादेव की जय हो जिसके ललाट लोचन के पार्श्व की भ्रू रेखा आज भी कामदेव के दग्ध-धनुष के समान वर्त्तमान है ॥ २९ ॥

उस की (महादेव की) जय हो जो कामदेव के प्रति प्रेम के

सो वो सुहाइँ उवणेउ विअड-तइअच्छि-पेल्लिअं जस्स ।
णिवसइ सीसम्मि ससि-च्छलेण णिअअं पिव णडालं ॥ ३१ ॥
कढ्ढिअ-कुसुम-रउक्कर-कडार-चाव-च्छलेण सो जअइ ।
अहिधाविऊण गिलिओ व्व जस्स तइअच्छिणा कामो ॥ ३२ ॥
मउडुच्छंग-परिग्गह-मिअंक-जोण्हावभासिणो णमह ।
णिच्चं चिअ पसुवइणो परिट्ठिअं वामण-च्छाअं ॥ ३३ ॥
केयूरोरअ-सुंकार-संकुले वाण-भुअ-वण-च्छेआ ।
सो जअइ सणीसासे व्व वहइ जो अमरिसा बाहू ॥ ख ॥

कारण तृतीय नेत्र की अग्नि में कूदने के लिए उद्यत चन्द्रमा को अपनी जटाओं में बाँधकर रखे हैं ।। ३० ।।

वह महादेव आपको सुख दें जिनका ललाट तृतीय नेत्र के द्वारा अपसारित हो जाने के कारण अभी भी चन्द्रमा के रूप में सिर पर निवास करता है ।। ३१ ।।

कुसुमरज से कपिस चाप के रूप में जिसकी तीसरी आँख ने दौड़ कर मानो काम को निगल लिया उस महादेव की जय हो[1] ।।३२।।

सिरस्थ चन्द्रमा की ज्योत्स्ना पड़ने से जिनके शरीर की छाया छोटी हो गयी है (नित्यरूप से) यानी सदैव के लिए ऐसे पशुपति महादेव की छोटी छाया को नमस्कार करो ।। ३३ ।।

वाण की भुजाओं रूपी वन के छेदन के कारण जो मानो अमर्ष से निःश्वासें लेती हुई फुफकारते हुए उरग रूपी केयूर से वेष्टित भुजाओं को धारण करता है उस शिव की जय हो ।। ख ।।

---

१. कवि की कल्पना है कि कामदह के प्रसंग में कामदेव ने महादेव के ऊपर सरसंधान करना चाहा । इस कार्य में उसने अपने धनुष की प्रत्यंचा को कान तक खींचा । उसके वाण फूलों के हैं अतः उसका चाप दण्ड पराग से कपिस हो गया । यह मण्डलाकार कपिस चाप दण्ड मानों भगवान् शिव का तीसरा नेत्र है जो शिव के ललाट से कूदकर काम के पास आ गया है और उसे निगल रहा है ।

उद्धं अंधअ-रिउणो णअणं पज्जलिअ-तारअं णमह ।
उक्करिसिअ-पडिचक्कं व चक्किणो बाणभंगम्मि ॥ ग ॥
जमिअ-सिहंडस्स वि विसहरेण हत्थो पिणाइणो जअइ ।
लंबि-जडा-भास-फणा-रअण-मऊहेसु घोलंतो ॥ घ ॥
कुविआइ चलण-पणओ रहसुक्खित्त-मउली हरो जअइ ।
सीस-ट्ठिअ-बंभ-कवाल-फंस-संकाएँ व उमाए ॥ ङ ॥
तं पणमह अज्ज वि वहइ तिवहआ-वीइ-भंभ-कुडिलाइं ।
जस्स जडा-वंध-णिवेस-विसमिआइं व सलिलाइं ॥ च ॥
जअइ जडा-संजमणं पसुवइणो जलहि-महण-विरमम्मि ।
सिढिलेण सेल-णिहसण-किलंत-वच्छेण वामण-च्छाअं ॥ ३४ ॥
पत्थारोसण-तरलिअ-करंगुली-मलिअ-तंबिर-णडालं ।
पडिसिद्ध-तइअ-णअणुग्गमं व णमिमो हर-किराअं ॥ ३५ ॥

अन्धक रिपु (शिव) के उन्मेषित और प्रज्वलित तारक तृतीय नेत्र को नमस्कार करो मानो वाण के भंग होने पर उन्होंने चक्री (विष्णु) के विरुद्ध अपना प्रतिचक्र निकाला हो ॥ ग ॥

जटाजूट को समेटे हुए पिनाकी (शिव) के हाथ की जय हो जो कि विषधर के फण की मणि की किरणों के कारण (कपिस वर्ण) जटा में लिपटा हुआ-सा लगता है ॥ घ ॥

कुपित उमा के चरण पर प्रणत और शीर्षस्थ ब्रह्मकपाल के स्पर्श से शंकित, सम्भ्रमित उमा के द्वारा उठा लिये गये शीश वाले शिव की जय हो ॥ ङ ॥

उसको नमस्कार करो जो आज भी गंगा की तरंग-भंग से कुटिल सलिल के समान उच्चावच जटाबन्ध को धारण किये हुए हैं ॥ च ॥

समुद्र मन्थन के बाद पर्वत से वक्षस्थल के घिस जाने के कारण शिथिल शरीर वासुकी के द्वारा महादेव जो अपनी जटाओं को बाँध रहे हैं उस बाँधने की क्रिया की जय हो ॥ ३४ ॥

किरातरूपधारी शंकर को हम नमस्कार करते हैं। जो पार्थ

सो जअइ झत्ति-कवलिअ-विसस्स कंठम्मि जस्स णिव्वडिआ ।
खण-दिण्णुव्वत्त-कअंत-पास-णिहसोवमा रेहा ॥ ३६ ॥
तं पणमह जो सीसाओ कह वि ल्हसिअ-ट्ठिअं समुव्वहइ ।
अज्ज वि कुसुमीकअ-केसवच्छि-वत्तं व तइअच्छि ॥ ३७ ॥
उवरि-ट्ठिअ-चंदालोअ-पुंजिआ जअइ कंट-मूलम्मि ।
सीस-च्छाय व्व विस-प्पहामई थाणुणो रेहा ॥ ३८ ॥

के प्रति (कृत्रिम) रोष के कारण अपने तरलित (खिन्न) ललाट को अपनी उँगलियों से बार-बार पोंछते हैं मानों तीसरी आँख को हठात् खुल जाने से रोक रहे हैं ॥ ३५ ॥

उस महादेव की जय हो जो विष को निगल जाने के कारण कण्ठ के ऊपर काली रेखा धारण किये हुए हैं। मानों यम ने अपना फाँस उनके कण्ठ में डाला और फिर तुरन्त निकाल भी लिया जिससे की फाँस की रगड़ से पड़ी काली रेखा वहाँ रह गयी ॥ ३६ ॥

उस (महादेव) को प्रणाम करो जो कि ललाट से किसी कारण तीसरी आँख के लुप्त हो जाने पर केशव द्वारा अर्पित अक्षिपत्र को अभी भी तृतीय नेत्र के रूप में धारण किये हुए हैं[1] ॥ ३७ ॥

महादेव के कण्ठ की उस काली रेखा की जय हो जो मानो कि ऊपर में स्थित चन्द्रमा का आलोक पड़ने से मुख की पुंजीभूत छाया के समान है ॥ ३८ ॥

---

१. कभी केशव (कृष्ण) महादेव की पूजा कर रहे थे उनकी परीक्षा लेने के लिए महादेव ने अपनी तीसरी आँख लुप्त कर ली। तदन्तर केशव ने अपनी आँख निकालकर महादेव को अर्पित कर दी। राम की शक्ति-पूजा में भी ऐसी कथा आयी है कि राम ने एक सौ एक कमलों से देवी की पूजा का संकल्प किया था। देवी ने अपनी माया से एक कमल को लुप्त कर दिया किन्तु गिनती पूरी करने के लिए राम ने एक कमल के स्थान पर कमलनयन ही अर्पित करना चाहा। इस तरह देवी द्वारा ली गयी परीक्षा में खरे उतरे। कृष्ण विषयक उक्त कथा की इस कथा से समानता है।

देहद्धद्ध-परिट्ठिअ-गोरि-हराराहणेक्क-हिअअं व ।
खंडत्तणेण पणमह परिट्ठिअं तिणअण-मिअंकं ॥ ३९ ॥
तं णमह जस्स मुह-घडिअ-ससि-अला-सुत्तिणा चिरं पीआ ।
सीसम्मि सअण्हेण व सुर-सरि-धारा कवालेण ॥ ४० ॥
घोलिर-कडार-तारं णडाल-णअणं पिणाइणो णमह ।
अज्ज वि खआहुईकअ-जलंत-बंभंड पिंडं व ॥ ४१ ॥
तं णगह कुलं पिव जस्स सुलह-संभावणं परिहरंतो ।
अज्ज वि बाणमणंगो णो मुअइ भया कुमारम्मि ॥ ४२ ॥
सा जअइ णेउरिल्लेण जीऍ चलणेण ताढिअ-क्खंधो ।
उब्भिण्ण-रुहिर-कुसुमो जाओ महिसासुरासोओ ॥ ४३ ॥

त्रिनेत्र के शिरोवस्थित खण्ड चन्द्रमा को नमस्कार करो। शिव के अर्द्धांग में गौरी के रहने से और हर गौरी दोनों की उपासना में एकाग्र चित्त रहने के कारण जो खण्डित (क्षीण) हो गया है ॥ ३९ ॥

उस महादेव को नमस्कार करो जिसने सिर पर स्थित कपाल रूपी मुख से चन्द्रकला रूपी सुक्ति (सीप) के द्वारा सतृष्ण भाव से सुरसरि की धारा को पी लिया ॥ ४० ॥

महादेव के ललाटस्थित तृतीय नेत्र को नमस्कार करो जिसमें कि लाल रंग की रेखाएँ पड़ी हुई हैं मानो कल्पान्त में आहुतिकृत ब्रह्माण्ड अभी भी उसमें दह्यमान हो ॥ ४१ ॥

उस महादेव को नमस्कार करो जिनके कुल के प्रति भी आशंका भय से आज भी कामदेव कुमार कार्तिकेय के ऊपर अपना वाण नहीं चलाता है। [वह जानता है कि इनकी उत्पत्ति महादेव से हुई है अतः इनमें भी महादेव के गुण की सम्भावना है फलतः वह डरता है] ॥ ४२ ॥

उस देवी दुर्गा की जय हो जिसके नूपुरयुक्त चरण से ताडित स्कन्ध वाला महिषासुर रूपी अशोक वृक्ष रक्त के फव्वारों रूपी पुष्प से लद गया है ॥ ४३ ॥

पढम-हरालिंगण-लज्जिआएँ अज्ञाएँ वो सुहं देंतु ।
कंठ-प्पहावलंबण-थोअ-त्थामाइँ अच्छीइं ॥ ४४ ॥

भमिअं पलय-पओसे विविह-कवालम्मि णमह कालीए ।
मिलिआसेस-णिसा-लक्ख-विसम-बहु-चंद-खंडे व्व ॥ ४५ ॥

डिंबं वो चामुंडाएँ पिहु-सिरा-दंड-मंडणं हरउ ।
मडहोअर-णपहुप्पंत-वलअ-भरिअं पिव सरीरं ॥ ४६ ॥

सा जअइ चउ-मुहासण-तामरस-दलोअरेसु दुल्ललिआ ।
कइ-जीहा-णिवहेसु अ जा णिमिअ-पअं परिब्भमइ ॥ ४७ ॥

तं णमह जस्स दीसइ विंबं विच्छाअ-लंछण-च्छायं ।
गंगा-णिग्गम-परिगलिअ-मज्झ-लावण्ण-तुच्छं व ॥ ४८ ॥

महादेव के द्वारा प्रथम आलिंगन के अवसर पर पार्वती की महादेव के कण्ठ की कालिमा से लगी हुई उन्मीलित झुकी हुई आँखें आपको सुख दें ॥ ४४ ॥

काली के शरीर पर आभूषण भूत विविध कपालों को नमस्कार करो जो मानो प्रलय रात्रि में एकत्र चन्द्रमा की विविध कलाएँ हैं ॥ ४५ ॥

उभरी शिराओं से मंडित चामुण्डा का शरीर आपके भय को दूर करे । ऐसा प्रतीत होता है कि उदर की क्षीणता के कारण उदर की त्रिवली सारे शरीर में व्याप्त हो गयी है ॥ ४६ ॥

उस सरस्वती की जय हो जो ब्रह्मा के आसन स्वरूप कमल के दलों पर क्रीड़ा करने के कारण इस तरह दुर्ललित हो गयी है कि आज भी कवियों की जिह्वाओं पर पैर रखकर भ्रमण करती है।४७।

उस चन्द्रमा को नमस्कार करो जिसका बिम्ब अभी भी लांछन के कारण आभाहीन दिखलाई देता है। गंगा के निर्गम के कारण मानो उसका मध्यभाग का लावण्य बह गया है ॥ ४८ ॥

वेरुलिअ-णिहा तं णमह जस्स ते संदणं परिवहंति ।
तद्दिअस-पढम-पेल्लिअ-तम-मइलंगा इव तुरंगा ॥ ४९ ॥

जअइ जअ-रक्खणे पुंजिअं व जं फुरइ पअणुअं रविणो ।
पलयम्मि जं च पविरल्लिअं व बहलाइ गो-जालं ॥ ५० ॥

तं णमह कोल तुलणे सअल-फणा-मणि-पसत्त-पडिबिंबं ।
उव्वहइ व जो बहु-सिर-विहत्त-लहुअं धरा-वलयं ॥ ५१ ॥

पणमह कालिंदी-सलिल-दंड-घडिअं व सुर-सरि-प्पवहं ।
दंत-क्खंभं वीसंत-विअड-हत्थं गअ-मुहस्स ॥ ५२ ॥

तं णमह गअ-मुहं विअड-दंत-कर-दंड-कलण-लीलासु ।
मिलिअ-हिमवंत-विंज्झे व्व कुणइ जो मेरु-पब्भारे ॥ ५३ ॥

उस सूर्य को नमस्कार करो जिसके रथ को वैदूर्य के समान हरित शरीर वाले घोड़े खींचते हैं मानो दिवस के प्रारम्भ में तम को हटाकर आगे बढ़ने के कारण घोड़ों का शरीर मलिन हो गया हो ॥ ४९ ॥

सूर्य की उन किरणों की जय हो जो संसार के संरक्षण में प्रतनु (विरल) होकर फैलती हैं और प्रलयकाल में प्रचुर हो जाती हैं ॥ ५० ॥

उस वराह रूपधारी (सूकर रूपधारी) भगवान् विष्णु को नमस्कार करो जिन्होंने शेष के फणामणियों में प्रतिबिम्बित हो जाने के कारण लघुभूत हल्की धरा को धारण किया । [कवि की कल्पना है कि शेष के सहस्र फणों में बँट जाने के कारण पृथ्वी का भार हल्का हो गया है] ॥ ५१ ॥

गजमुख या गणेश के उस एक दन्त को प्रणाम करो जो उनकी विकट सूंढ़ के बगल में अवस्थित होने के कारण ऐसा प्रतीत होता हैं कि यमुना के साथ गंगा की धारा हो ॥ ५२ ॥

उस गजमुख गणेश को नमस्कार करो, जिनके विकट दन्त और सूंढ़ का परस्पर क्रीडा में संलग्न है मानो की मेरू तलहटी में हिमवान् और विंध्य परस्पर क्रीडारत हैं ॥ ५३ ॥

गण-वइणो सइ-संगअ-गोरी-हर-पेम्म-राअ-विलिअस्स ।
दंतो वाम-मुहद्धंत-पुंजिओ जअइ हासो व्व ॥ ५४ ॥

णमह दणुएंद-णिहणे माआ-महु-सूअणं उवेंतीए ।
माणिअ-तरलत्तण-विब्भमाइँ भमिआइँ लच्छीए ॥ ५५ ॥

हत्थालंबिअ-पंकअ-मिअंकमुअहीओ णिग्गअं जअइ ।
आसंघिअ-णिअ-आणण-सोहग्ग-गुणाएँ व सिरीए ॥ ५६ ॥

कोसुम-धणु-बाण-ग्गह-सोरह-लग्ग-भमरे व्व कामस्स ।
ओप्पुंसिअ-रइ-पणअंसु-कज्जलंके करे णमह ॥ ५७ ॥

मुख के वामार्द्ध में स्थित गणपति का एक ही दाँत जय को प्राप्त करता है मानो हर और गौरी का अर्द्धनारीश्वर रूप में सदैव साथ रहने के कारण व्रीडित गणपति का वह एक दन्त पुंजित हास हो। [यहाँ कवि की कल्पना है कि माता और पिता ने सदैव संयुक्तावस्था (प्रसन्न) रहने के कारण क्रीडावश मुंह को घुमाकर मुंह के वामार्द्ध से ही हँसते हैं] ॥ ५४ ॥

दनुजेन्द्र (हिरण्याकश्यप) के निधन पर नृसिहरूप विष्णु के पास जाती हुई मानिनी लक्ष्मी के विभ्रान्त भ्रमण की तरलता को नमस्कार करो ॥ ५५ ॥

उस लक्ष्मी की जय हो जो एक हाथ में चन्द्रमा और दूसरे हाथ में पंकज लिए हुए समुद्र से निकली मानो चन्द्रमा और पंकज दोनों को एकत्र दिखाकार उन्होंने अपने मुख की सुन्दरतमता की स्थापना की हो ॥ ५६ ॥

कामदेव के उन हाथों को नमस्कार करो जिनमें कि रति के प्रणय-कोप जनित आँसू पोछने के कारण काजल लग गया है और जो कुसुमवाणों को हाथ लगाने के कारण पराग से युक्त होने के कारण भौरों के द्वारा सेवित हों ऐसा प्रतीत होता हैं ॥ ५७ ॥

देउ सुहं वो पसु-वइ-सिराहि गोरी-विसूरिअव्वेहिं ।
सोवालंभ व्व हिमालअंक-परिघोलिरी गंगा ॥ ५८ ॥

सा जअइ हर-सिरत्थम्मि जीएँ सालिलम्मि घोलिर-कवालो ।
अज्ज वि पिआमहत्तमणहं चउराणणो वहइ ॥ ५९ ॥

हरि-चलण-णह-प्पहाए विच्छोलिअं व पढमअं ।
हर ससिणो पाअएहिं संवलिअअं व वीअअं ॥ ६० ॥

गहिअ-हिम-च्छाअअं व तुहिणद्दि-समावडणए ।
कारण-परिसुद्धअं व गंगाएँ णमह सलिलअं ॥ ६१ ॥

वह गंगा आपको सुख दे जो गौरी के (सपत्नोचित) व्यवहार से खिन्न होकर महादेव के सिर पर से उतरकर अपने पिता हिमवान् की गोद में गिरती है । मानों सपत्नी की शिकायत करने पिता के पास चली गयी हो ॥ ५८ ॥

उस गंगा की जय हो जिसके जल में पितामह ब्रह्मा का कपाल (हर के द्वारा काटे गये पंचम सिर का भाग) आज भी घूर्णमान (घूम रहा है) है । जिससे कि ब्रह्मा आज भी अपना अनघ पिता-महत्व प्रमाणित कर रहे हैं ॥ ५९ ॥

उस निर्मल गंगाजल को नमस्कार करो जिसका सर्वप्रथम हरि चरण नख की उज्ज्वल प्रभा से दीप्त हुआ फिर जो हर सिरस्थ चन्द्रमा की किरणों से उज्ज्वल हुआ फिर जिसने हिमवान् पर गिरने के कारण धवल हिम की प्रभा ग्रहण की । इस तरह से कारण की शुद्धता से जो स्वयं भी शुद्ध या निर्मल है ऐसे गंगाजल को नमस्कार करो ॥ ६०–६१ ॥



अथ कविप्रशंसा

इह ते जअंति कइणो जअमिणमो जाण सअल-परिणामं ।
वाआसु ठिअं दीसइ आमोअ-घणं व तुच्छं व ॥ ६२ ॥

णिअआएँच्चिअ वाआएँ अत्तणो गारवं णिवेसंता ।
जे एंति पसंसंच्चिअ जअंति इह ते महा-कइणो ॥ ६३ ॥

दोग्गच्चम्मि वि सोक्खाइँ ताण विहवे वि होंति दुक्खाइं ।
कव्व-परमत्थ-रसिआइँ जाण जाअंति हिअआइं ॥ ६४ ॥

उम्मिल्लइ लायण्णं पअअ-च्छाआएँ सक्कअ-वआणं ।
सक्कअ-सक्कारुक्करिसणेण पअअस्स वि पहावो ॥ ६५ ॥

ठिअमट्ठिअं व दीसइ अठिअं पि परिट्ठिअं व पडिहाइ ।
जह-संठिअं च दीसइ सुकईण इमाओ पयइओ ॥ ६६ ॥

विविध परिणामों वाला संसार जिनकी वाणी में (कदाचित्) अतिआनन्ददायक और कदाचित् तुच्छ (नीरस) दृष्टिगोचर होता है ॥ ६२ ॥

संसार में उन महाकवियों की जय होती है जो अपनी वाणी के द्वारा ही अपने गौरव की प्रतिष्ठा करके प्रशंसा को प्राप्त करते हैं ॥ ६३ ॥

जिनके हृदय काव्य के परमार्थ का रसास्वादन करते हैं उन्हें दुर्गति में भी सुख का अनुभव और वैभव में भी दुःख का अनुभव होता है ॥ ६४ ॥

संस्कृत काव्य की शोभा भी प्राकृत की छाया पड़ने से (अर्थात् प्राकृत के समिश्रण से) बढ़ जाती है। संस्कृत में संस्कार के उत्कर्ष से प्राकृत का भी प्रभाव होता है ॥ ६५ ॥

जो स्थित है वह अस्थित के समान दीखता है जो अस्थित है वह परिष्ठित की भाँति प्रतिभासित होता है। इस तरह से कवियों का ऐसा प्रभाव है कि उनकी कृति में सब कुछ उनके द्वारा ही यथा संस्थित होता है ॥ ६६ ॥

विणअ-गुणो दंडाडंबरो अ मंडंति जह णरिंद-सिरिं ।
तह टंकारो महुरत्तणं अ वाअं पसाहेंति ॥ ६७ ॥
सोहेइ सुहावेइ अ उवहुज्जंतो लवो वि लच्छीए ।
देवी सरस्सई उण असमग्गा किं पि विणडेइ ॥ ६८ ॥
महुमह-विअअ-पउत्ता वाआ कह णाम मउलउ इमम्मि ।
पढम-कुसुमाहि तलिणं पच्छा-कुसुमं वण-लआण ॥ ६९ ॥
लग्गिहिइ ण वा सुअणे वयणिज्जं दुज्जणेहिँ भण्णंतं ।
ताण पुण तं सुअणाववाअ-दोसेण संघडइ ॥ ७० ॥
पर-गुण-परिहार-परंपराएँ तह ते गुणण्णुआ जाआ ।
जाआ तेहिं चिअ जह गुणेहिँ गुणिणो परं पिसुणा ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार विनय का गुण और दण्ड का आडम्बर नृपति की श्री का मण्डन करते हैं उसी प्रकार टंकार और मधुरत्व कवि की वाणी का प्रसाधन करते हैं ॥ ६७ ॥

लव मात्र को भी लक्ष्मी का उपभोग करने वाला शोभायमान होता है सुख प्राप्त करता है। किन्तु असमग्र (अपूर्ण रहने पर) होने पर देवी सरस्वती तो केवल बिडम्बना का ही लाभ कराती है। [अर्थात् सरस्वती से सुख तभी प्राप्त होता है जब पूर्ण मनोयोग से उसकी पूर्ण सेवा की जाए किन्तु लक्ष्मी की क्षण मात्र की गयी सेवा भी सुख देती है] ॥ ६८ ॥

मेरा यह यत्न है कि मधुमथ विजय नामक मेरे काव्य में काव्यत्व (मुकुल रूप से) अप्रस्फुटित है वह इसमें (गौडवध में) कैसे पूर्ण रूप से प्रस्फुटित होवे ॥ ६९ ॥

दुर्जनों के द्वारा की गयी निन्दा सज्जनों को लगे या न भी लगे किन्तु दुर्जनों को तो सज्जन की निन्दा करने का दोष लग ही जाता है ॥ ७० ॥

वे पिसुण (चुगलखोर) दूसरे के गुणों का परिहार करने के क्रम में इतने गुणज्ञ हो गये कि गुणियों के उन्हीं गुणों के कारण पिसुण भी गुणवान हो गए ॥ ७१ ॥

जं णिम्मला वि खिज्जंति हंत विमलेहिँ सज्जण-गुणेहिं ।
तं सरिसं ससि-अर-कारणाएँ करि-दंत-विअणाए ॥ ७२ ॥
जाण असमेहिँ विहिआ जाअइ णिंदा समा सलाहा वि ।
णिंदा वि तेहिँ विहिआ ण ताण मण्णे किलामेइ ॥ ७३ ॥
णंदंतु णिअअ-गुण-गारवम्मि अदिट्ठ-पर-मुह-च्छाआ ।
गरुआ स-सील-दोलाअमाण-पर-दिट्ठ-मुह-राआ ॥ ७४ ॥
बहुओ सामण्ण-मइत्तणेण ताणं परिग्गहे लोओ ।
कामं गआ पसिद्धिं सामण्ण-कई अआ च्चेअ ॥ ७५ ॥
सुअण-सहावे वि गओ जडम्मि कत्तो गुणो समुल्लसइ ।
रविणो वि जलम्मि ठिअं पडिबिंबमहोमुहं फुरइ ॥ छ ॥

दुखद है कि निर्मल जन भी सज्जनों के विमल गुणों के कारण खेद (ईर्ष्या) पाते हैं यह वैसे ही है जैसे चन्द्रमा की विमल किरणों से हाथी के दाँतो में वेदना हो जाय ॥ ७२ ॥

जिन सज्जनों के लिए दुर्जनों के द्वारा की गयी निन्दा भी श्लाघा के समान हो जाती है उनके लिए निन्दा भी ठीक ही है क्योंकि मैं ऐसा मानता हूँ कि निन्दा से उन्हें कोई क्लेश नहीं होता ॥ ७३ ॥

सज्जन लोग अन्यों (दुर्जनों) के मुखों की (मलिन) छाया बिना देखे हुए प्रसन्न होवें और अन्यों के मुख की मलिन छाया को देखकर वे और भी प्रसन्न होवें क्योंकि उनके शील के गौरव के कारण दुर्जनों के मुख का रंग मलिन हो जाता है ॥ ७४ ॥

सामान्य मतित्व के कारण सामान्य कवि के प्रशंसक संसार में बहुत से हो जाते हैं इसलिए सामान्य कवियों ने प्रसिद्धि प्राप्त कर ली है ॥ ७५ ॥

जब सुजन का स्वभाव भी जड़ता को प्राप्त कर ले तो फिर गुण का समुल्लास कहाँ होगा, रवि के जल में स्थित हो जाने से प्रतिबिम्ब का स्फुरण तो अधोमुख ही होगा ॥ छ ॥

हरइ अणू वि पर-गुणो गरुअम्मि वि णिअ-गुणे ण संतोसो ।
सीलस्स विवेअस्स अ सारमिणं एत्तिअं चेअ ॥ ७६ ॥
इअरे वि फुरंति गुणा गुरूण पढमं कउत्तमासंगा ।
अग्गे सेलग्ग-गआ इंदु-मऊहा इव महीए ॥ ७७ ॥
णिव्वाडंताण सियं सअलं चिअ सिवअरं तहा ताण ।
णिव्वडइ किं पि जह ते वि अप्पणा विम्हअमुवेंति ॥ ७८ ॥
पासम्मि अहंकारी होहिइ कह वा गुणाण विवरुक्खे ।
गव्वं ण गुणि-गअ-मओ गुणत्थमिच्छंति गुण कामा ॥ ७९ ॥
अहिलंघिऊण लोअं ठिआण एक्कत्तणेण गरुआण ।
बीआवेक्खी अवलंबिऊण कं मच्छरो फुरउ ॥ ८० ॥

शील और विवेक का सार इतना ही है कि (शीलवान् और विवेकी) व्यक्ति दूसरे के अनुप्रमाणगुण को भी ग्रहण करता है और अपने गुण के गौरव में भी सन्तोष नहीं करता है ॥ ७६ ॥

पहले श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा ग्रहण किये जाने के बाद गुण इतरों के द्वारा भी ग्रहण किये जाते हैं जैसे कि शैल शिखर के द्वारा ग्रहण किये जाने के बाद चन्द्रकिरणें पृथ्वी के द्वारा भी ग्रहण की जाती हैं ॥ ७७ ॥

शिव (कल्याण) की प्राप्ति के प्रयत्न के क्रम में शिवतर की प्राप्ति होती है। इसमें कुछ ऐसा हो जाता है कि (प्रयत्नकर्त्ता को) स्वयं भी विस्मय होता है ॥ ७८ ॥

यदि पास में गुण है तो व्यक्ति अहंकारी होगा ही। गुण न होने पर अहंकारी (स्वाभिमानी) कैसे होगा। गर्व करना गुण से सम्बन्धित मद नहीं है। गुण की कामना करने वाले गुण रूपी अर्थ की ही इच्छा करते हैं ॥ ७९ ॥

लोक का अभिलंघन (लांघकरके) करके जो अनन्यतम भाव से स्थित है और जिसका कोई स्पर्धी नहीं है वहाँ पर भला मत्सर या मात्सर्य किसका अवलम्बन करके स्फुटित होवेगा [अर्थात् वहाँ पर मात्सर्य का स्फुरण नहीं होगा।] ॥ ८० ॥

णिअ-मइ-संदेहोच्चिअ मइ-संदेहावलोअणे जाण ।
होंति विआर-ट्ठाणं ठिअ-रूआ ते ण लोअस्स ॥ ८१ ॥

तुच्छा-सुहेण विज्जाएँ मच्छराडंबरो खल-अणस्स ।
दुक्खेण सज्जणाणं हियउक्कंपी समिज्जंति ॥ ज ॥

सुकई`·····'भेसु जाण परिसंठिआइँ णामाइं ।
णिअअ-णिबंधेसु अ ताण णणु समत्तं च काअद्धं ॥ झ ॥

पाणमइआओ जाणं धरंति कव्वेसु वण्ण-मालाओ ।
···भावा जीअस्स ते जिअंतिच्चिअ मआ वि ॥ ञ ॥

किं रतुसमारूढ-गुणाण जीविअं लद्ध-पिसुण-भावं व्व ।
तेहिं पसंसिज्जंतो वि जं गुणी णेअ पत्तिइअइ ॥ ट ॥

सा जअइ मई गुरुआ गमण-पडिबोह-कारणा······ ।
पडिबोह-संकमा जा सअं व पडिवज्जइ सरूवं ॥ ठ ॥

(दूसरे की) मति के सन्देह की आलोचना में जिन्हें अपनी मति के प्रति ही सन्देह हो जाता है ऐसे लोग लोक में स्वस्थ विचार के अधिष्ठाता नहीं हो सकते ॥ ८१ ॥

विद्या के तुच्छ सुख से भी खलों का मात्सर्य प्रकट हो जाता है किन्तु सज्जनों के हृदय की अस्थिता दुःख (विद्या का दुःख) से भी शमित होती है ॥ ज ॥

सुकवियों में जिनका नाम प्रतिष्ठित हो गया है उन्होने मानों अपनी कृति के प्रयत्न में आधा काम पूरा ही कर लिया है ॥ झ ॥

जिनके काव्य में प्राणमय (ध्वनिमय) वर्णमाला रहती है वे मृत होने पर भी मानो जीवित ही हैं ॥ ञ ॥

ऐसे जीवन से क्या, जो कि गुणों के प्रति पिसुण भाव रखता है अगर ये प्रशंसा भी करेंगे तो गुणियों को प्रत्यय नहीं होगा ॥ ट ॥

उस गुर्वी मति की जय हो जो स्वसंवेदन का कारण है । प्रतिबोध के संक्रमण से जो अपने स्वरूप को प्राप्त करता है ॥ ठ ॥

जो अप्पणाण सारं पेच्छइ अण्णस्स सो वि पीहेइ ।
पडिवज्जइ जो वि पराआ सो वि······ओत्तेआ ॥ ड ॥
गुणिणा अहमा अ ठिआण णवर ताणं च दो च्चिअ विसेसा ।
सो वि अहमोच्चिअ कओ मज्झिम-संभावणा जस्स ॥ ढ ॥
को णिंदइ णीअअमे गरुअअरे को पसंसिउं तरइ ।
सामण्णंच्चिअ ठाणं थुईण परिणिंदिआणं च ॥ ८२ ॥
सोऊण मुणंति परं जे ण विअप्पंति अप्पणच्चेअ ।
ते अणरह व्व गव्वस्स उत्तुणा कह ण लज्जंति ॥ ८३ ॥
काल-गुणा पढम-कईहिँ भमिअमपरिग्गहेसु मग्गेसु ।
इहरा मईहिँ हीरंति दुक्करं के वि काणं पि ॥ ८४ ॥
कत्तो णाम णइट्ठं सच्चं कवि-सेविएसु मग्गेसु ।
सीमंते उण मुकम्मि तम्मि सव्वं णवं चेअ ॥ ८५ ॥

जो अपना सार देखता है वह पर का भी सार देखता है। दूसरे से जिसका सम्पादन होता है वह भी ······ ॥ ड ॥

गुणी और अधम के एक स्थान पर होने से ऐसा होता है कि वे भी अधम हो जाते हैं जिनके कि मध्यम होने की सम्भावना है ॥ ढ ॥

नीचतम की निन्दा कौन करेगा और गुरूतर की प्रशंसा करने में कौन समर्थ होगा (अर्थात् कोई नहीं) स्तुति और निन्दा के पात्र सामान्य ही होते हैं ॥ ८२ ॥

जो सुनकर जानते हैं और स्वयं विचार नहीं कर सकते ऐसे लोग गौरव के पात्र नहीं हैं वे भला लज्जित क्यों नहीं होते हैं ॥ ८३ ॥

काल क्रम में आदि होने के कारण प्रारम्भिक कवियों ने अन्यों के द्वारा अपरिग्रहीत मार्गों (शैलियों) में भ्रमण किया किन्तु बाद के कवि तो सामान्यों के लिए किसी के दुष्कर अर्थ का भी (पूर्व के कवियों से) हरण कर लेते हैं ॥ ८४ ॥

कवि सेवित मार्गों में से बहुतों ने नये अर्थ को नहीं देखा है यह बात सत्य है क्योंकि सीमान्त को छोड़ करके शेष में सब कुछ नया ही नया है ॥ ८५ ॥

जडबुद्धीण पहुप्पइ मइलो गुण-णिग्गमो ण मणुयाण ।
णीलं ण णहं सा णायणस्स तेअस्स विणिवित्ती ॥ ण ॥
अत्थालोअण-तरला इअर-कईणं भमंति बुद्धीओ ।
अत्थच्चेअ णिरारंभमेंति हिअअं कइंदाण ॥ ८६ ॥
आ-संसारं कइ-पुंगवेहिँ तद्दिअह-गहिअ-सारो वि ।
अज्ज वि अभिण्ण-मुद्दो व्व जअइ वाआ-परिप्फंदो ॥ ८७ ॥
किं अण्णमण्ण-मणेहिँ ताव सु-कईहिँ सिक्खिआ वाआ ।
जाअं णीसामण्णाण ताण मूअत्तणं जाव ॥ ८८ ॥
को व विआरेइ विसेस-वित्थरं ताण जं ठिअं लोए ।
णामेच्चिअ संकंता गरुआण गुणा फुरंति व्व ॥ ८९ ॥
जाण सरूवावगमे वि गव्विआ किंपि होंति अण्णे वि ।
ते आआसाअ वहंति अत्तणो णवर माहप्पं ॥ ९० ॥

जड़-बुद्धि वाले व्यक्तियों के लिये (अच्छे) गुण भी मलिन प्रतिभासित होते हैं । नभ नीला नहीं है फिर भी प्रकाश के परिवर्तन के कारण वह नीला दिखलाई पड़ता है ।। ण ।।

इतर कवियों की बुद्धि अर्थ की खोज में इधर-उधर परिभ्रमण करती रहती है किन्तु श्रेष्ठ कवियों के हृदय में अनायास अर्थ स्वयं ही आ जाते हैं ।। ८६ ।।

वाणी के उस परिस्पन्द की जय हो जो संसार के आदि काल से ही कवि पुंगवों के द्वारा सार रूप से ग्रहीत होने पर भी आज तक ऐसा है मानों इसकी मुद्रा ही कहीं टूटी हो ।। ८७ ।।

काव्यात्मक वाणी और क्या कहा जाये सुकवियों ने परस्पर की ऐसी शिक्षा दी कि जो निःसामान्य हैं (जिन्हें कवित्व गुण नहीं है) वे मूकता को प्राप्त हो गये ।। ८८ ।।

उनके ऊपर विशेष विस्तार से कौन विचार करे जिन कवियों का नाम मात्र लेने से उनका गौरव आप से आप प्रकट हो जाता है ।८९।

जिनके स्वरूप को जान करके अन्य भी गौरवान्वित होते हैं । वे अपनी महत्ता को भी वहन करने में अभ्यास कर ही अनुभव करते हैं ।

मोह-पडिबोह-कारित्तणेण तिमिरं व जं पआसो व्व ।
तं जअइ विरुद्धं पिव विअप्प-जालं कइंदाण ॥ ९१ ॥
णवमत्थ-दंसणं संणिवेस-सिसिराओ बंध रिद्धीओ ।
अविरलमिणमो आ-भुवण-बंधमिह णवर पअअम्मि ॥ ९२ ॥
जे सुण्णा इव बहुसो कहिं पि दीसंत-विरल-गुण-सारा ।
दर-वसिअ-पुराआरेहिँ तेहिँ किं वा णिबंधेहिं ॥ त ॥
णिम्माआ तेच्चिअ णवर कव्व-कित्तीओ जाण लोअस्स ।
कण्णे विसंति हिअए वसंति पसरंति अ मुहम्मि ॥ थ ॥
दो च्चिअ णवरं हिअए लग्गंति जहा-णिवेस-रमणिज्जा ।
रमणीओ वल्लहाणं महा-कईणं च भणिईओ ॥ द ॥
सअलाओ इमं वाआ विसंति एत्तो अ णेंति वाआओ ।
एंति समुद्दं चिअ णेंति साअराओच्चिअ जलाइं ॥ ९३ ॥

कविन्द्रों के ऐसे परस्पर विरोधी उस कल्पना-जाल की जय हो जिसमें कि मोह और प्रतिबोध के कारण तिमिर भी है और प्रकाश भी है ॥ ९१ ॥

जिस प्राकृत साहित्य में नया अर्थ दर्शन है, सन्निवेश (स्थापना) की मधुरता है और छन्दों की रिद्धि है मानो कि उसने पूरे भुवन को ही समेट लिया है ॥ ९२ ॥

ऐसे कवियों से क्या जो कि अधिकांशतः शून्य ही हैं कदाचित् कोई गुण उनमें दिख जाता है और कोई सम्मान भी उन्हें मिल जाता है ॥ त ॥

काव्य के सच्चे निर्माता तो वे ही हैं जिनकी कीर्ति सदैव लोक के कानों में प्रवेश करती है, हृदय में निवास करती है, मुख से उसका प्रसार होता है ॥ थ ॥

ये दोनों जब हृदय से लगतो हैं तो रमणीयता की अनुभूति होती है एक तो वल्लभा रमणियाँ और दूसरी महाकवियों की उक्तियाँ ॥ द ॥

इस प्राकृत वाणी में सभी प्रवेश करती हैं और सभी वाणी इसी

हरिस-विसेसो विअसावओ अ मउलावओ अ अच्छीण ।
इह बहिहुत्तो अंतो-मुहो अ हिअअस्स विप्फुरइ ॥ ९४ ॥
अणुअंपा वा हासो व होइ अवहीरण व्व गरुआण ।
इअरेसु अणाअ-गुणंतरेसु ण उणो हिअअ-दुक्खं ॥ ९५ ॥
जे अत्तणो ण अहिआ सरिसा वा तेहिँ किं भणंतेहिं ।
जह-तह पराओ इच्छंति तह वि गरुआ वि बहुमाणं ॥ ९६ ॥
होंतु व्व विगअ-गव्वा माहप्प-समुत्तुणव्व विअरंतु ।
जह-तह णिव्वडिअ-गुणा हास-ट्ठाणं ण लोअस्स ॥ ९७ ॥
भीअं व लज्जिअं पि व थंभिअमिव किं पि होइ सुढिअं व ।
दूमिअमिव अप्फुण्णं व पहरिसुच्चं व इह हिअअं ॥ ९८ ॥

से निकलती हैं (जिस तरह से कि) जल समुद्र से निकलकर समुद्र में ही जाता है ॥ ९३ ॥

हृदय का अन्तर्मुख या बहिर्मुख हर्ष विशेष :आँखों को विकसित और मुकुलित करने वाला इसी प्राकृत भाषा के माध्यम से विस्फुरित होता है ॥ ९४ ॥

उनके प्रति जो कि (प्राकृत साहित्य के) गुणों के प्रति अनभिज्ञ रहे हैं दया आ सकती है, हँसी आ सकती है और यह भी भाव आ सकता है कि वे महा कवियों के निन्दक हैं किन्तु इससे कभी कोई हार्दिक दुःख नहीं हो सकता ॥ ९५ ॥

जो न अपने (कवि के) सदृश हैं और न बढ़कर ही हैं ऐसे लोगों के बोलने (निन्दा करने) से क्या। तथापि यह अपेक्षित है कि अन्य लोग महाकवियों का सम्मान करें ॥ ९६ ॥

चाहे वे विगत गर्व होवें या गर्व युक्त होकर लोक में विचरण करें जैसे भी हो वे गुण सम्पन्न हैं और लोक के लिए परिहास के पात्र नहीं हो सकते ॥ ९७ ॥

(काव्य प्रारम्भ करने के समय) कवि का हृदय कुछ डरा सा, कुछ लज्जित सा, कुछ स्तम्भित सा, कुछ श्रान्त सा, कुछ दुर्मन सा, कुछ अपूर्ण सा और कुछ खेद से खिन्न होते हुए भी प्रहर्ष से समुन्नत रहता है ॥ ९८ ॥

अथ काव्यमारभ्यते ।

अत्थि णिअत्तिअ-णीसेस-भुवण-दुरिआहिणंदिअ-महिंदो ।
सिरि-जसवम्मो त्ति दिसा-पडिलग्ग-गुणो महीणाहो ॥ ९९ ॥
घोलइ समुच्छलंती जम्मि चलंतम्मि रेणु-भावेण ।
वसुहा अमुक्क-सेस-प्फण व्व धवलाअवत्तेसु ॥ १०० ॥
वेहव्व-दुक्ख-विहलाण जस्स रिउ-कामिणीण पम्मुक्का ।
कर-ताडण-भीएहिँ व हारेहिँ पओहरुच्छंगा ॥ ध ॥
कबरी-बंधा अज्ज वि कुडिला ते जस्स वेरि-बंदीण ।
हढ-कड्ढण-खुत्तंगुलि-णिवेस-मग्ग व्व दीसंति ॥ न ॥
चलिअम्मि जम्मि विअणा-विहुअ-फणा-मंडलो वि णो मुअइ ।
महि-वेढं बल-भर-खुत्त-रअण-संदाणिअं सेसो ॥ १०१ ॥

वहाँ पृथ्वीपति राजा यशोवर्मा शासन करते हैं जिन्होंने संसार से समस्त पापों का क्षय करके देवराज इन्द्र को प्रसन्न किया है जिससे उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त में फैली हुई है ॥ ९९ ॥

जिसके युद्ध के लिए प्रयाण करने पर वसुधा उठती हुई रेणू से (अर्थात् रेणु में परिणत होकर) चलायमान हो जाती थी फिर भी धवल आतपत्र के रूप में शेष फण को छोड़ती नहीं थी ॥ १०० ॥

जिसके रिपु की स्त्रियाँ वैधव्य से विह्वल हो गयीं और उनके हारों ने मानों कर ताड़न (छाती पीटने) के भय से उनके पयोधरों का उत्संग छोड़ दिया ॥ ध ॥

आज भी जिनके शत्रुओं के कबरीबन्ध कुटिल हैं मानो हठ पूर्वक खींचे जाने से उँगलियों के चिह्न बता रहे हैं ॥ न ॥

सेना के पद-भार से आक्रान्त होते हुये भी शेषनाग पृथ्वी को नहीं त्याग सके क्योंकि उनके शीश पर ही पृथ्वी मणि से शृङ्खलित हो गई ॥ १०१ ॥

णीसंदइ जस्स रणाइरेसु कीलालिओ गअ-मएण ।
आहअ-चम्माणल-दर-विराअ-धारो व्व कर-वालो ॥ १०२ ॥
सेवंजलि-मिलिअ-णडाल-मंडला होंति हढ-पणामेसु ।
णूमिअ-भिउडी-भंग व्व जस्स पडिवक्ख सामंता ॥ १०३ ॥
जो ववसाआवसरेसु दप्प-दर-दिट्ठ-दाहिणंस-अडो ।
दंसण-पसाअ सुहिअं कुणइ च्व भुअ-ट्ठिअं लच्छि ॥ १०४ ॥
कोउव्वत्त-ठिअ-विसम-तार-पहा-भेअ-कलुसिआइं व ।
सामाअंति णडालाइँ जस्स पडिवक्ख-वंदीण ॥ १०५ ॥
पासम्मि पआवालुंखिअस्स जस-पाअवस्स व महल्लो ।
अअसो रिऊणं दीसइ छाआ-णिवहो व्व संकंतो ॥ १०६ ॥
गंभीर-महारंभा संभाविअ-साअरं परिब्भमइ ।

यशोवर्मा की तलवार शत्रु-दल तथा उनके गजों पर वार करती थी और उनके मस्तक की रक्तधारा में सनी हुई वह इस प्रकार दिखती थी मानों तप्त लोहे से अँगार-स्फुलिंग निकल रहे हों ।१०२।

जिसके सामन्त तथा शत्रुगण अपनी भृकुटी भंगिमा को ढके हुए हाथ को जोड़कर उसके समक्ष अभिवादन हेतु विवश रहा करते हैं ॥ १०३ ॥

जो शौर्य के अवसरों पर स्वाभिमान पूर्वक अपने विशाल दायें कन्धे को देखा करता है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि भुजा पर विराजमान राजलक्ष्मी की प्रसन्नता हेतु उसे अपना दर्शन दे रहा है ॥ १०४ ॥

बन्दी बनाई गई शत्रु की स्त्रियों के ललाट पर कालिमा फैल गयी मानों यशोवर्मा की क्रोध से जलती हुई आँख की पुतलियों के भय से भग्न-कीर्ति होकर विवर्ण हो गई हों ॥ १०५ ॥

महान् प्रताप के कारण उसके यशोवृक्ष के समीप ही उसके शत्रुओं का अयश, छाया की भाँति बिखरा पड़ा दीखता है ॥१०६॥

उसकी वाणी विश्वविदित गम्भीर तथा महत्कार्य के आरम्भ से अन्त तक उसी प्रकार ओजस्विनी थी जैसे गंगा हिमालय से प्रारम्भ

सुवणंतरेसु भाईरहि व्व सा भारही जस्स ॥ १०७ ॥
जस्स अ वलंत-जअ-गअ-सीअर-धारा-सहस्स-लुलिआओ ।
संभम संचारिअ-चामराओ धावंति व दिसाओ ॥ १०८ ॥
अवि अ ।
सोहइ विणिवेसिअ-पसिढिलंगुली-कोडि–कट्टणुत्थल्लो ।
पाअडि अब्भंतर-वण-णिवेस-दर-दंतुरो अहरो ॥ १०९ ॥
मुचंति पेल्लिउव्वेल्ल-केसरा मूल-लुलिअ-मअरंदा ।
णिहुअं लीला-कुवलअ-पडित्थिआ कह वि णीसासा ॥ ११० ॥
वाम-कराअड्ढिअ-सुण्ण-मलिअ-विक्खित्त-कुंतल-सिहाण ।

होकर पृथ्वी मंडल को सींचती हुई सागर तक वेग से जाती हैं ॥ १०७ ॥

जिस राजा यशोवर्मा की सेवा में दशों दिशाएँ, जो उसके सहस्रों बली तथा विजयी हाथियों से सहस्रधाराओं के छिड़काव से अस्त-व्यस्त एवं उद्वेलित हो उठी थी, मानो ससंभ्रमिता-सी वेग से चँवर डुलाने के लिए आ जाती ॥ १०८ ॥

और भी :—

[इन पाँच पदों में कवि स्वर्ग की रमणियों की राजा के प्रति हुई प्रतिक्रियाओं का काल्पनिक वर्णन प्रस्तुत करता है कि] कोई अपूर्व सुन्दरी जब अपनी उँगली से धीरे से अधरोष्ठ को पलटती है तो उस पर अंकित दन्तक्षत अत्यन्त मनोहर प्रतीत होता है। राजा यशोवर्मा का युद्ध कौशल सुनकर कामिनियाँ उसके साथ विहार सुख की कल्पना कर रहीं हैं ॥ १०९ ॥

अपनी इस इच्छापूर्ति की आशा न देखकर वे कामिनियाँ रह-रहकर निःश्वास लेती हैं जो उनके हाथ में पड़े हुए लीला कमल पर लगती रहती हैं जिससे कमल का मकरन्द नीचे गिर पड़ता है ॥ ११० ॥

[राजा यशोवर्मा की प्रेमपात्रा न बन पाने तथा उसके साथ विहार न कर पाने के कारण] निराशा और घोर विषाद में वे

अरई-विलास-विसुराविआण णिव्वडइ सोहग्गं ॥ १११ ॥

अग्घइ मंगल-गहिएक्क-कुसुम-पेसिअ-पसाहणामेलं ।
विमुह-णअणावहीरिअ-दर-वंदिअ-चंदणं वअणं ॥ १११ ॥

इअ जस्स समर-दंसण-लीला-णिम्मविअ-वम्मह-विआरा ।
तिअस-तरुणीओ अज्जवि मण्णे णिहुअं किलम्मंति ॥ ११३ ॥

अहवा ।

सिहर-णपहुत्त-गअणा दिसा-पडिप्फलिअ-कडअ-विणिअत्ता ।
डज्झंति दरुप्पइआ अलद्ध-गमणंतरा गिरिणो ॥ ११४ ॥

तं स-गुहा-मुह-णिव्वडिअ-धूम-वलआवलंबिअ-णिअंबा ।
वज्जाणल-धम्मंता लोहं व मुअंति धरणि-हरा ॥ ११५ ॥

सुन्दरियाँ अपने बायें हाथ से अपनी घुंघराली लटें नोचने लगती हैं, उन्हें दबाती तथा छितराती रहती हैं ॥ १११ ॥

उन युवतियों के शृङ्गार हेतु दासियाँ चन्दन, पुष्प तथा हार आदि ले आती हैं परन्तु उन्हें इस दशा में शृङ्गार अच्छा नहीं लगता है और वे एकाध पुष्प लेकर शेष सारी अलंकरण सामग्री लौटा देती हैं। इसी प्रकार विमुख नेत्र से वे किसी प्रकार चन्दन का लेप करा लेती हैं ॥ ११२ ॥

इस प्रकार राजा यशोवर्मा की कामना देवलोक की अंगनाएँ आज भी करती हैं क्योंकि युद्धक्षेत्र में उसके पौरुष का प्रताप तथा उसका रणकौशल उनके लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है और वे उसे हृदय से चाहती हैं ॥ ११३ ॥

पर्वत गगन में भी अपनी चोटियों के लिए स्थान नहीं पा सके तब उन्होंने विभिन्न दिशाओं में स्थान चाहा किन्तु अपनी श्रेणियो के पूर्व से ही फैले रहने के कारण उन्हें उधर भी प्रसार का अवसर न मिला तब कहीं स्थान नहीं रहने के कारण वे थोड़ा ऊपर को ओर उठे और जलने लगे ॥ ११४ ॥

उन पर्वतों की गुफायें धुएँ से भर गयीं और वह धुआँ गुफाओं के मुख से निकलकर निम्नभाग की ओर फैलने लगा। (कवि के

लक्खिज्जइ धूमाअंत-पक्ख-णिक्खंत-सिहि-सिहा-णिवहो ।
संभम-संचलिअ-चलंत-रअणि-दिअसो व्व सुर-सेलो ॥ ११६ ॥
जेसुंचिअ कुंठिज्जइ रहसुब्भिडण-मुहलो महि-हरेसु ।
तेसुंचेअ णिसिज्जइ पडिरोहंदोलिरो कुलिसो ॥ ११७ ॥
वेल्लंति कंदरोअर-णिव्वडिअ-वलंत-विअड-विहआओ ।
सहसव्व सेल-सीमंतिणीओ भअ-मुक्क-गब्भाओ ॥ ११८ ॥
विज्झवइ वेल्लणोणअ-महि-वेढोभअ-दिसागअ-समुद्दो ।
ठाण-परिसंठिओच्चिअ पक्ख-च्छेआणलं सेलो ॥ ११९ ॥
तद्दियसं-रवि-मंडल-सज्झलणुम्हाअमाण-कडएण ।
उअयाचलेण कुलिसो मिलिओ वि चिरेण विण्णाओ ॥ १२० ॥

अनुसार) वज्र के स्फुलिंग उन पर्वतों से लौह खण्ड की भाँति गिरते दृष्टिगोचर हो रहे थे ।। ११५ ।।

पक्ष कटे हुए सुमेरू पर्वत अग्नि की ज्वाला और धुयें से आवृत मानो घबराकर दिन और रात दोनों चलायमान उस पर्वत से लिपट गये हों ।। ११६ ।।

पर्वतों के पंख काटने से वज्र की धार कुन्द हो गयी और जब पर्वत पंखहीन होकर प्रतिरोध में नीचे-ऊपर झूलने लगे तो वज्र की धार उन्हीं का घर्षण पाकर तीक्ष्ण हो गई ।। ११७ ।।

पर्वत-पत्नियाँ अत्यधिक भय से गर्भगलिता हो गई क्योंकि पर्वतों की हलचल से कन्दराओं से पक्षिगण निकल भागने पर भी तुरन्त फिर उन्ही में उड़कर पहुँच गये ।। ११८ ।।

वज्र से पंख कट जाने से पर्वतों में आग लग गयी और वे जहाँ भी थे वहाँ से सीधे पृथ्वी पर गिर पड़े। पृथ्वी के दबाव के कारण खोह की भाँति धँस गई तथा समुद्र के आलोडन से आग बुझ गयी ।। ११९ ।।

उदयाचल के भी पंख कटे थे परन्तु नित्यप्रति सूर्य की उष्मा तप्त हुए अपने उन पंखों का पता उस विचारे को पर्याप्त समय बाद ही लगा ।। १२० ।।

डज्झंति विसाणल-वाअ-विसहरामुक्क-चंदण-क्खंधा ।
तिअस-विअसाविअंसुअ-सेविअ-धूमा मलअ-वक्खा ॥ १२१ ॥

णिसुढिअ-पक्ख-पडंता महीएँ दल-विब्भमेण भज्जंति ।
तक्खण-तरल-पलाअंत-विसहरा महिहरुग्घाआ ॥ १२२ ॥

कहवि धरेइ महि-अलं णिप्पक्ख-पडंत-गिरि-णिसुंभंतं ।
दाढा-भिण्ण-ससोणिअ-मुह-णिवहारोसिओ सेसो ॥ १२३ ॥

दीसइ जलंत-सेलं तावोसारिअ-वलंत-सुर-लोअं ।
धूमुप्पित्थ-पिआमह-कमलालि-करंबिअं गअणं ॥ १२४ ॥

गब्भालसाओ व पुणो कह वि गुहा-लिहक्क-पोय-गरुईओ ।
पावंति भआ सेलंगणाओ गअणंगणुद्देसं ॥ १२५ ॥

मलयानल के चारों ओर चन्दन वृक्ष विषानल से जलने लगे जिनसे चन्दन की सुगन्ध चारों ओर छिटकी और देवगण उस नैसर्गिक सुरभि का आनन्द लेने लगे ॥ १२१ ॥

बड़े-बड़े पर्वतों के पंख कटकर गिरने से पृथ्वी कुचल उठी और वे पर्वत शुष्क पत्र की भाँति छितरा गये उस समय विषैले सर्प हक-बकाकर जल्दी में इधर-उधर भागने लगे ॥ १२२ ॥

पर्वतों के गिरने से जो धमाका हुआ और पृथ्वी पर बोझ पड़ा उसे बड़ी कठिनाई से शेषनाग सँभाल सके इतना ही नहीं उनके सहस्रफण कुचल उठे और दातों से कट जाने के कारण मुख से रुधिर निकलने लगा ॥ १२३ ॥

पर्वतों के जलने से सारा आकाश ताप से भर गया जिससे देव-गण इधर-उधर पलायन करने लगे तथा पितामह जिस पद्म पर आसन लगाये बैठे थे उस पर इतनी धूम्रराशि छा गई कि उस पर रहने वाले भ्रमर पंक्तिबद्ध होकर आकाश में उड़ने लगे ॥ १२४ ॥

गिरि-पत्नियाँ गर्भभार से आक्रान्त भय से किसी प्रकार गगन की ओर पलायित हो रही हैं ॥ १२५ ॥

खण-तरलिअ-पक्ख-उडा कडार-विज्जु-च्छडा-सिहालंमि ।
सलहा इव्व अत्थाअंति पवि-पईवंमि धरणि-हरा ॥ १२६ ॥
थोआअंति व विरला दीहाअंति व्व खविअ-वित्थारा ।
तुंगाअंति व तणुआ पवि-खंडिअ-पेहुणा गिरयः ॥ १२७ ॥
सिढिल-पसारिअ-वक्खा घेप्पंति पहान्निएण कुलिसेण ।
दूरुप्पडिअ-णिवडिआ दर-पप्पुअ-णीसहा गिरिणो ॥ १२८ ॥
कुलिसो ताडेइ धरे धरा महिं कुलिस-खंडिअ-पण्डता ।
णिवडण्त-सेल-पहआ मही वि सेस-प्फणा-वलअं ॥ १२९ ॥
णिअ-धूम-कडुइआइं गिरि-जालाइं धुअ-पक्ख-पम्हाइं ।
फुट्टंति लोअणाइं व दिसाण मुक्कोज्झरंसूइं ॥ १३० ॥
जाआ दाह-विणिग्गअ-संखाआयस-सिला-अड-त्थउडा ।

पृथ्वी को धारण करने वाले ये पर्वत वज्राघात के कारण अपने जलते हुए पंखों से ऐसे प्रतीत हो रहे थे जैसे ज्वाला में पतंगे जल रहे हों ॥ १२६ ॥

पवि से खण्डित पक्ष वाले पर्वत विरल हो जाने के कारण अस्तोक (संख्या में कम), विस्तार क्षीण हो जाने के कारण दीर्घ और तनु हो जाने के कारण ऊँचे दिख रहे थे ॥ १२७ ॥

उनके प्रसारित पंख शिथिल हो गये थे इसलिए वज्र की पकड़ में सहजतया आ जाते थे। तदनन्तर वे ऊँचाई से गिरते हुए पुनः तनिक भी उछलने में सर्वथा असमर्थ लग रहे थे ॥ १२८ ॥

वज्र पर्वतों पर पड़ते थे। वज्राघात से कटे पंख वाले पर्वत नीचे गिरकर पृथ्वी को कुचल रहे थे और उनकी चपेट से त्रस्त धरा शेष-नाग के सहस्र फनों को पीस रही थी ॥ १२९ ॥

पर्वत जो अपने धुयें से कटुता का अनुभव कर रहे हैं और जिनके पक्ष्म रूपी (बरौनियों रूपी) पंख कट गये हैं मानों दिशाओं के आहत लोचन हैं जिनसे कि निर्झर रूपी अश्रु निकल रहे हों ॥१३०॥

ज्वलन की उष्णता से पर्वतों की कठोर तथा खुरदरी शिलायें

कुलिस-पडिच्छण-जोग्गा पच्छा कडआ महि-हराण ॥ १३१ ॥
दड्ढ-वण-राइ कलुसा तेच्चिअ सिहरोज्झरा सदुक्खाण ।
जाआ सकज्जला इव बाहोआरा गिरि-वहूण ॥ १३२ ॥
संखाअ-मसिण-पसरा पासुत्त-महा-भुअंग-सच्छाआ ।
दीसंति सेल-कडएसु दीहरा लोह-णीसंदा ॥ १३३ ॥
कुलिसाणल-पिंगलिओ उप्पअण-तलावसत्त-ससि-बिंबो ।
उक्खित्तामअ-कलसो गरुलो व्व गिरी परिब्भमइ ॥ १३४ ॥
सेल-णिअंबुप्पइआ वज्जाणल-सरिस-विज्जु-पिंजरिआ ।
लुअ-महि-हर-पक्ख-णिहा णहंमि घोलंति घण-णिवहा ॥१३५॥
दीसंति कुलिस-मिलिआ अंगाराअंत-कुसुम-फल-किसला ।
तिअस-मिहुणाणुसोइअ-संकेअ-लआ-हरा गिरिणो ॥ १३६ ॥

पहले तो तरल लौह की भाँति बह रहीं थीं। बाद में वे ठोस हो चलीं और वज्राघात सहने के योग्य हो गयीं ॥ १३१ ॥

शिखरों के झरनों से दग्ध वनस्पतियों के कारण काला जल बह रहा था जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो अत्यन्त दुःख के कारण पर्वत पत्नियों की आँखों के काजल में सने हुए आँसू बह रहे हो ॥ १३२ ॥

पर्वत चोटियों पर बड़े-बड़े लौह खण्ड झरने की भाँति बह रहे थे जो ठोस हो जाने पर ऐसे लगते थे मानो बड़े-बड़े सर्प सोए हों ॥

वज्राग्नि से लाल-पीले वर्ण वाले किसी पर्वत के नीचे पूर्ण चन्द्र इस प्रकार चमक रहा था मानो अमृत कलश अपने चंगुल में दबाए पक्षिराज गरुड़ उड़े जा रहे हों ॥ १३४ ॥

पर्वत की तलहटी में चारों ओर वज्रानल की भाँति विद्युच्छटा से युक्त मेघ आकाश में यत्र-तत्र इस प्रकार उड़ रहे थे मानो वे उन्हीं पर्वतों के कटे हुए पंख हों ॥ १३५ ॥

पर्वत कुलिस के आघात से अंगार समान कुसुम फल किसलय वाले दीख रहे हैं (इससे) देव मिथुन को संकेत लता ग्रह विषयक चिन्ता हो रही है ॥ १३६ ॥

वेअल्ल-वेल्लिराणं परिअत्तंता गिरीण कडएसु ।
सरिआ-मग्गा पावंति विअड-वण-वट्टअ-च्छाअं ॥ १३७ ॥
ओअरण-लालसेहिं गिरीसु दीसइ गुहा-विणितेहिं ।
पक्ख-च्छेओ व्व तड-ट्ठिएहिं वसुहा-वण-अरेहिं ॥ १३८ ॥
जलिउप्पइअ-वलंता अद्धेहिं णहंगणे विसट्टंति ।
अद्धेहिं मूल-गरुआ महीएँ णिवडंति गिरि-वक्खा ॥ १३९ ॥
उवरिं-धूम-णिवेसा मूलालग्ग-जलणाण दीसंति ।
हेट्ठालोउक्खित्ता छाआ-बंधा इव तरूण ॥ १४० ॥
परिलून-पेहुणस्स वि सुर-गिरिणो अणह-वक्ख-संकाए ।
घडिओ पुणो वि कुलिसो जालासु णिअंब-वित्रिअडासु ॥ १४१ ॥
णिअ-सामत्थेणंचिअ ण तहा वेएण णिठ्ठुर-प्पहरो ।

उन पर्वतों के उपत्यका प्रदेश में घूर्णमान नदियों के मार्ग को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों वे वज्र से आहत पर्वतों के घावों की पट्टियाँ हों ॥ १३७ ॥

पंख विहीन पर्वतों की चोटियों पर वन्यपशु इधर-उधर इस प्रकार विचरण कर रहे थे मानो वे उन पर्वतों की गुफाओं से निकल कर पृथ्वी पर पहुँचने के लिए आतुर हो रहे हों ॥ १३८ ॥

वज्राघात से कटे हुए, जलते हुए, आकाश में यत्र-तत्र लुढ़कते-लुढ़कते नीचे की ओर मुड़े गिरि पंख पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ १३९ ॥

वृक्षों के मूलभाग में आग लग जाने से उसका धूम्र उनके ऊपर छा गया था जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो निम्न भाग की ज्वालाग्नि की छाया हो ॥ १४० ॥

वज्र ने स्वर्गशैल सुमेरू के जलते हुए शिखरों पर एक बार पुनः इस दुविधा के कारण प्रहार किया कि अभी इसके पंख कटे ही नहीं यद्यपि वे पूर्वमेव कट चुके थे ॥ १४१ ॥

सच तो यह था कि वज्र ने अपनी अमोघ शक्ति का इतने प्रबल वेग से कभी भी प्रहार नहीं किया था जितनी प्रचण्डता से इस समय

अण्ण-गिरि-पक्ख-पहओ जह छिंदइ महि-हरं कुलिसो ॥१४२॥

महि-हर-वडणुच्छलिआ भमंति पसरिअ-मणि-प्पहा-वलआ ।
सेल व्व जलिअ-वक्खा गअणंमि समुद्द-कल्लोला ॥ १४३ ॥

उप्पिअ-तिअस-विसाओ णिक्खमइ चिरेण दाह-कअ-विवरो ।
कुविअ-गिरि-पक्ख-संपुड-संपीडिअ-णिप्फुरो वज्जो ॥ १४४ ॥

असमप्पमाण-दीहर-मूलोआरे समुद्द-पडिए वि ।
णह-दूर-ट्ठिअ-सिहरे णो मुअइ मही-हरे कुलिसो ॥ १४५ ॥

एक्को उण धरणि-हरो अदिट्ठ-णिअंब-मूल-सिहरग्गो ।
ल्हिक्को दूरुच्छलिए जलहिंमि व जलहि-कल्लोले ॥ १४६ ॥

वह जब एक पर्वत पर आघात करता था तो उसके कटे हुए पंख दूसरे पर्वत पर टकरा जाते थे ॥ १४२ ॥

पंख विहीन पर्वत जिस समय सागर में गिरते थे उस समय उसमें भयंकर विक्षोभ उत्पन्न हो जाता था और उसके अन्तस्तल की मणिराशि उत्ताल तरंगों के साथ ऊपर आकर ऐसा दृश्य उपस्थित करती थी मानों सागर की ऊँची लहरें उन पर्वतों का रूप धारण किए हों जो इस समय जल रहे थे ॥ १४३ ॥

पर्याप्त समय के अनन्तर वह वज्र पर्वतों की ओर से वापस हुआ । उस समय उसे अग्नि-ज्वाला में देखकर देवगण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे क्योंकि पर्वतों के पंख काटते-काटते इस समय वज्र की सहज कान्ति का लोप हो चुका था ॥ १४४ ॥

वज्र ने उन पर्वतों को नहीं छोड़ा जो बिचारे भयाक्रान्त होकर समुद्र में कूद पड़े थे । वे बड़ी तेजी से बचने के लिए समुद्र में कूदे फिर भी वे इतने ऊँचे थे कि उनकी चोटियाँ इस समय भी आकाश में सिर उठाये हुए थीं ॥ १४५ ॥

केवल एक पर्वत अपनी रक्षा करने में सफल हो गया क्योंकि सागर की भयंकर उत्ताल तरंगों के मध्य उस पर्वत के तल, आधार तथा शिखर का अस्तित्व छिप गया था ॥ १४६ ॥

रहसा रसा-अलोअर-विसाल-कंदर-दरी-पलोट्टंतो ।
णज्जइ गिरी ण जलहिं जलहिच्चिअ महि-हरं विसइ ॥ १४७ ॥
गिरि-लुलिओअहि-विहुआ संभंत-दिसेभ-ताडिअ-क्खंधा ।
वेवइ विअणा-वेल्लंत-महि-हरंदोलिआ वसुहा ॥ १४८ ॥
अपत्ता वि समुद्दं समुद्द-परिरक्खिअ व्व वोलंति ।
वेअ-समुच्छलिअ-णिअंब-सिंधु-परिणूमिआ गिरिणो ॥ १४९ ॥
णिवडंत-सिला-छव्विअ-परितलिणाअंत-मूल-वित्थारो ।
वोच्छिण्ण-मंथर-सिहो विरलाअइ धूम-संघाओ ॥ १५० ॥
उप्पइअ-रेणु-णिवहा संवेल्लिअ-विअड-कंदर-च्छेआ ।
वेअ पडण-भिण्णा पत्ता लहुअत्तणं गिरिणो ॥ १५१ ॥

इस दृश्य को देखकर कोई भी अनुमान लगा सकता है कि वस्तुतः पर्वत समुद्र में नहीं वरन् समुद्र ही हड़बड़ी में पर्वत के अन्दर प्रवेश कर गया है इसीलिए भीषण बाढ़ के कारण उसकी घाटियों तथा कन्दराओं में रसातल से भी अधिक जलप्रवाह हो चला था ॥ १४७ ॥

पर्वतों के गिरने से आन्दोलित सागर ने वसुधा पर भूकम्प उत्पन्न कर दिया, दशोंदिशाओं के दिग्गजों ने उसके स्कन्धों को ताड़ित किया और पंख कटे पर्वतों के गिरने से इस समय वह क्षुब्ध थी ॥ १४८ ॥

उपत्यका में वेग के कारण समुच्छलति नदियों से आच्छादित होने के कारण पर्वत जो अभी समुद्र तक पहुँच भी नहीं पाये थे समुद्र से आवृत से (घिरे हुए से) चले जा रहे थे ॥ १४९ ॥

इस समय घने धूमका ह्रास हो चला था क्योंकि टूटकर गिरती हुई चट्टानों ने इस धूम्रराशि को ढक लिया तथा अग्नि ज्वाला भी मन्द हो गई ॥ १५० ॥

पंखविहीन वे सभी पर्वत इस समय धूल-धूसरित हो रहे थे और उनकी घाटियाँ तथा कन्दराएँ हिल रहीं थी तथा वे पर्वत टुकड़े-टुकड़े होकर पृथ्वी पर गिरने से हल्के हो गए थे ॥ १५१ ॥

एक्कत्तो सल्लाअंत-वज्ज-धारा-कणा किलिम्मंति ।
अण्णत्तो कडओसहि-पहाव-रूढ-व्वणा गिरिणो ॥ १५२ ॥

कुलिसो ण दीसइच्चिअ एक्कंमिच्चिअ गिरिंमि मुज्झंतो ।
एक्कं व सेल-सिहरं अट्टइ कुलिसंमि गिरि-जालं ॥ १५३ ॥

पक्ख-उड-कूड-पुंजिअ-कप्पंतर-दिप्पमाण-हव्ववहा ।
पलएच्चिअ विज्झाआ समुद्द-भर-पूरिआ गिरिणो ॥ १५४ ॥

णीसह-विमुक्क-कायत्तणेण वोच्छिण्ण-पक्ख-लहुअं पि ।
तंचिअ भुअंग-वइणो जाअं गरुअं व गिरि-जालं ॥ १५५ ॥

विहडिअ-वसुहा दलिअद्दि-मंडला दूर-विद्दुअ-समुद्दा ।
थिइ-लालसेण हरिणा णीआ पलयंचिअ तिलोई ॥ १५६ ॥

एक ओर वज्र की तीव्रधार से कटने पर उनके घाव उन्हें क्लेश दे रहे हैं दूसरी ओर जो घाव बन गये थे वे उनके ऊपर उगने वाली वनौषधियों के प्रभाव से ठीक हो रहे थे ॥ १५२ ॥

वज्र के प्रहार से एक भी पर्वत नहीं बच पाया और सारे पर्वत अग्नि में झुलस कर एक ही शिखर का रूप धारण कर चुके थे ॥ १५३ ॥

विश्व-प्रलय की भयंकर ज्वाला की भाँति पर्वतों के जलते हुए पंखों की अग्नि कल्पान्त के समय सागर की बाढ़ के जल से ही शान्त हो पाई थी ॥ १५४ ॥

पंख कट जाने से यद्यपि उन पर्वतों का भार इस समय हल्का हो गया था तथापि शेषनाग के लिए उनका यह भार और अधिक बढ़ गया था क्योंकि वे लाचार होकर अपने सारे बोझ के साथ पृथ्वी पर गिर गये थे ॥ १५५ ॥

पर्वतों के गिरने से पृथ्वी विघटित हो गयी, पर्वत मण्डल दलित हो गया, समुद्र पीछे हट गया, स्थिति की इच्छा से इन्द्र ने प्रलय उत्पन्न की ॥ १५६ ॥

आमुअइच्चिअ जीअं गिरि-मिहुणं णिव्वुएहिँ अंगेहिं ।
पज्जलिअ-पक्ख-संपुड-संपाडिअ-सिसिर-परिरंभं ॥ १५७ ॥
भय-विहडिआण जाओ लुअ-पक्खुद्देस-णिवडिअ-थिराण ।
अह णिरवसाण-दुसहो कुडुंब-विरहो महि-हराण ॥ १५८ ॥
कढिण-गिरि-वक्ख-लूडण-विहडिअ-धारत्तणेण सुर-वइणो ।
आरुहइ काय-लहुओ पेसण-गरुओ करं कुलिसो ॥ १५९ ॥
इअ जेण खुडिअ-वक्खा गिरिणो वि समंजसत्तणे ठविआ ।
एक्कासण-संमाणं सो वि हरी मण्णए जस्स ॥ १६० ॥
अवि अ ।
चिहुरावीलण-पडिलग्ग-ण्हाण-घुसिणारुणंसुय-सुअंधो ।

एक पर्वत-दम्पति इस समय मृत हो जाने पर पूर्ण सन्तोष के साथ शीतलता में ही आलिंगन पाश में बँध गया क्योंकि पंख कट जाने से उन्हें उष्णता भी नहीं मिल पाई ॥ १५७ ॥

इस समय पर्वतों के परिवार के समक्ष असह्य तथा अनन्त वियोग का कुअवसर आ गया था जो बिचारे पंख कट जाने से जहाँ गिरे उसी स्थान पर जम गये थे ॥ १५८ ॥

वह वज्र जो इस समय आकारतः हल्का किन्तु कार्य पूर्ण हो जाने से भारी हो चुका था, पुनः इन्द्र के हाथ में आ गया परन्तु पर्वतों के खुरदरे पंखों को काटने से उसकी तीक्ष्णधार सर्वथा नष्ट हो चुकी थी ॥ १५९ ॥

हमारे सम्राट् यशोवर्मा इस प्रकार बलशाली हैं कि उनके पार्श्व में वे इन्द्र भी आसनस्थ होने में गौरव का अनुभव करते हैं जिन्होंने पर्वतों के पंख काटकर उनका मान मर्दन किया था ॥ १६० ॥

[निम्नलिखित कुलक के ६ पदों में कवि ने सम्राट् यशोवर्मा की उस सरोवर क्रीडा का वर्णन किया है जिसमें वह शत्रुओं के सरोवर में राज्य की वारांगनाओं के साथ केलि करता है] ।

गुलाबी रेशमी वस्त्रों में वे वारांगनायें अतीत सुन्दर लग रही

अग्घइ मंगल-गहिएक्क-कुसुम-दामुज्जलो वेसो ॥ १६१ ॥

दर-चक्खिअ-मइरा-मअ-पविरल-संवज्झमाण सेअ-लवं ।
सोहइ मंथर-णित्थाम-लुलिअ-णअणुप्पलं वअणं ॥ १६२ ॥

सोहइ जलद्दासंदाण-विसम-मासलिअ-चंदण-च्छेओ ।
संकंत-पाडलामोअ-सुरहि-सिसिरो थणाहोणो ॥ १६३ ॥

घोलइ महु-रस-विच्छुरिअ-मालई-मउल-कोमलाअंबा ।
णिद्धोअंजण-रमणिज्ज-पम्ह-मूलुज्जला दिट्ठी ॥ १६४ ॥

विक्खिरिअ-चिहुर-मंजरि-सिहा-परिक्खलिअ-जल-लवालिद्धं ।
णिव्वाइ मउलिओणविअ-णह-चुडुप्पंकुरं जहणं ॥ १६५ ॥

इअ जस्स गिम्ह-दिवसावसाण-णिम्माअ-मज्जण-रसाहिं ।
लीला-वावीसु रिऊण संठिअं वार-विलआहिं ॥ १६६ ॥

थीं तथा उन वस्त्रों में सुगन्ध भरी हुई थी। उनके घुँघराले केश पुष्प हार से सजे हुए थे ॥ १६१ ॥

थोड़ी-सी मदिरा के आस्वादन से उनकी मुखश्री अत्यन्त मनोहर दिख रही थी तथा उनके अलसाये नयनारविन्द अत्यधिक शोभायमान थे ॥ १६२ ॥

पाटल पुष्प की सुगन्ध से संयुक्त तथा चन्दन-लेप से उनके विस्तृत स्तन युगल अत्यन्त आकर्षक लग रहे थे जो कंचुकी वस्त्र से कसकर बाँधे गये थे ॥ १६३ ॥

कोमल तथा मधुयुक्त मालती की कली के सदृश लाल-लाल और अंजन के धुल जाने से चमकती हुई स्वच्छ बरौनियों वाले उनके नेत्र चंचल थे ॥ १६४ ॥

चिकुर रूपी मंजरी की शिखा से गिरते हुए जल कणों से सिञ्चित किया जा रहा है जिसके नखक्षत रूपी अंकुर वाला जघन विश्राम का अनुभव कर रहा है ॥ १६५ ॥

इस प्रकार सम्राट् यशोवर्मा ग्रीष्मकाल में शत्रु के सरोवरों में उनकी वारांगनाओं के साथ जल विहार का आनन्द प्राप्त करता था ॥ १६६ ॥

किं च ।

विवर-समोसरिअ-विराअ-हेम-महि-हर-रस-प्पवाहेहिं ।
पाआलोआरिअ-पिहु-सिहो व्व पडिहाइ हव्व-वहो ॥ १६७ ॥
वण-देवआ-पसारिअ-कर-अल-संवलिअ-किसलअ-कलावो ।
डज्झइ धूम-तमंतरिअ-महुअरो तिअस-तरु-संडो ॥ १६८ ॥
पज्जलइ धूम-मंडल-णिह-विवलाअंत-लंछण-मअं व ।
णिव्वडिअ-फुलिंग-च्छल-संगलिअ-गहं व ससि-बिंबं ॥ १६९ ॥
भीसण-सरूव-परिसंठिअं व जलणाहअं पि पडिहाइ ।

[इसके अतिरिक्त कुलक के १५ पदों में कवि प्रलय-काल का अत्यन्त मनोहारी वर्णन प्रस्तुत करता है। प्रलय के समय विष्णु को छोड़कर सब समाप्त हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट् यशोवर्मा बालकृष्ण के सदृश हैं। इस प्रकार यह प्रलय सम्राट् की ही लीला है क्योंकि विश्वविनाश में अग्नि-वायु-जल का ही ताण्डव दिखाई देता है।]

स्वर्णशैल मेरू जलने लगता है और स्वर्ण गल-गल कर इस पर्वत की कन्दराओं से बहने लगता है। इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो पाताल लोक से अग्नि की लपटें उठकर ऊपर की ओर आ रही हों ॥ १६७ ॥

स्वर्ग के तरू-समूह जलने लगते हैं और मधुमक्खियाँ धूम्र के अंधेरे में उड़ने लगती हैं उस समय वन देवियाँ उन तरूओं के किसलय–पल्लवादि को बचाने के लिए अपनी हथेलियाँ लगा देती हैं ॥ १६८ ॥

चन्द्रमा मण्डल भी अग्नि ज्वाला से दग्ध हो उठता है उस समय उसका मृगाङ्क चक्कर काटते धूम्र समूह की भाँति इधर-उधर भागता दृष्टिगोचर होता है और ग्रह उड़ती हुई चिनगारी के समान गिरने लगते हैं ॥ १६९ ॥

ऐसा लगता था कि अग्नि की भीषणता से चीत्कार करता हुआ

वेआल-मंडलं मुहल-मुह-गुहा-घोलिरग्गि-सिहं ॥ १७० ॥
कर-कलिअ-खग्ग-लेहा-णिह-पढमुब्भिण्ण-धूम-लेहं व ।
डज्झइ मिहुणं विज्जा-हराण अविओअ-वीसत्थं ॥ १७१ ॥
जम-महिसो कवलिज्जइ जाला-संवेल्लिओ हुअ-वहेण ।
बंभंड-पडिप्फलिओणओ व्व णिअ-धूम-विच्छड्डो ॥ १७२ ॥
अमर-रमणी-विहुव्वंत-चामरुप्पंक-पवण-लोल-सिहो ।
भय-वेविरो व्व अल्लिअइ कहवि विबुहाहिवं जलणो ॥ १७३ ॥
फुडिअ-घण-वडल-पाअड-तडि-च्छडा-संड-णिविडिओ जलइ ।
रवि-बिंब-वलय-बद्ध-प्फलो व्व जलणो णह-अलंमि ॥ १७४ ॥
डज्झंति सरल-सुंकार-दूर-विक्खित्त-सिहि-सिहा-णिवहा ।
तंडविअ-फणा-मंडल-पिंडिअ-धूमुग्गमा फणिणो ॥ १७५ ॥

वेताल-मण्डल कन्दरा-सदृश मुख से अग्नि की लपटें निकलने लगे ॥ १७० ॥

अवियोग वाले विद्याधर दम्पति भी निकलते हुए धूम्र समूह में जलते हुए इस प्रकार दिख रहे थे मानों उनके हाथ में खड्ग की धार समा गई हो ॥ १७१ ॥

लपटों में घिरे हुए यमराज के भैंसे को अग्नि इस प्रकार निगल गई मानो वह प्रलय की स्थिति में विप्रदीप अवस्था में अपने धुयें को ही निगल लिया हो ॥ १७२ ॥

अमर रमणियों के द्वारा चलाये जा रहे चमरों की हवा से कंपित लपटों वाली अग्नि ने मानों भय से काँपते हुए किसी प्रकार देवराज इन्द्र को भी आधीन कर लिया ॥ १७३ ॥

अग्नि पूरे आकाश में व्याप्त हो गई और उसकी उष्णता से मेघों के फटने के कारण बिजली चमकने लगी। यह दृश्य देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो वह द्वादश आदित्यों का चक्र हो ॥१७४॥

सर्प इस भयंकर ज्वाला में जलने लगे और वे विचारे इससे बचने के लिए फूत्कार करते हुए अग्नि को भगाने लगे और धूमराशि उनके फनों पर छा गई ॥ १७५ ॥

उव्वहइ धूम-वलयं सेसो पट्ठि-परिसंठिउब्भेअं ।
देह-प्पहा-विआणं हरिणो व्व णिवेस-संकंतं ॥ १७६ ॥
जलण-सिहा-संभाविअ-सरीर-णिव्वावणा-णिमित्तं व ।
डज्झइ ससि-मंडल-कलस-दिण्ण-कंठ-ग्गहं मअणो ॥ १७७ ॥
रक्खा-भुअंगमुग्गिण्ण-विस-जलासार-विरलिउब्भेओ ।
अहिलेइ णिहि-ट्ठाणाइँ कहवि जलणो कुबेरस्स ॥ १७८ ॥
सोहइ वलंत-वासुइ-परिवेस-विढत्त-विअड-पडिबंधो ।
दर-सिढिल-हर-जडा-पुंज-पिंजरो सिहि-सिहा-णिवहो ॥ १७९ ॥
पडिहाइ जलण-जाला-पंजर-संजमण-पुंजिआवयवो ।
उप्पत्ति-दिअस-परिसंठिओ व्व तणओ ति-णयणस्स ॥ १८० ॥
इअ पलयाणल-कवलिअ-सुरंमि बंभंड-कुहर-कुंडंमि ।

शेषनाग ने चक्कर काटती इस धूम्रराशि को तम्बू की भाँति अपनी पीठ पर इस प्रकार धारण किया मानो उनकी शैय्या पर लेटे हुए विष्णु का रूप हो ॥ १७६ ॥

कामदेव भी इस ज्वाला से दग्ध हो उठे और इससे शरीर रक्षा हेतु शशिमण्डल को कलश को भाँति कण्ठ से लगाये हुए थे ताकि दाह से अपनी रक्षा कर सकें ॥ १७७ ॥

वह अग्नि ज्वाला किसी प्रकार कुबेर के कोष तक पहुँच गई और इसकी उष्णता कोष रक्षक सर्पों के विषवमन से भी नहीं शान्त हो पाई ॥ १७८ ॥

वह अग्निपुञ्ज विविध रूप में प्रज्वलित होकर जब वासुकिनाग के शरीर तक पहुँचा तो इस प्रकार भूरे रंग के हो उठे मानो वह शिव का किञ्चित शिथिल पिंगल जटा-जूट हो ॥ १७९ ॥

अग्नि के ज्वाला रूपी पिंजड़े में पड़ जाने से शिव तनय कार्तिकेय ने अपने अवयवों को समेट लिया और वे वैसे ही दिखने लगे जैसे जन्म के समय दिखते थे ॥ १८० ॥

ब्रह्माण्ड रूपी गम्भीर अग्नि कुण्ड में जब देवतागण प्रलयाग्नि में

लीला कंसारि-सरूव-धारिणो जस्स णिव्वडिआ ॥ १८१ ॥

अहवा ।

मणि-सबल-कुसुम-मालावबंध-पडिबद्ध-विब्भमा पढमं ।
जाआ धूमाहअ-वेणु-दंड-कविसा किणो वेणी ॥ १८२ ॥
किं णु हु कला-णिरंतर-मिअंक-पडिवक्ख-गंड-लेहं ते ।
दमणअ-सिहाहमहिसाम-धूसरं वअणमेत्ताहे ॥ १८३ ॥
धारा-हअ-धरणि कणावरुद्ध-णव-कंदली-सिहा-फरुसं ।
महुरमवगाढ-सोहं अ वहसि विसमारुणं अहरं ॥ १८४ ॥
एअं पवण-पराहीण-सरल-लवली-दलाहिलोलं ते ।
पेच्छामि असंगअ-मंगलाववअंसं सवण-वासं ॥ १८५ ॥

कवलित हो गये उस समय यशोवर्मा के कृत्य कंसारि कृष्ण की लीला के समान स्फुरित हुए ॥ १८१ ॥

[आगे के १० पदों में कवि ने शत्रुओं की विधवा पत्नियों के संत्रास का इस प्रकार वर्णन किया है मानो उनके मित्र प्रश्न कर रहे हों ।]

तुम सभी प्रायः अपनी केशराशि को पुष्पहार तथा विविध रत्नों से सजाया करती थीं परन्तु इस समय वही केश धूम्र-व्याप्त बाँस की छड़ी की भाँति भूरी क्यों हो गई है ? ॥ १८२ ॥

किसी समय तुम्हारी मुखच्छवि तथा कपोल पूर्णचन्द्र की भाँति दिखाई पड़ता था । इस समय वही दमनक तरू की भाँति मलिन तथा भूरा क्यों हो गया है ? ॥ १८३ ॥

तुम्हारे ओष्ठ जो किसी समय इतने मधुर तथा सुन्दर दिखते थे इस समय वही अधर उस कन्दल वृक्ष की भाँति क्यों खुरदुरा तथा भद्दा हो गया है जो वर्षा के कारण कर्दम लिप्त हो ॥ १८४ ॥

तुम्हारे आकर्षक कर्ण इस समय आभूषण विहीन होने के कारण उस लवली पत्र की भाँति कान्ति रहित हो गये हैं जो वायु के झोंके से मुरझा उठे हों ॥ १८५ ॥

सासअ-मिअंक-मणि-कलस-वेसमवसण्ण-हार-परिभोअं ।
णिरवसर-चंदण-रसं तं चिअ ते सुअणु थण-वट्टं ॥ १८६ ॥
सरस-पडिबोह-लंघिअ-कलंब-केसर-पिसंगमंगेसुं ।
लायण्णं चिर-णिम्माण-खिण्ण-कणअ-च्छविं वहइ ॥ १८७ ॥
उवमासु अपज्जत्तेह-कलह-दंतावहासमूरु-जुअं ।
तं चेअ मलिअ-बिस-दंड-विरसमालक्खिमो इण्हि ॥ १८८ ॥
हा किं णु अणव-कच्चूर-भंग-विच्छाअ-पाडले तरुणि ।
आवहसि इमे पडिवोह-कुंठ-कमलप्पहे चलणे ॥ १८९ ॥
संचरइ चिर-परिग्गह-लायण्णुत्तिण्ण-वेस-सोहग्गो ।
सोच्चेअ-पुराणालेक्ख-धूसरो परिअणो एस ॥ १९० ॥
इअ अमुणिअ-वेहव्वागमाहिं आलोइऊण ता जस्स ।

शाश्वतपूर्ण चन्द्र अथवा मणिमण्डित कलश की भाँति तुम्हारे विस्तृत स्तन पृष्ठ से पुष्पहार ढुलक गए हैं और इस समय उन पर चन्दन रस के लेप का असर ही नहीं रह गया है ।। १८६ ।।

तुम्हारे सुन्दर अंग-प्रत्यंग, जो नव कदम्ब केसर समूह की भाँति अस्त-व्यस्त हो गये हैं, इस समय चिरनिर्मित स्वर्ण कान्ति (आभूषण) के समान कान्तिहीन हो चले हैं ।। १८७ ।।

वे उस युगल जिनके लिए बालगज के दाँतों की चमक भी अपर्याप्त उपमा थी अब मलिन और विरस विषदण्ड के समान दिखलायी दे रहे हैं ।। १८८ ।।

हे नवयुवती ! खेद का विषय है कि भला तुम्हारे चरण टूटे हुए कर्चूर तरू की भाँति क्यों वर्णहीन हो गए हैं और इस समय कुण्ठित कमलदल की भाँति कान्तिहीन क्यों हो चले हैं ।। १८९ ।।

इस प्रकार सौन्दर्य को मन्द करने वाले वेष में इधर-उधर, घूमती हुई अंगनाएँ ऐसी लगती हैं मानो धूल-धूसरित पुरानी कलाकृति (चित्र) हों ।। १९० ।।

इस प्रकार राजा यशोवर्मा के शत्रुओं की सुन्दरी ललनाएँ अपने

रिउ-सुंदरीओ रुज्जंति णेह-सरिसं पिअ-सहीहिं ॥ १९१ ॥
अह सो कआहिसेओ समयंमि णिमिल्ल-मेह-माहप्पे ।
चलिओ सअल-धरा-वलअ-विजअ-पडिबद्ध-ववसाओ ॥ १९२ ॥
किं च जाअं ।
णिवडइ परोप्परावडण-मुहल-मणि-मंजरी-कण-करालो ।
गअणाहि विबुह-विहुओ सुर-पाअव-पल्लवुप्पीलो ॥ १९३ ॥
मंगल-लास-किलम्मंत-सुर-वहू-कंठ-सीअलो वहइ ।
आभिण्ण-महुर-मंदार-सुंदरो सुर-वह-समीरो ॥ १९४ ॥
उत्तंभिज्जंति णराहिवस्स समअं दिसा-गइंदेहिं ।
असरिस-पसत्थ-मणि-तोरण व्व विअडा कर-क्खंभा ॥ १९५ ॥

उन हितैषियों के समक्ष बिलख रही हैं जो उनके सद्यः वैधव्य से अपरिचित हैं और उन्हें देखकर उनके प्रति स्नेह के अनुरूप प्रश्न पूछ रहे हैं ? ॥ १९१ ॥

तब अभिषेक समारोह सम्पन्न हो जाने के अनन्तर राजा यशोवर्मा सारे संसार पर विजय प्राप्त करने के लिए अपने महा-अभियान पर निकल पड़े ॥ १९२ ॥

फिर यह हुआ कि—

इसके पश्चात् देवों के हिलाने से स्वर्ग के पादपों से सुकोमल पत्र समूह आकाश से गिरने लगे जिससे मंजरियों के परस्पर आघात प्रत्याघात देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो रत्नमणि परस्पर टकरा रही हो ॥ १९३ ॥

किञ्चित् खिले हुए मन्दार पुष्पों की आकर्षक सुगन्ध स्वर्गपथ से बहने लगी जो नृत्य से शिथिल अप्सराओं के कण्ठों को शीतल बना रही थी ॥ १९४ ॥

राजा यशोवर्मा की दिग्विजय यात्रा के साथ-साथ दशों दिशाओं के दिग्गजों ने अपनी सूँड़ ऊपर की ओर उठायी जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो उसके स्वागत में असाधारण तथा उत्तम रत्नों का उपहार अर्पित किया जा रहा हो ॥ १९५ ॥

साणंद-रोहिणी-बाहु-वलय-पडिबद्ध-बीअ-परिवेसो ।
जाओ पसण्ण-गह-मंडलावलंबी णिसा-णाहो ॥ १९६ ॥
विब्भम-परिरंभण्णोण्ण-मिलिअ-मणि-दाम-मुहल-थण-बिंबो ।
लास-लय-कंस-तालो व्व चलइ सुर-सुंदरी-सत्थो ॥ १९७ ॥
किरण-किलामिअ-परिअर-भुअंग-विस-जलण-धूम-तिमिरेहिं ।
उव्वेल्ल-महामणि-दंतुरेहिं चलिअं णिहाणेहिं ॥ १९८ ॥
वहइ महिंदो साणंद-सुंदरी-विहुअ-वास-संवलिअं ।
हरिसावसरंमि वि विसम-विअसिअं लोअण-सहस्सं ॥ १९९ ॥
रहमुद्ध-तिअस-करि-दंत-दंड-परितुलिअ-रवि-रह-तुरंगो ।

राजा यशोवर्मा को इस समय इस रूप में देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों उन निशानाथ चन्द्रमा का ही दूसरा रूप हो जो रोहिणी की बाहु से परिवेष्टित प्रसन्न ग्रहमण्डली के मध्य विचरण कर रहे हों ॥ १९६ ॥

उन सुरसुन्दरियों के झुण्ड के झुण्ड आगे बढ़े जिनके स्तन अत्यन्त विस्तृत थे और परस्परालिंगन से उनके शरीर पर शोभा पाने वाले रत्न तथा कण्ठहार गिर रहे थे जिसे देखकर ऐसा लगता था मानो लास्य नृत्य के कारण उनके चरणों के कांस्य ताल बज रहे हों ॥ १९७ ॥

राजा यशोवर्मा की सेना के पदभार से उद्वेलित पृथ्वी के अन्तस्तल में पड़े हुए वे रत्नमणि समूह, जिनकी रक्षा में भुजंग वृन्द लगे हुए थे ऊपर की ओर उठने लगे जिसके कारण निधान का तल खुरदरा हो गया पीड़ित भुजंगों से रत्नों की प्रभा मलिन हो गयी ॥ १९८ ॥

यहाँ तक कि आनन्द के अवसर पर भी देवराज इन्द्र के सहस्र लोचन आनन्दातिरेक में सुर-सुन्दरियों के द्वारा हिलाये जाते हुए वस्त्रों के कारण अस्त-व्यस्त से विकसित हो रहे थे ॥ १९९ ॥

दिग्गजों ने लीला पूर्वक अपने दाँतों को ऊपर उठाया जिसके

तोरण-णिबद्ध-जय-पल्लवो व्व जाओ णह-विआणो ॥ २०० ॥
इअ से पसत्थ-पत्थाण-समय-संभाविऊसव-विआसो ।
जाओ पहरिस-हीरंत-सुहिअ-हिअओ तिअस-लोओ ॥ २०१ ॥

अवि अ ।

आमूल-वलिअ-वामोरु-वल्लरी-लंघिएअरोरु-लअं ।
तंस-ट्ठिअ-दर-परिअत्तिअंग-दिट्ठेक-थण-वट्टं ॥ २०२ ॥
विणिअत्त-हार-वलअग्ग-मिलिअ-मासल-णिअंब-पेरंतं ।
वलणा-मडह-ट्ठिअ-मज्झ-कड्ढिओव्वत्त-रोम-लअं ॥ २०३ ॥
सहि-खंध-ट्ठिअ-दाहिण-पउट्ठ-वलिओणआणण-मिअंकं ।

ऊपर रवि-रथ के तुरंग अटक गया और नभ के वितान में तोरण निबद्ध जय पल्लव-सा तन गया ॥ २०० ॥

[आगे के ७ पदों में कवि ने विविध मुद्राओं में यशोवर्मा की सेना का अवलोकन करती हुई सुन्दरियों का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है ।]

इस प्रकार यशोवर्मा की सेना को विजय-यात्रा देखकर स्वर्ग के देवगण हर्षोल्लास में समारोह मनाने लगे और उनके हृदय एक अद्भुत आनन्द से परिपूर्ण हो उठे ॥ २०१ ॥

एक सुन्दरी वल्लरी की भाँति अपनी बाईं जघन के बल पर नितम्ब के आधार पर वह किञ्चित् तिर्यक्-सी खड़ी हो गई थी जिससे उसका एक ही विस्तृत स्तन दिखाई पड़ रहा था ॥ २०२ ॥

यह सुन्दरी रत्नों का एक वृहद् हार धारण किये थी। वह जैसे ही घूमी वह हार नीचे की ओर खिसका और उसका एक छोर उस सुन्दरी के नितम्ब तक पहुँच गया जिससे वल्लरी की भाँति उसके वक्ष के अधो भाग की रोमावलि में रोमांच होने लगा क्योंकि वह हार उसी पर घर्षण कर रहा था ॥ २०३ ॥

यह स्त्री अपनी सखी के पीछे खड़ी थी और अपनी दाहिनी कलाई (हाथ) उस सखी के वाम स्कन्ध पर रखे हुए थी तथा

एक्केक्कम-णिविड-करंबिअंगुली-मिलिअ-कर-किसलं ॥ २०४ ॥

परिअत्त-सरल-कुंतल-णालंजिअ-दाहिण-त्थणद्धंतं ।
लीला-वंधुर-सीमंत-पअड-चूडा-मणि-च्छाअं ॥ २०५ ॥

ओणविअ-सवण-तवणिज्ज-मंजरी-रूद्ध-कुंडलालोअं ।
वलिआगअण्ण-ताडंक-मलिअ-थण-कुंकुमालेक्खं ॥ २०६ ॥

इअ वसुहाहिव-दंसण-वलंत-णअणुप्पलावअंसाण ।
भवण-सिहरेसु पुर-सुंदरीण परिसंठिअं सहइ ॥ २०७ ॥

किं च ।

अज्ज वि जस्स हराणल-जालावलि-संभमं भरंतस्स ।

अपने चन्द्रमुखमण्डल को हथेलियों पर जो आपस में जुड़ी थीं टिकाए हुए थी ॥ २०४ ॥

उसकी सरल केशराशि के फैलने से उसका दाहिना स्तन आधा ढँक गया था और जब उसने अपना सिर नीचा किया तो उसकी माँग में लगी हुई चूड़ामणि की छाया उस पर पड़ने लगीं ॥ २०५ ॥

एक सुन्दरी अपने दाहिने कर्ण को दायीं ओर हाथ के सहारे झुकाये हुए थी और उसका कर्णाभूषण जो या तो उसकी चोटी से बँधा था या उसके कान से ही लटका था, नीचे झुककर उसके कुण्डल के ऊपर आ गया और उसका बायाँ कान एक ओर हो गया तथा उसका कर्णाभूषण लटककर उसके स्तन पर लगे हुए कुंकुम को घिसने लगा ॥ २०६ ॥

इस प्रकार राजा यशोवर्मा के दर्शन की एक झलक पाने के लिए नगर की सुन्दरियाँ अपने भवनों के शिखरों पर स्थित हो कर अपने पद्मलोचनों से निरखने लगीं ॥ २०७ ॥

और भी--

प्रेम के देवता कामदेव ने कुसुमित अशोक तरू से अपनी दृष्टि शीघ्र हटा ली क्योंकि उन कुसुमों की अंगार सदृश आकृति देखकर

कुसुम-कविसे असोए वि झत्ति दिट्ठी समुव्विअइ ॥ २०८ ॥
सो वि ससि-बंधवो जाण दंसणे पणइणीण कोवंकं ।
कुणइ च्चिअ कुंद-सिहा-कसाअ-गंड-त्थलं वअणं ॥ २०९ ॥
दिट्ठे पहुम्मि अबलाण ताण आविद्ध-चंदण-कसाओ ।
वसिओ अंगेसु समंत-पीण-कण-कब्बुरो सेओ ॥ २१० ॥
दिट्ठी सचंदणेसुं आरोविअ-रोअणेसु रमणीण ।
तस्स णिसण्णा पुण्णाह-रअअ-वत्तेसु व मुहेसु ॥ २११ ॥

अवि अ ।

समरेसु खग्ग-धारा-गआएँ पडिपेल्लिऊण रिउ-खग्गं ।

उसे शिवजी की तीसरी आँख की ज्वाला का स्मरण हो गया ॥ २०८ ॥

चन्द्र तो कामदेव का घनिष्ठ मित्र है। इस कामदेव को इन स्त्रियों के प्रति रोष हो आया क्योंकि उसने देखा कि उसकी रति एवं प्रीति नामक दोनों पत्नियों के कपोल ईर्ष्या के कारण कुन्द पुष्प की भाँति विवर्ण हो उठे थे ॥ २०९ ॥

इन स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों से उद्भूत प्रस्वेद से उनके शरीर पर लेप किए हुए चन्दन की छवि धीरे-धीरे धूमिल होने लगी ॥ २१० ॥

[आगे के ४१ पदों के कुलक में कवि ने राजा यशोवर्मा के गौरव का जो वर्णन किया है उसे सुनकर पर्वतों के भी पंख विदीर्ण करने वाले इन्द्र को भी विस्मय हो उठता था।]

राजा यशोवर्मा के नेत्र उन नगर सुन्दरियों के मुखमण्डल पर टिक गये जिनके शरीर पर चन्दन तथा गोरोचन का लेप लगा था जो रजत पात्र के सदृश लग रहे थे ॥ २११ ॥

वन्दीजन राजा की कीर्ति का वर्णन करते हुए कह रहे हैं— जब तुमने युद्ध के मैदान में अपने खड्ग से रिपु के खड्ग को प्रति-प्रेरित किया (पीछे हटा दिया) तब मानो तुम्हारे खड्ग की धार

वेअल्ल-वेल्लिराणं परिअत्तंता गिरीण कडएसु ।
सरिआ-मग्गा पावंति विअड-वण-वट्टअ-च्छाअं ॥ १३७ ॥
ओअरण-लालसेहिं गिरीसु दीसइ गुहा-विणितेहिं ।
पक्ख-च्छेओ व्व तड-ट्ठिएहिं वसुहा-वण-अरेहिं ॥ १३८ ॥
जलिरप्पइअ-वलंता अद्धेहिं णहंगणे विसट्टंति ।
अद्धेहिं मूल-गरुआ महीऍ णिवडंति गिरि-वक्खा ॥ १३९ ॥
उवरिं-धूम-णिवेसा मूलालग्ग-जलणाण दीसंति ।
हेट्ठालोउक्खित्ता छाआ-बंधा इव तरूण ॥ १४० ॥
परिलूण-पेहुणस्स वि सुर-गिरिणो अणह-वक्ख-संकाए ।
घडिआ पुणो वि कुलिसो जालासु णिअंब-विअडासु ॥ १४१ ॥
णिअ-सामत्थेणंचिअ ण तहा वेएण णिठ्ठुर-प्पहरो ।

उन पर्वतों के उपत्यका प्रदेश में घूर्णमान नदियों के मार्ग को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों वे वज्र से आहत पर्वतों के घावों की पट्टियाँ हों ॥ १३७ ॥

पंख विहीन पर्वतों की चोटियों पर वन्यपशु इधर-उधर इस प्रकार विचरण कर रहे थे मानो वे उन पर्वतों की गुफाओं से निकल कर पृथ्वी पर पहुँचने के लिए आतुर हो रहे हों ॥ १३८ ॥

वज्राघात से कटे हुए, जलते हुए, आकाश में यत्र-तत्र लुढ़कते-लुढ़कते नीचे की ओर मुड़े गिरि पंख पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ १३९ ॥

वृक्षों के मूलभाग में आग लग जाने से उसका धूम्र उनके ऊपर छा गया था जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो निम्न भाग की ज्वालाग्नि की छाया हो ॥ १४० ॥

वज्र ने स्वर्गशैल सुमेरू के जलते हुए शिखरों पर एक बार पुनः इस दुविधा के कारण प्रहार किया कि अभी इसके पंख कटे ही नहीं यद्यपि वे पूर्वमेव कट चुके थे ॥ १४१ ॥

सच तो यह था कि वज्र ने अपनी अमोघ शक्ति का इतने प्रबल वेग से कभी भी प्रहार नहीं किया था जितनी प्रचण्डता से इस समय

अण्ण-गिरि-पक्ख-पहओ जह छिंदइ महि-हरं कुलिसो ॥१४२॥

महि-हर-वडणुच्छलिआ भमंति पसरिअ-मणि-प्पहा-वलआ।
सेल व्व जलिअ-वक्खा गअणंमि समुद्द-कल्लोला ॥ १४३ ॥

उप्पिअ-तिअस-विसाओ णिक्खमइ चिरेण दाह-कअ-विवरो।
कुविअ-गिरि-पक्ख-संपुड-संपीडिअ-णिप्फुरो वज्जो ॥ १४४ ॥

असमप्पमाण-दीहर-मूलोआरे समुद्द-पडिए वि।
णह-दूर-ट्ठिअ-सिहरे णो मुअइ मही-हरे कुलिसो ॥ १४५ ॥

एक्को उण धरणि-हरो अहिट्ठ-णिअंब-मूल-सिहरग्गो।
ल्हिक्को दूरुच्छलिए जलहिंमि व जलहि-कल्लोले ॥ १४६ ॥

वह जब एक पर्वत पर आघात करता था तो उसके कटे हुए पंख दूसरे पर्वत पर टकरा जाते थे ॥ १४२ ॥

पंख विहीन पर्वत जिस समय सागर में गिरते थे उस समय उसमें भयंकर विक्षोभ उत्पन्न हो जाता था और उसके अन्तस्तल की मणिराशि उत्ताल तरंगों के साथ ऊपर आकर ऐसा दृश्य उपस्थित करती थी मानों सागर की ऊँची लहरें उन पर्वतों का रूप धारण किए हों जो इस समय जल रहे थे ॥ १४३ ॥

पर्याप्त समय के अनन्तर वह वज्र पर्वतों की ओर से वापस हुआ। उस समय उसे अग्नि-ज्वाला में देखकर देवगण अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे क्योंकि पर्वतों के पंख काटते-काटते इस समय वज्र की सहज कान्ति का लोप हो चुका था ॥ १४४ ॥

वज्र ने उन पर्वतों को नहीं छोड़ा जो बिचारे भयाक्रान्त होकर समुद्र में कूद पड़े थे। वे बड़ी तेजी से बचने के लिए समुद्र में कूदे फिर भी वे इतने ऊँचे थे कि उनकी चोटियाँ इस समय भी आकाश में सिर उठाये हुए थीं ॥ १४५ ॥

केवल एक पर्वत अपनी रक्षा करने में सफल हो गया क्योंकि सागर की भयंकर उत्ताल तरंगों के मध्य उस पर्वत के तल, आधार तथा शिखर का अस्तित्व छिप गया था ॥ १४६ ॥

रहसा रसा-अलोअर-विसाल-कंदर-दरी-पलोट्टंतो ।
णज्जइ गिरी ण जलहिं जलहिच्चिअ महि-हरं विसइ ॥ १४७ ॥
गिरि-लुलिओअहि-विहुआ संभंत-दिसेभ-ताडिअ-क्खंधा ।
वेवइ विअणा-वेल्लंत-महि-हरंदोलिआ वसुहा ॥ १४८ ॥
अपत्ता वि समुद्दं समुद्द-परिरक्खिअ व्व वोलंति ।
वेअ-समुच्छलिअ-णिअंब-सिंधु-परिणूमिआ गिरिणो ॥ १४९ ॥
णिवडंत-सिला-छविअ-परितलिणाअंत-मूल-वित्थारो ।
वोच्छिण्ण-मंथर-सिहो विरलाअइ धूम-संघाओ ॥ १५० ॥
उप्पइअ-रेणु-णिवहा संवेल्लिअ-विअड-कंदर-च्छेआ ।
तेच्चेअ पडण-भिण्णा पत्ता लहुअत्तणं गिरिणो ॥ १५१ ॥

इस दृश्य को देखकर कोई भी अनुमान लगा सकता है कि वस्तुतः पर्वत समुद्र में नहीं वरन् समुद्र ही हड़बड़ी में पर्वत के अन्दर प्रवेश कर गया है इसीलिए भीषण बाढ़ के कारण उसकी घाटियों तथा कन्दराओं में रसातल से भी अधिक जलप्रवाह हो चला था ॥ १४७ ॥

पर्वतों के गिरने से आन्दोलित सागर ने वसुधा पर भूकम्प उत्पन्न कर दिया, दशोंदिशाओं के दिग्गजों ने उसके स्कन्धों को ताड़ित किया और पंख कटे पर्वतों के गिरने से इस समय वह क्षुब्ध थी ॥ १४८ ॥

उपत्यका में वेग के कारण समुच्छलति नदियों से आच्छादित होने के कारण पर्वत जो अभी समुद्र तक पहुँच भी नहीं पाये थे समुद्र से आवृत से (घिरे हुए से) चले जा रहे थे ॥ १४९ ॥

इस समय घने धूम का ह्रास हो चला था क्योंकि टूटकर गिरती हुई चट्टानों ने इस धूम्रराशि को ढक लिया तथा अग्नि ज्वाला भी मन्द हो गई ॥ १५० ॥

पंखविहीन वे सभी पर्वत इस समय धूल-धूसरित हो रहे थे और उनकी घाटियाँ तथा कन्दराएँ हिल रहीं थी तथा वे पर्वत टुकड़े-टुकड़े होकर पृथ्वी पर गिरने से हल्के हो गए थे ॥ १५१ ॥

एक्कत्तो सल्लाअंत-वज्ज-धारा-कणा किलिम्मंति ।
अण्णत्तो कडओसहि-पहाव-रूढ-व्वणा गिरिणो ॥ १५२ ॥

कुलिसो ण दीसइच्चिअ एक्कंमिच्चिअ गिरिंमि मुज्झंतो ।
एक्कं व सेल-सिहरं अट्टइ कुलिसंमि गिरि-जालं ॥ १५३ ॥

पक्ख-उड-कूड-पुंजिअ-कप्पंतर-दिप्पमाण-हव्ववहा ।
पलएच्चिअ विज्झाआ समुद्द-भर-पूरिआ गिरिणो ॥ १५४ ॥

णीसह-विमुक्क-कायत्तणेण वोच्छिण्ण-पक्ख-लहुअं पि ।
तंचिअ भुअंग-वइणो जाअं गरुअं व गिरि-जालं ॥ १५५ ॥

विहडिअ-वसुहा दलिअद्दि-मंडला दूर-विद्दुअ-समुद्दा ।
थिइ-लालसेण हरिणा णीआ पलयंचिअ तिलोई ॥ १५६ ॥

एक ओर वज्र की तीव्रधार से कटने पर उनके घाव उन्हें क्लेश दे रहे हैं दूसरी ओर जो घाव बन गये थे वे उनके ऊपर उगने वाली वनौषधियों के प्रभाव से ठीक हो रहे थे ।। १५२ ।।

वज्र के प्रहार से एक भी पर्वत नहीं बच पाया और सारे पर्वत अग्नि में झुलस कर एक ही शिखर का रूप धारण कर चुके थे ।। १५३ ।।

विश्व-प्रलय की भयंकर ज्वाला की भाँति पर्वतों के जलते हुए पंखों की अग्नि कल्पान्त के समय सागर की बाढ़ के जल से ही शान्त हो पाई थी ।। १५४ ।।

पंख कट जाने से यद्यपि उन पर्वतों का भार इस समय हल्का हो गया था तथापि शेषनाग के लिए उनका यह भार और अधिक बढ़ गया था क्योंकि वे लाचार होकर अपने सारे बोझ के साथ पृथ्वी पर गिर गये थे ।। १५५ ।।

पर्वतों के गिरने से पृथ्वी विघटित हो गयी, पर्वत मण्डल दलित हो गया, समुद्र पीछे हट गया, स्थिति की इच्छा से इन्द्र ने प्रलय उत्पन्न की ।। १५६ ।।

आमुअइच्चिअ जीअं गिरि-मिहुणं णिव्वुएहिँ अंगेहिं ।
पज्जलिअ-पक्ख-संपुड-संपाडिअ-सिसिर-परिरंभं ॥ १५७ ॥
भय-विहडिआण जाओ लुअ-पक्खुद्देस-णिवडिअ-थिराण ।
अह णिरवसाण-दुसहो कुडुंब-विरहो महि-हराण ॥ १५८ ॥
कढिण-गिरि-वक्ख-खूडण-विहडिअ-धारत्तणेण सुर-वइणो ।
आरुहइ काय-लहुओ पेसण-गरुओ करं कुलिसो ॥ १५९ ॥
इअ जेण खुडिअ-वक्खा गिरिणो वि समंजसत्तणे ठविआ ।
एकासण-संमाणं सो त्ति हरी मण्णए जस्स ॥ १६० ॥
अवि अ ।
चिहुरावीलण-पडिलग्ग-ण्हाण-घुसिणारुणंसुय-सुअंधो ।

एक पर्वत-दम्पति इस समय मृत हो जाने पर पूर्ण सन्तोष के साथ शीतलता में ही आलिंगन पाश में बँध गया क्योंकि पंख कट जाने से उन्हें उष्णता भी नहीं मिल पाई ॥ १५७ ॥

इस समय पर्वतों के परिवार के समक्ष असह्य तथा अनन्त वियोग का कुअवसर आ गया था जो बिचारे पंख कट जाने से जहाँ गिरे उसी स्थान पर जम गये थे ॥ १५८ ॥

वह वज्र जो इस समय आकारतः हलका किन्तु कार्य पूर्ण हो जाने से भारी हो चुका था, पुनः इन्द्र के हाथ में आ गया परन्तु पर्वतों के खुरदरे पंखों को काटने से उसकी तीक्ष्णधार सर्वथा नष्ट हो चुकी थी ॥ १५९ ॥

हमारे सम्राट् यशोवर्मा इस प्रकार बलशाली हैं कि उनके पार्श्व में वे इन्द्र भी आसनस्थ होने में गौरव का अनुभव करते हैं जिन्होंने पर्वतों के पंख काटकर उनका मान मर्दन किया था ॥ १६० ॥

[निम्नलिखित कुलक के ६ पदों में कवि ने सम्राट् यशोवर्मा की उस सरोवर क्रीडा का वर्णन किया है जिसमें वह शत्रुओं के सरोवर में राज्य की वारांगनाओं के साथ केलि करता है]।

गुलाबी रेशमी वस्त्रों में वे वारांगनायें अतीत सुन्दर लग रही

अग्घइ मंगल-गहिएक्क-कुसुम-दामुज्जलो वेसो ॥ १६१ ॥
दर-चक्खिअ-मइरा-मअ-पविरल-संवज्झमाण-सेअ-लवं ।
सोहइ मंथर-णित्थाम-लुलिअ-णअणुप्पलं वअणं ॥ १६२ ॥
सोहइ जलद्दासंदाण-विसम-मासलिअ-चंदण-च्छेओ ।
संकंत-पाडलामोअ-सुरहि-सिसिरो थणाहोणो ॥ १६३ ॥
घोलइ महु-रस-विच्छुरिअ-मालई-मउल-कोमलाअंबा ।
णिद्धोअंजण-रमणिज्ज-पम्ह-मूलुज्जला दिट्ठी ॥ १६४ ॥
विक्खिरिअ-चिहुर-मंजरि-सिहा-परिक्खलिअ-जल-लवालिद्धं ।
णिव्वाइ मउलिओणविअ-णह-चुडुप्पंकुरं जहणं ॥ १६५ ॥
इअ जस्स गिम्ह-दिवसावसाण-णिम्माअ-मज्जण-रसाहिं ।
लीला-वावीसु रिऊण संठिअं वार-विलआहिं ॥ १६६ ॥

थीं तथा उन वस्त्रों में सुगन्ध भरी हुई थी। उनके घुँघराले केश पुष्प हार से सजे हुए थे ॥ १६१ ॥

थोड़ी-सी मदिरा के आस्वादन से उनकी मुखश्री अत्यन्त मनोहर दिख रही थी तथा उनके अलसाये नयनारविन्द अत्यधिक शोभायमान थे ॥ १६२ ॥

पाटल पुष्प की सुगन्ध से संयुक्त तथा चन्दन-लेप से उनके विस्तृत स्तन युगल अत्यन्त आकर्षक लग रहे थे जो कंचुकी वस्त्र से कसकर बाँधे गये थे ॥ १६३ ॥

कोमल तथा मधुयुक्त मालती की कली के सदृश लाल-लाल और अंजन के धुल जाने से चमकती हुई स्वच्छ बरौनियों वाले उनके नेत्र चंचल थे ॥ १६४ ॥

चिकुर रूपी मंजरी की शिखा से गिरते हुए जल कणों से सिञ्चित किया जा रहा है जिसके नखक्षत रूपी अंकुर वाला जघन विश्राम का अनुभव कर रहा है ॥ १६५ ॥

इस प्रकार सम्राट् यशोवर्मा ग्रीष्मकाल में शत्रु के सरोवरों में उनकी वारांगनाओं के साथ जल विहार का आनन्द प्राप्त करता था ॥ १६६ ॥

किं च।

विवर-समोसरिअ-विराअ-हेम-महि-हर-रस-प्पवाहेहिं।
पाआलोआरिअ-पिहु-सिहो व्व पडिहाइ हव्व-वहो ॥ १६७ ॥
वण-देवआ-पसारिअ-कर-अल-संवलिअ-किसलअ-कलावो।
डज्झइ धूम-तमंतरिअ-महुअरो तिअस-तरु-संडो ॥ १६८ ॥
पज्जलइ धूम-मंडल-णिह-विवलाअंत-लंछण-मअं व।
णिव्वडिअ-फुलिंग-च्छल-संगलिअ-गहं व ससि-बिंबं ॥ १६९ ॥
भीसण-सरूव-परिसंठिअं व जलणाहअं पि पडिहाइ।

[इसके अतिरिक्त कुलक के १५ पदों में कवि प्रलय-काल का अत्यन्त मनोहारी वर्णन प्रस्तुत करता है। प्रलय के समय विष्णु को छोड़कर सब समाप्त हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सम्राट् यशोवर्मा बालकृष्ण के सदृश हैं। इस प्रकार यह प्रलय सम्राट् की ही लीला है क्योंकि विश्वविनाश में अग्नि-वायु-जल का ही ताण्डव दिखाई देता है।]

स्वर्णशैल मेरू जलने लगता है और स्वर्ण गल-गल कर इस पर्वत की कन्दराओं से बहने लगता है। इसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो पाताल लोक से अग्नि की लपटें उठकर ऊपर की ओर आ रही हों ॥ १६७ ॥

स्वर्ग के तरू-समूह जलने लगते हैं और मधुमक्खियाँ धूम्र के अंधेरे में उड़ने लगती हैं उस समय वन देवियाँ उन तरूओं के किसलय–पल्लवादि को बचाने के लिए अपनी हथेलियाँ लगा देती हैं ॥ १६८ ॥

चन्द्रमा मण्डल भी अग्नि ज्वाला से दग्ध हो उठता है उस समय उसका मृगाङ्क चक्कर काटते धूम्र समूह की भाँति इधर-उधर भागता दृष्टिगोचर होता है और ग्रह उड़ती हुई चिनगारी के समान गिरने लगते हैं ॥ १६९ ॥

ऐसा लगता था कि अग्नि की भीषणता से चीत्कार करता हुआ

वेआल-मंडलं मुहल-मुह-गुहा-घोलिरग्गि-सिहं ॥ १७० ॥
कर-कलिअ-खग्ग-लेहा-णिह-पढमुब्भिण्ण-धूम-लेहं व ।
डज्झइ मिहुणं विज्जा-हराण अविओअ-वीसत्थं ॥ १७१ ॥
जम-महिसो कवलिज्जइ जाला-संवेल्लिओ हुअ-वहेण ।
बंभंड-पडिप्फलिओणओ व्व णिअ-धूम-विच्छड्डो ॥ १७२ ॥
अमर-रमणी-विहुव्वंत-चामरुप्पंक-पवण-लोल-सिहो ।
भय-वेविरो व्व अल्लिअइ कहवि विबुहाहिवं जलणो ॥ १७३ ॥
फुडिअ-घण-वडल-पाअड-तडि-च्छडा-संड-णिविडिओ जलइ ।
रवि-बिंब-वलय-बद्ध-प्फलो व्व जलणो णह-अलंमि ॥ १७४ ॥
डज्झंति सरल-सुंकार-दूर-विक्खित्त-सिहि-सिहा-णिवहा ।
तंडविअ-फणा-मंडल-पिंडिअ-धूमुग्गमा फणिणो ॥ १७५ ॥

वेताल-मण्डल कन्दरा-सदृश मुख से अग्नि की लपटें निकलने लगे ॥ १७० ॥

अवियोग वाले विद्याधर दम्पति भी निकलते हुए धूम्र समूह में जलते हुए इस प्रकार दिख रहे थे मानों उनके हाथ में खड्ग की धार समा गई हो ॥ १७१ ॥

लपटों में घिरे हुए यमराज के भैंसे को अग्नि इस प्रकार निगल गई मानो वह प्रलय की स्थिति में विप्रदीप अवस्था में अपने धुयें को ही निगल लिया हो ॥ १७२ ॥

अमर रमणियों के द्वारा चलाये जा रहे चमरों की हवा से कंपित लपटों वाली अग्नि ने मानों भय से काँपते हुए किसी प्रकार देवराज इन्द्र को भी आधीन कर लिया ॥ १७३ ॥

अग्नि पूरे आकाश में व्याप्त हो गई और उसकी उष्णता से मेघों के फटने के कारण बिजली चमकने लगी। यह दृश्य देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो वह द्वादश आदित्यों का चक्र हो ॥१७४॥

सर्प इस भयंकर ज्वाला में जलने लगे और वे बिचारे इससे बचने के लिए फूत्कार करते हुए अग्नि को भगाने लगे और ध्रूमराशि उनके फनों पर छा गई ॥ १७५ ॥

उव्वहइ धूम-वलयं सेसो पट्ठि-परिसंठिउब्भेअं ।
देह-प्पहा-विआणं हरिणो व्व णिवेस-संकंतं ॥ १७६ ॥
जलण-सिहा-संभाविअ-सरीर-णिव्वावणा-णिमित्तं व ।
डज्झइ ससि-मंडल-कलस-दिण्ण-कंठ-ग्गहं मअणो ॥ १७७ ॥
रक्खा-भुअंगमुग्गिण्ण-विस-जलासार-विरलिउब्भेओ ।
अहिलेइ णिहि-ट्ठाणाइँ कहवि जलणो कुबेरस्स ॥ १७८ ॥
सोहइ वलंत-वासुइ-परिवेस-विढत्त-विअड-पडिबंधो ।
दर-सिढिल-हर-जडा-पुंज-पिंजरो सिहि-सिहा-णिवहो ॥ १७९ ॥
पडिहाइ जलण-जाला-पंजर-संजमण-पुंजिआवयवो ।
उप्पत्ति-दिअस-परिसंठिओ व्व तणओ ति-णयणस्स ॥ १८० ॥
इअ पलयाणल-कवलिअ-सुरंमि बंभंड-कुहर-कुंडंमि ।

शेषनाग ने चक्कर काटती इस धूम्रराशि को तम्बू की भाँति अपनी पीठ पर इस प्रकार धारण किया मानो उनकी शैय्या पर लेटे हुए विष्णु का रूप हो ।। १७६ ।।

कामदेव भी इस ज्वाला से दग्ध हो उठे और इससे शरीर रक्षा हेतु शशिमण्डल को कलश की भाँति कण्ठ से लगाये हुए थे ताकि दाह से अपनी रक्षा कर सकें ।। १७७ ।।

वह अग्नि ज्वाला किसी प्रकार कुबेर के कोष तक पहुँच गई और इसकी उष्णता कोष रक्षक सर्पों के विषवमन से भी नहीं शान्त हो पाई ।। १७८ ।।

वह अग्निपुञ्ज विविध रूप में प्रज्वलित होकर जव वासुकिनाग के शरीर तक पहुँचा तो इस प्रकार भूरे रंग के हो उठे मानो वह शिव का किञ्चित शिथिल पिंगल जटा-जूट हो ।। १७९ ।।

अग्नि के ज्वाला रूपी पिंजड़े में पड़ जाने से शिव तनय कार्तिकेय ने अपने अवयवों को समेट लिया और वे वैसे ही दिखने लगे जैसे जन्म के समय दिखते थे ।। १८० ।।

ब्रह्माण्ड रूपी गम्भीर अग्नि कुण्ड में जब देवतागण प्रलयाग्नि में

लीला कंसारि-सरूव-धारिणो जस्स णिव्वडिआ ॥ १८१ ॥

अहवा ।

मणि-सबल-कुसुम-मालावबंध-पडिबद्ध-विब्भमा पढमं ।
जाआ धूमाहअ-वेणु-दंड-कविसा किणो वेणी ॥ १८२ ॥

किं णु हु कला-णिरंतर-मिअंक-पडिवक्ख-गंड-लेहं ते ।
दमणअ-सिहाहमहिसाम-धूसरं वअणमेत्ताहे ॥ १८३ ॥

धारा-हअ-धरणि कणावरुद्ध-णव-कंदली-सिहा-फरुसं ।
महुरमवगाढ-सोहं अ वहसि विसमारुणं अहरं ॥ १८४ ॥

एअं पवण-पराहीण-सरल-लवली-दलाहिलोलं ते ।
पेच्छामि असंगअ-मंगलावअंसं सवण-वासं ॥ १८५ ॥

कवलित हो गये उस समय यशोवर्मा के कृत्य कंसारि कृष्ण की लीला के समान स्फुरित हुए ॥ १८१ ॥

[आगे के १० पदों में कवि ने शत्रुओं की विधवा पत्नियों के संत्रास का इस प्रकार वर्णन किया है मानो उनके मित्र प्रश्न कर रहे हों ।]

तुम सभी प्रायः अपनी केशराशि को पुष्पहार तथा विविध रत्नों से सजाया करती थीं परन्तु इस समय वही केश धूम्र-व्याप्त बाँस की छड़ी की भाँति भूरी क्यों हो गई है ? ॥ १८२ ॥

किसी समय तुम्हारी मुखच्छवि तथा कपोल पूर्णचन्द्र की भाँति दिखाई पड़ता था। इस समय वही दमनक तरू की भाँति मलिन तथा भूरा क्यों हो गया है ? ॥ १८३ ॥

तुम्हारे ओष्ठ जो किसी समय इतने मधुर तथा सुन्दर दिखते थे इस समय वही अधर उस कन्दल वृक्ष की भाँति क्यों खुरदुरा तथा भद्दा हो गया है जो वर्षा के कारण कर्दम लिप्त हो ॥ १८४ ॥

तुम्हारे आकर्षक कर्ण इस समय आभूषण विहीन होने के कारण उस लवली पत्र की भाँति कान्ति रहित हो गये हैं जो वायु के झोंके से मुरझा उठे हों ॥ १८५ ॥

सासअ-मिअंक-मणि-कलस-वेसमवसण्ण-हार-परिभोअं ।
णिरवसर-चंदण-रसं तं चिअ ते सुअणु थण-वट्टं ॥ १८६ ॥
सरस-पडिबोह-लंघिअ-कलंब-केसर-पिसंगमंगेसुं ।
लायण्णं चिर-णिम्माण-खिण्ण-कणअ-च्छविं वहइ ॥ १८७ ॥
उवमासु अपज्जत्तेह-कलह-दंतावहासमूरु-जुअं ।
तं चेअ मलिअ-बिस-दंड-विरसमालक्खिमो इण्हि ॥ १८८ ॥
हा किं णु अणव-कच्चूर-भंग-विच्छाअ-पाडले तरुणि ।
आवहसि इमे पडिबोह-कुंठ-कमलप्पहे चलणे ॥ १८९ ॥
संचरइ चिर-परिग्गह-लायण्णुत्तिण्ण-वेस-सोहग्गो ।
सोच्चेअ-पुराणालेक्ख-धूसरो परिअणो एस ॥ १९० ॥
इअ असुणिअ-वेहव्वागमाहिं आलोइऊण ता जस्स ।

शाश्वतपूर्ण चन्द्र अथवा मणिमण्डित कलश की भाँति तुम्हारे विस्तृत स्तन पृष्ठ से पुष्पहार ढुलक गए हैं और इस समय उन पर चन्दन रस के लेप का असर ही नहीं रह गया है ॥ १८६ ॥

तुम्हारे सुन्दर अंग-प्रत्यंग, जो नव कदम्ब केसर समूह की भाँति अस्त-व्यस्त हो गये हैं, इस समय चिरनिर्मित स्वर्ण कान्ति (आभूषण) के समान कान्तिहीन हो चले हैं ॥ १८७ ॥

वे उस युगल जिनके लिए बालगज के दाँतों की चमक भी अपर्याप्त उपमा थी अब मलिन और विरस विषदण्ड के समान दिखलायी दे रहे हैं ॥ १८८ ॥

हे नवयुवती ! खेद का विषय है कि भला तुम्हारे चरण टूटे हुए कर्चूर तरू की भाँति क्यों वर्णहीन हो गए हैं और इस समय कुण्ठित कमलदल की भाँति कान्तिहीन क्यों हो चले हैं ॥ १८९ ॥

इस प्रकार सौन्दर्य को मन्द करने वाले वेष में इधर-उधर, घूमती हुई अंगनाएँ ऐसी लगती हैं मानो धूल-धूसरित पुरानी कलाकृति (चित्र) हों ॥ १९० ॥

इस प्रकार राजा यशोवर्मा के शत्रुओं की सुन्दरी ललनाएँ अपने

रिउ-सुंदरीओ रुज्जंति णेह-सरिसं पिअ-सहीहिं ॥ १९१ ॥
अह सो कआहिसेओ समयंमि णिम्मिल्ल-मेह-माहप्पे ।
चलिओ सअल-धरा-वलअ-विजअ-पडिबद्ध-ववसाओ ॥ १९२ ॥
किं च जाअं ।
णिवडइ परोप्परावडण-मुहल-मणि-मंजरी-कण-करालो ।
गअणाहि विबुह-विहुओ सुर-पाअव-पल्लवुप्पीलो ॥ १९३ ॥
मंगल-लास-किलम्मंत-सुर-वहू-कंठ-सीअलो वहइ ।
आभिण्ण-महुर-मंदार-सुंदरो सुर-वह-समीरो ॥ १९४ ॥
उत्तंभिज्जंति णराहिवस्स समअं दिसा-गइंदेहिं ।
असरिस-पसत्थ-मणि-तोरण व्व विअडा कर-क्खंभा ॥ १९५ ॥

उन हितैषियों के समक्ष विलख रही हैं जो उनके सद्यः वैधव्य से अपरिचित हैं और उन्हें देखकर उनके प्रति स्नेह के अनुरूप प्रश्न पूछ रहे हैं ? ॥ १९१ ॥

तब अभिषेक समारोह सम्पन्न हो जाने के अनन्तर राजा यशोवर्मा सारे संसार पर विजय प्राप्त करने के लिए अपने महा-अभियान पर निकल पड़े ॥ १९२ ॥

फिर यह हुआ कि—

इसके पश्चात् देवों के हिलाने से स्वर्ग के पादपों से सुकोमल पत्र समूह आकाश से गिरने लगे जिससे मंजरियों के परस्पर आघात प्रत्याघात देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो रत्नमणि परस्पर टकरा रही हो ॥ १९३ ॥

किञ्चित् खिले हुए मन्दार पुष्पों की आकर्षक सुगन्ध स्वर्गपथ से बहने लगी जो नृत्य से शिथिल अप्सराओं के कण्ठों को शीतल बना रही थी ॥ १९४ ॥

राजा यशोवर्मा की दिग्विजय यात्रा के साथ-साथ दशों दिशाओं के दिग्गजों ने अपनी सूँड़ ऊपर की ओर उठायी जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो उसके स्वागत में असाधारण तथा उत्तम रत्नों का उपहार अर्पित किया जा रहा हो ॥ १९५ ॥

साणंद-रोहिणी-बाहु-वलय-पडिबद्ध-बीअ-परिवेसो ।
जाओ पसण्ण-गह-मंडलावलंबी णिसा-णाहो ॥ १९६ ॥
विब्भम-परिरंभण्णोण्ण-मिलिअ-मणि-दाम-मुहल-थण-बिंबो ।
लास-लय-कंस-तालो व्व चलइ सुर-सुंदरी-सत्थो ॥ १९७ ॥
किरण-किलामिअ-परिअर-भुअंग-विस-जलण-धूम-तिमिरेहिं ।
उव्वेल्ल-महामणि-दंतुरेहिं चलिअं णिहाणेहिं ॥ १९८ ॥
वहइ महिंदो साणंद-सुंदरी-विहुअ-वास-संवलिअं ।
हरिसावसरंमि वि विसम-विअसिअं लोअण-सहस्सं ॥ १९९ ॥
रहमुद्ध-तिअस-करि-दंत-दंड-परितुलिअ-रवि-रह-तुरंगो ।

राजा यशोवर्मा को इस समय इस रूप में देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानों उन निशानाथ चन्द्रमा का ही दूसरा रूप हो जो रोहिणी की बाहु से परिवेष्टित प्रसन्न ग्रहमण्डली के मध्य विचरण कर रहे हों ॥ १९६ ॥

उन सुरसुन्दरियों के झुण्ड के झुण्ड आगे बढ़े जिनके स्तन अत्यन्त विस्तृत थे और परस्परालिंगन से उनके शरीर पर शोभा पाने वाले रत्न तथा कण्ठहार गिर रहे थे जिसे देखकर ऐसा लगता था मानो लास्य नृत्य के कारण उनके चरणों के कांस्य ताल बज रहे हों ॥ १९७ ॥

राजा यशोवर्मा की सेना के पदभार से उद्वेलित पृथ्वी के अन्तस्तल में पड़े हुए वे रत्नमणि समूह, जिनकी रक्षा में भुजंग वृन्द लगे हुए थे ऊपर की ओर उठने लगे जिसके कारण निधान का तल खुरदरा हो गया पीड़ित भुजंगों से रत्नों की प्रभा मलिन हो गयी ॥ १९८ ॥

यहाँ तक कि आनन्द के अवसर पर भी देवराज इन्द्र के सहस्र लोचन आनन्दातिरेक में सुर-सुन्दरियों के द्वारा हिलाये जाते हुए वस्त्रों के कारण अस्त-व्यस्त से विकसित हो रहे थे ॥ १९९ ॥

दिग्गजों ने लीला पूर्वक अपने दाँतों को ऊपर उठाया जिसके

तोरण-णिबद्ध-जय-पल्लवो व्व जाओ णह-विआणो ॥ २०० ॥
इअ से पसत्थ-पत्थाण-समय-संभाविऊसव-विआसो ।
जाओ पहरिस-हीरंत-सुहिअ-हिअओ तिअस-लोओ ॥ २०१ ॥

अवि अ ।

आमूल-वलिअ-वामोरु-वल्लरी-लंघिएअरोरु-लअं ।
तंस-ट्ठिअ-दर-परिअत्तिअंग-दिट्ठेक्क-थण-वट्टं ॥ २०२ ॥
विणिअत्त-हार-वलअग्ग-मिलिअ-मासल-णिअंब-पेरंतं ।
वलणा-मडह-ट्ठिअ-मज्झ-कड्डिओव्वत्त-रोम-लअं ॥ २०३ ॥
सहि-खंध-ट्ठिअ-दाहिण-पउट्ठ-वलिओणआणण-मिअंकं ।

ऊपर रवि-रथ के तुरंग अटक गया और नभ के वितान में तोरण निबद्ध जय पल्लव-सा तन गया ॥ २०० ॥

[आगे के ७ पदों में कवि ने विविध मुद्राओं में यशोवर्मा की सेना का अवलोकन करती हुई सुन्दरियों का रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है ।]

इस प्रकार यशोवर्मा की सेना की विजय-यात्रा देखकर स्वर्ग के देवगण हर्षोल्लास में समारोह मनाने लगे और उनके हृदय एक अद्‌भुत आनन्द से परिपूर्ण हो उठे ॥ २०१ ॥

एक सुन्दरी वल्लरी की भाँति अपनी बाईं जघन के बल पर नितम्ब के आधार पर वह किञ्चित् तिर्यक्-सी खड़ी हो गई थी जिससे उसका एक ही विस्तृत स्तन दिखाई पड़ रहा था ॥ २०२ ॥

यह सुन्दरी रत्नों का एक वृहद् हार धारण किये थी । वह जैसे ही घूमी वह हार नीचे की ओर खिसका और उसका एक छोर उस सुन्दरी के नितम्ब तक पहुँच गया जिससे वल्लरी की भाँति उसके वक्ष के अधो भाग की रोमावलि में रोमांच होने लगा क्योंकि वह हार उसी पर घर्षण कर रहा था ॥ २०३ ॥

यह स्त्री अपनी सखी के पीछे खड़ी थी और अपनी दाहिनी कलाई (हाथ) उस सखी के वाम स्कन्ध पर रखे हुए थी तथा

एक्केकम-णिविड-करंबिअंगुली-मिलिअ-कर-किसलं ॥ २०४ ॥

परिअत्त-सरल-कुंतल-णालंजिअ-दाहिण-त्थणद्धंतं ।
लीला-वंधुर-सीमंत-पअड-चूडा-मणि-च्छाअं ॥ २०५ ॥

ओणविअ-सवण-तवणिज्ज-मंजरी-रूद्ध-कुंडलालोअं ।
वलिआगअण्ण-ताडंक-मलिअ-थण-कुंकुमालेक्खं ॥ २०६ ॥

इअ वसुहाहिव-दंसण-वलंत-णअणुप्पलाववअंसाण ।
भवण-सिहरेसु पुर-सुंदरीण परिसंठिअं सहइ ॥ २०७ ॥

किं च ।

अज्ज वि जस्स हराणल-जालावलि-संभमं भरंतस्स ।

अपने चन्द्रमुखमण्डल को हथेलियों पर जो आपस में जुड़ी थीं टिकाए हुए थी ॥ २०४ ॥

उसकी सरल केशराशि के फैलने से उसका दाहिना स्तन आधा ढँक गया था और जब उसने अपना सिर नीचा किया तो उसकी माँग में लगी हुई चूड़ामणि की छाया उस पर पड़ने लगीं ॥ २०५ ॥

एक सुन्दरी अपने दाहिने कर्ण को दायीं ओर हाथ के सहारे झुकाये हुए थी और उसका कर्णाभूषण जो या तो उसकी चोटी से बँधा था या उसके कान से ही लटका था, नीचे झुककर उसके कुण्डल के ऊपर आ गया और उसका बायाँ कान एक ओर हो गया तथा उसका कर्णाभूषण लटककर उसके स्तन पर लगे हुए कुंकुम को घिसने लगा ॥ २०६ ॥

इस प्रकार राजा यशोवर्मा के दर्शन की एक झलक पाने के लिए नगर की सुन्दरियाँ अपने भवनों के शिखरों पर स्थित हो कर अपने पद्मलोचनों से निरखने लगीं ॥ २०७ ॥

और भी--

प्रेम के देवता कामदेव ने कुसुमित अशोक तरू से अपनी दृष्टि शीघ्र हटा ली क्योंकि उन कुसुमों की अंगार सदृश आकृति देखकर

कुसुम-कविसे असोए वि झत्ति दिट्ठी समुव्विअइ ॥ २०८ ॥
सो वि ससि-बंधवो जाण दंसणे पणइणीण कोवंकं ।
कुणइ च्चिअ कुंद-सिहा-कसाअ-गंड-त्थलं वअणं ॥ २०९ ॥
दिट्ठे पहुम्मि अबलाण ताण आविद्ध-चंदण-कसाओ ।
वसिओ अंगेसु समंत-पीण-कण-कब्बुरो सेओ ॥ २१० ॥
दिट्ठी सचंदणेसुं आरोविअ-रोअणेसु रमणीण ।
तस्स णिसण्णा पुण्णाह-रअअ-वत्तेसु व मुहेसु ॥ २११ ॥
अवि अ ।
समरेसु खग्ग-धारा-गआएँ पडिपेल्लिऊण रिउ-खग्गं ।

उसे शिवजी की तीसरी आँख की ज्वाला का स्मरण हो गया ॥ २०८ ॥

चन्द्र तो कामदेव का घनिष्ठ मित्र है। इस कामदेव को इन स्त्रियों के प्रति रोष हो आया क्योंकि उसने देखा कि उसकी रति एवं प्रीति नामक दोनों पत्नियों के कपोल ईर्ष्या के कारण कुन्द पुष्प की भाँति विवर्ण हो उठे थे ॥ २०९ ॥

इन स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों से उद्भूत प्रस्वेद से उनके शरीर पर लेप किए हुए चन्दन की छवि धीरे-धीरे धूमिल होने लगी ॥ २१० ॥

[आगे के ४१ पदों के कुलक में कवि ने राजा यशोवर्मा के गौरव का जो वर्णन किया है उसे सुनकर पर्वतों के भी पंख विदीर्ण करने वाले इन्द्र को भी विस्मय हो उठता था।]

राजा यशोवर्मा के नेत्र उन नगर सुन्दरियों के मुखमण्डल पर टिक गये जिनके शरीर पर चन्दन तथा गोरोचन का लेप लगा था जो रजत पात्र के सदृश लग रहे थे ॥ २११ ॥

वन्दीजन राजा की कीर्ति का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—जब तुमने युद्ध के मैदान में अपने खड्ग से रिपु के खड्ग को प्रति-प्रेरित किया (पीछे हटा दिया) तब मानो तुम्हारे खड्ग की धार

दिट्ठो सिरीएँ तं णील-मणि-कवाडंतरेणं व ॥ २१२ ॥
सइ सुहडासि-णिवासा संकंतायस-मल व्व सामाइ ।
जा दोस-रआ सा णवर फुरइ तइ णिम्मला लच्छी ॥ २१३ ॥
तुह जाअ-मच्छरेण व णरिंद उब्भिउडिणा णडालेण ।
सअल-णडालाइं चिअ ठवियाइँ पणाम-मग्गम्मि ॥ २१४ ॥
गहिओ विवलाअंतीएँ पाणिणा तुइ असी रणग्गम्मि ।
सहसा वेणी-दंडो व्व फुरइ पडिवक्ख-लच्छीए ॥ प ॥
पुरओ पुरओ तुम्हारिसेहिँ विअडेहिँ भूमि-वालेहिं ।
विवरीअग्ग-सरूबो व्व एस परिवड्ढिओ वंसो ॥ २१५ ॥
सहइ णरिंद परिणओ मग्गोप्पिअ-दंड-पाबिअ-त्थामो ।

पर बैठी हुई लक्ष्मी ने तुम्हें नीलमणि के कपाट के अन्दर से झाँककर देखा ॥ २१२ ॥

(अत्यन्त लावण्यमयी होने पर भी) लक्ष्मी आपके महारथियों की असिधारा में निरन्तर निवास करने से लौह-संयोग के कारण कृष्णवर्णा हो गई हैं, इस प्रकार जो (परसंग से) दोषयुक्ता थीं वहीं इस समय आपके साथ निर्मला हो गई हैं ॥ २१३ ॥

हे नरेन्द्र ! आपके ललाट पर क्रोध के कारण भृकुटी टेढ़ी होते ही सारे नरेशों के ललाट आपके समक्ष अवनत हो जाते हैं ॥ २१४ ॥

पलायमान प्रतिपक्ष की लक्ष्मी जब अपने हाथों से तुम्हारे खड्ग का आलम्बन करती है तब वह तुम्हारा खड्ग लक्ष्मी के वेणीदण्ड के समान शोभित होता है ॥ प ॥

आपके वंश की उत्तरोत्तर वृद्धि तो बाँस की वृद्धि के प्रतिकूल दिखाई पड़ती हैं क्योंकि आप अपने पितृदेव से कहीं अधिक महान् हैं और वे अपने पितृदेव से महान् थे परन्तु बाँस तो पहले मोटा होता है जैसे-जैसे ऊँचा होता है, वैसे-वैसे पतला होता जाता है ॥ २१५ ॥

आपके राजसी गौरव के पास रहते हुए आपका धर्म पुराने

सिरि-सुंदरीऍ पासे तुह धम्मो सोविदल्लो व्व ॥ २१६ ॥
दीहर-पआव-मूलं लच्छी पास-ट्ठिआ जसुग्घाअं ।
कंचण-दंडं पिव धवल-चामरं तुज्झ धारेइ ॥ २१७ ॥
विहवाअंतारि-वहू-समूह-पडिभग्ग-वलय-रासि-णिहा ।
तुह जस-कुडुक्केरा दिसासु सअलासु दीसंति ॥ २१८ ॥
भरिमो असिं तु संगर-फुरंत-माअंग-मोत्तिअ-मऊहं ।
धारा-जलुत्त-विसमिव सिरीऍ पिअ-गेह-णलिणीए ॥ २१९ ॥
भीअ-परित्ताण-मइं पइण्णमसिणो तुहाहिरूढस्स ।
मण्णे संका-विहुरेण वेरि-वग्गे वि अव्वआसो ॥ २२० ॥
दारिअ-रिउ-गअ-मअ-सुरहिणि त्ति णिच्चं चला वि भमरि व्व ।

राजकर्मचारी की भाँति अत्यन्त आकर्षक हो गया है क्योंकि दण्ड व्यवस्था के कारण उसमें शक्ति तथा स्थायित्व का निवास हो चुका है ॥ २१६ ॥

प्रबल प्रताप से समुद्भूत आपका यश स्वर्णदण्ड युक्त चँवर के समान है जिसे पार्श्व में स्थित लक्ष्मी आपके ऊपर डुलाती है ॥ २१७ ॥

आपका गौरव दशों दिशाओं में इस प्रकार बिखरा पड़ा है मानों आपके द्वारा बधे गये आपके शत्रुओं की स्त्रियों के कंकनों के टुकड़े यत्र-तत्र छितराये हुए हैं ॥ २१८ ॥

युद्ध में आपकी तलवार से हाथियों के मस्तक से निकले हुए गजमुक्ताओं का हम आज भी स्मरण करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानों जल की तीव्रधारा में लक्ष्मी के निवास पद्म बिखर कर बह रहे हों ॥ २१९ ॥

भयातुरों का परित्राण करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध आपकी तलवार के समक्ष, ऐसा लगता है, भय के मारे आपके शत्रुओ के बचने का कोई अवसर नहीं है ॥ २२० ॥

हे राजन् ! तुम्हारे जिस खड्ग ने रिपु के गज को विदारित किया है और जिस कारण से वह खड्ग लता मद की सुरभि से

खग्ग-लआए णिवसइ फरुसाएँ वि तुज्झ राअ सिरी ॥ फ ॥
कोऊहलेण आहव-पलोइआ गारवोप्पिअ-करेण ।
पट्ठीआ परामुट्ठा तुमाइ पणआण वेरीण ॥ २२१ ॥
णिवसिज्जइ जय-वारण-कुंभ-विभेअ-क्खमे तुह असिम्मि ।
तद्दिअसं मुत्ता-कोस-संचआसाएँ व सिरीए ॥ २२२ ॥
सो णत्थि च्चिअ इह जो णरिंद णेहिइ णडाल-वट्टं वो ।
अच्छोहिंतो करुणा-मआइँ णणु वारि-बिंदूइं ॥ २२३ ॥
तद्धण-धणं व धरिआ लच्छी वच्छ-त्थले महु-महेण ।
भिच्चत्थि-बंधवेसु ण उण विहत्ता जह तुमाइ ॥ ब ॥
अहवा ।
उप्पअणाअर-संपिंडिअंग-गिरि-णिवह-गारवोणमिअं ।

युक्त हो गयी है उसके परुष होने पर भी तुम्हारी लक्ष्मी उसी पर निवास करती है ॥ फ ॥

युद्धभूमि में वीरता के साथ लड़ते हुए जब आपके शत्रु पलायन करने लगते हैं तो उनकी पीठ देखकर कुतूहल पूर्वक आप उनकी पीठ पर प्रशंसा से हाथ फेरते हैं, और वे आपके चरणों में नतमस्तक हो जाते हैं ॥ २२१ ॥

शक्तिशाली-विजयी-गज मस्तक को विदीर्ण करने वाली आपकी तलवार में नित्यप्रति लक्ष्मी इस आशय से निवास करती हैं मानो वे मुक्ता-कोष एकत्रित करना चाहती हों ॥ २२२ ॥

हे नरेन्द्र ! एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं दिखाई देता है जो अपने नेत्रों से आपके ललाट-पट्ट को करुणामय वारिबुद से युक्त न देखे ॥ २२३ ॥

तुम्हारी धरोहर लक्ष्मी को विष्णु ने अपने हृदय में धारण किया किन्तु भृत्यों के प्रति अनुकम्पा के कारण उन्होंने अपने बान्धवों में विभक्त नहीं किया ॥ ब ॥

पृथ्वी में इतनी गुरुता आ गई थी कि शेषनाग के लिए उसका

सव्वाअर-वोढव्वं जाअं सेसस्स महि-वेढं ॥ २२४ ॥
पक्खंतराल-परिअत्तमाण-रवि-मंडला णह-अलम्मि ।
होंति अणागअ-संगअ-कुलिसा इव सेल-संघाआ ॥ २२५ ॥
मारुअ-भरंत-कंदर-गारव-परिमंथरं वलग्गंति ।
वेअ-विअसंत-पाअव-णूमिअ-कडअंतरा गिरिणो ॥ २२६ ॥
आरोहंति णह-अलं तारुज्जोइअ-गुहा-मुहाहोआ ।
अण्णोण्ण-पेहुणाणिल-हीरंत-विसंठुला सेला ॥ २२७ ॥
उप्पअणोहुर-पीलिअ-सरीर-मउलंत-विवर-णिव्वूढा ।
उद्धं णिवद्ध-बेआ णिज्झर-धाराओ णिवडंति ॥ भ ॥

भार उठाना अत्यन्त दुरूह हो गया जब कि पंख कट जाने से गिरे हुए पर्वत समूह बार-बार उठकर उड़ने की चेष्टा करते तो पृथ्वी का भार कई गुना बढ़ जाता था ॥ २२४ ॥

जिस समय पर्वत उड़ा करने थे उस समय उनके पंखों की चपेट से बचने के लिए सूर्य-मण्डल इधर-उधर हो जाता था और उस समय सूर्य-मण्डल की चमचमाती हुई प्रभा को उन पर्वतों के ऊपर देखकर ऐसा लगता था मानों यह सूर्य-मण्डल नहीं इन्द्र का बज्र है जो पर्वतों के पंख काटने के लिए तत्पर है ॥ २२५ ॥

पर्वत ऊपर तो उठे परन्तु गुफाओं में वायु भर जाने से वे इतने भारी हो गये कि ऊपर उठने की उनकी गति धीमी हो गई और उनकी चोटियाँ उन घने तरूओं से ढंक गई थीं जिनकी शाखाएँ वायु के तीव्र झोंके से तितर-वितर हो उठी थीं ॥ २२६ ॥

पर्याप्त ऊँचाई पर उड़कर पहुँचने वाले पर्वत अब नक्षत्रों के समीप हो गए जिनकी प्रभा से गिरिगुहा प्रकाशमान हो उठीं साथ ही एक-दूसरे के अगल-बगल होने से पंखों से उत्पन्न वायु-संघात के कारण उनकी गति भिन्न तथा धीमी हो गई थी ॥ २२७ ॥

उत्पटन के कारण अधोमुख हो जाने से और दबाव से संकुचित विवरों वाले पर्वत से निर्झर की धारायें वेगयुक्त और ऊर्ध्वमुख हो गयी हैं ॥ भ ॥

मुक्क-तुसारासारं लीलुड्डीणम्मि तुहिण-सेलम्मि ।
वेवइ अच्छक्कागअ-हिमकाल-किलामिओ लोओ ॥ २२८ ॥
उप्पअण-रुद्ध-गअणा दूरुग्गम-णिव्वडंत-णह-लहुआ ।
मूएंति मूल-मडहं खमग्ग-विअडं व धरणि-हरा ॥ २२९ ॥
दूरअरं उप्पइआ अद्ध-ब्हत्थमिअ-णिज्झर-तुसारा ।
दीसंति विअड-लहुआ पणट्ठ-काया महा-गिरिणो ॥ २३० ॥
जं जं समुप्पअंता मुअंति सेला णहंगणुद्देसं ।
तं तं पुंजिअ-बहलो भरेइ मुहलुब्भडो पवणो ॥ २३१ ॥
पासोसरंत-तल-मग्ग-घडिअ-कम-लहुअ-मासल-च्छाया ।
उड्डंति पक्ख-विअलिअ-दिग्गअ-दाणोज्झरा गिरिणो ॥२३२॥

अपनी इस उड्डयन-लीला में नगराज हिमालय तुहिन-पुष्प वर्षा कर रहा था जिसके कारण लोग ठण्ड के मारे काँपने लगे और ऐसा प्रतीत हुआ मानो अचानक शीत ऋतु का आगमन हो गया हो ॥ २२८ ॥

पर्वतों के ऊपर उड़ जाने से पृथ्वी-वासियों के लिए अब आकाश का दर्शन लुप्त हो गया और अधिक ऊँचाई पर पहुँचे हुए पर्वत आकाश की अपेक्षा अत्यन्त लघु लग रहे थे, इस प्रकार आकाश नीचे तो छोटा दिखता था परन्तु ऊँचाई पर विशाल ॥ २२६ ॥

धरा पर विशाल दिखने वाले गिरिसमूह ऊँचाई पर पहुँचकर छोटे हो चले थे क्योंकि अपनी विराटता खो कर अब वे मात्र लघु-काय थे । उनके निर्झर प्रपात जो पृथ्वी पर निरन्तर बहा करते थे इस समय ऊँचाई पर जैसे लोप हो गये थे ॥ २३० ॥

घना तथा भारयुक्त घोर झंझावात उस समय उड़ते हुए पर्वतों द्वारा खाली किए गए गगन के आंगन को भर देता था ॥ २३१ ॥

पर्वत जैसे-जैसे आकाश में उड़ते गए वैसे-वैसे उनकी घनी छाया उनके अधोभाग के समान छोटी होती गई और दिग्गजों का मधुर मदजल उनकी सूड़ों से निकलकर इन्हीं पर्वतों के पंखों से बहने लगा ॥ २३२ ॥

एंति गअणोसरंतेसु कह वि उम्मुह-सुमीर-हीरंता ।
थोउप्पअइ-णिविट्ठा सेलेसु विहंग-संघाआ ॥ २३३ ॥
ओअरण-विसेसिज्जंत-रवि-अरालोअ-चंचल-च्छाया ।
दीसंति पविरलाओ व वेउद्ध-दला वणालीओ ॥ २३४ ॥
इअ जेण णहंगण-गोअराण खुडिआओ पक्ख-मालाओ ।
सेलाण सो वि तं चिंतिऊण अंदोलइ महिंदो ॥ २३५ ॥
अणुधारं संदट्टेभ-मोत्तिए तुह असिम्मि सच्चविआ ।
लीला-दर-दाविअ-हार-मेत्त-पअडव्व जय-लच्छी ॥ २३६ ॥
अयसेण रिऊण करंबिआओ कित्तीओ तुह धरिज्जंति ।
कुवलय-दल-संवलिआ मालइ-मालाओ व दिसाहिं ॥ २३७ ॥

पंख कटते ही पर्वत समूह नीचे गिरने लगा जिससे आकाश में प्रचण्ड वायुवेग फैल गया और जो पक्षीगण उन पर्वत शिखरों पर उड़ रहे थे इस वायु के झोंके में बह गए तथा जब पर्वत नीचे गिर गये तो वे सब पुनः इन्हीं शिखरों पर आ गये ।। २३३ ।।

पर्वतों के तल पर स्थित वनावलि भी आन्दोलित हो उठी जिससे सूर्य की प्रभा के साथ साथ उनकी छाया भी स्थान बदलने लगी अर्थात् जो क्षेत्र अब तक अन्धकारमय था वह इस समय प्रकाश में था । साथ ही वायुवेग से उठी धूल में वृक्षों की पत्तियों के उड़ जाने से अब वे पतले तथा स्वल्प दिखने लगे थे ।। २३४ ।।

ऐसे देवराज इन्द्र भी जिन्होंने अपने वज्र से पर्वतों के पंख काट दिए थे, इस समय राजा यशोवर्मा की रथ-यात्रा का दृश्य देखकर चलायमान हो उठे थे ।। २३५ ।।

हे राजन् ! इस समय जयलक्ष्मी प्रणय लीला के कण्ठहार की भाँति आपकी असिधार में निवास कर रही हैं जिसमें गजमुक्ता-राशि लिपटी हुई है ।। २३६ ।।

आपका यश आपके शत्रुओं के अपयश से गुँथकर मालती के हार सदृश हो गया है जिसके बीच-बीच में नील कमल गुँथे हुए हैं ।। २३७ ।।

पडिबद्धं णवर तुमे णरिंद-चक्कं पआव-विअडं पि ।
गह-वलयमणुच्छित्ते धुवे व्व परिअत्तइ णरिंद ॥ २३८ ॥
समरम्मि करे विप्फुरइ णवर एक्को असी तुह च्चेअ ।
जो पावइ णिअ-जस-सोम-मंडले लंछण-च्छायं ॥ २३९ ॥
सविमो अणज्जुणमिमं अमहिंदमवासुइं च अप्पाणं ।
सेवंजलि-दंसण-गुण-कहासु तुह जो ण पज्जत्तो ॥ २४० ॥
णिवडइ पडण-समुच्छलिअ-जलण-कण-जाल-जडिल-धारग्गो ।
विमुह-गह-मंडलाअट्टिओ व्व खग्गो तुह रिऊसु ॥ २४१ ॥
तुह पडिवक्खेसु भया कत्थ वि अविलासमावसंतेसु ।
आरोवेइ ण काअर-गणणाएँ व चावमसमसरो ॥ २४२ ॥

अत्यन्त प्रतापी भूपतियों का समूह आपके चारो ओर इस प्रकार घेरे रहता है जैसे नक्षत्रगण ध्रुव के चारो ओर स्थित रहते हैं ॥ २३८ ॥

युद्ध में तो केवल आपके हाथ में पड़ी हुई तलवार ही चमकती है जिसने मानो आपके धवल यश रूपी चन्द्र बिम्ब में लाञ्छन की छवि प्राप्त कर ली है ॥ २३९ ॥

हम तो स्वयं को इस बात के लिए अभिशप्त पाते हैं कि यदि हम सहस्रार्जुन होते तो हजार हाथ जोड़कर आपकी स्तुति करते अथवा यदि इन्द्र होते तो हजार नेत्रों से आपकी शुभ्र मुखच्छवि का दर्शन करते और यदि वासुकिनाग होते तो सहस्रमुख से आपका यशोगान करते ॥ २४० ॥

हे राजन् ! जिस समय आपकी तलवार की धार शत्रुओं के ऊपर पड़ती है उस समय उसकी धार से अग्निकण छितराने लगते हैं, लगता है जैसे कोई प्रतिकूल ग्रह चक्कर काट रहे हों ॥ २४१ ॥

भय से यत्र-तत्र छिपे हुए तथा कष्टकारी जीवन बिताने वाले आपके शत्रुओं के ऊपर कामदेव भी उन्हें कायर समझकर बाण नहीं चलाते हैं ॥ २४२ ॥

सुहडाअड्डिअ-कोअंड-चंड-रव-दारुणे रणे तं सि ।
परिरद्धो भीयाएँ व सहसा गाढं जय-सिरीए ॥ २४३ ॥
सोहइ समागमेसुं अहिअ-पआव-प्पईव-मालासु ।
वावारेंती कण्णुप्पलं व खग्गं तु जय-लच्छी ॥ २४४ ॥
जं इअरोवद्दव-विद्दुआ वि मज्जंति तुइ रिऊ णाह ।
बहु-रूवा ता धाराओ णवर तुइ मंडलग्गस्स ॥ २४५ ॥
पणइ-अणत्थं आमुअइ कणअमिणमो इह ड्डिआ लच्छी ।
कवआवडिआ असिणो तु णेंति णामी सिहि-फुलिंगा ॥ २४६ ॥
कोवेण व कअ-कंपं रहसुद्ध-परिड्डिआएँ घडिआइं ।
तुह तज्जणीएँ कज्जाइं चंड-भुअ-दंड-दूईए ॥ २४७ ॥

रणभूमि में महारथियों के धनुष की टंकार से सहमी हुई जय-लक्ष्मी दौड़कर आपसे लिपट जाती है ॥ २४३ ॥

आपके आलिंगन पाश में बँधी हुई जयलक्ष्मी अत्यन्त आकर्षिका लग रही हैं तथा नीलकमल की भाँति आपकी कृपाण कर्णोत्पल के समान अपने कर्ण से लगाकर वैरिदल के प्रताप रूपी दीप पंक्ति बुझा रही हैं ॥ २४४ ॥

हे महाराज ! आपकी कृपाण का प्रभाव शत्रु दल पर कई प्रकार से पड़ रहा है क्योंकि कई तो कृपाण की धार से कट-पिट रहे हैं और बहुत से तो केवल हत्या का भयावह दृश्य देख-देखकर ही प्राण त्याग रहे हैं ॥ २४५ ॥

जिस समय आपकी कृपाण वैरियों के कवचों पर पड़ती है उस समय उनसे अग्नि स्फुलिंग छितराने लगते हैं परन्तु सच तो यह है कि वे अग्नि कण नहीं हैं वरन् आपकी कृपाण में वसने वाली लक्ष्मी अपने प्रेमियों के लिए सुवर्ण दान कर रही हैं ॥ २४६ ॥

आपकी तर्जनी के संकेतमात्र से ही आपके सारे कार्य सम्पन्न हो रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है मानो यह तर्जनी आपकी भुजा की राजदूतिका है जो मारे कोप के इस समय काँप रही है ॥ २४७ ॥

आरूढो पासाअक्कमेण तह तं सि उवरि लोअस्स ।
एक्को अ सो जहा वो अंडअ-बंधाअए मउली ॥ २४८ ॥
बाहु-सिहरेसु दीसइ कामिणि-संकामिएण मअ-तिलओ ।
भू-भारुव्वहण-वसा परिट्ठिओ पंक-लेसो व्व ॥ २४९ ॥
भुमअग्ग-भमिर-लच्छी-चलणालत्तअ-णिहो तुवि प्फुरइ ।
अवअंसारुण-मणि-मंजरी-भवो राअ-विच्छड्डो ॥ २५० ॥
होंति कअत्था पणई णह-माला-चलण-रोहणे तुज्झ ।
आअंब-मणि-गुहाआ व विसिऊण पणाम-संकंता ॥ २५१ ॥
अल्लीणा रहसागम-परिवत्तिअ-केसवंसुअ-धर व्व ।
कवअ-दलणुग्गआणल-सिह-च्छला वो असिं लच्छी ॥ २५२ ॥

हे नरेन्द्र ! औरों को एक किनारे करके आप संसार-शिखर पर इस प्रकार विराजमान हैं कि आपका राजमुकुट गुम्बद की भाँति दिख रहा है ॥ २४८ ॥

आपके स्कन्धों पर कामिनियों द्वारा अंकित मदतिलक देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो पृथ्वी का भार उठाये रहने के कारण यह पंकचिह्न लग गया है ॥ २४९ ॥

आपकी स्त्रियों ने अपने कानों में अरूण मञ्जरी धारण कर रक्खी है जिसकी लालिमा आपके मुखमण्डल पर इस प्रकार चमक रही है जैसे आलता लगे लक्ष्मी के उन चरणों के चिह्न हैं जो आपके भँवों पर निरन्तर विराजते हैं ॥ २५० ॥

प्रणयी लोग आपके चरणों में नत मस्तक होने पर स्वयं को कृतार्थ समझते हैं क्योंकि आपके अरूण तथा दीप्त नखों को देखकर उन्हें ऐसा प्रतीत होता है जैसे उन्होंने मणि गुफा में प्रवेश कर लिया हो ॥ २५१ ॥

आपकी कृपाण में लक्ष्मी उस अग्नि स्फुलिंग के वेष में निवास करती हैं जो शत्रुओं के कवचों पर प्रहार करने से छूटकती हैं । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों उन्होंने विष्णु का नीलांशुक धारण कर रखा हो ॥ २५२ ॥

इअ जो थुव्वइ पहरिस-पूर-परिक्खलिअ-विसम-कंठेहिं ।
वन्दीहिँ कइंदेहिँ च भूअत्थेहिं चिअ गुणेहिं ॥ २५३ ॥

इअ चाडु-चउर-चारण-संचारिअ-चंद-चारु-चरिएण ।
णअराओ णर-वरिंदेण णिग्गअं णिग्गअ-जसेण ॥ २५४ ॥

किं च ।

जवपचमाणस्स सरीर-चारिणो गब्भ-वसहि-गेहेसु ।
जाण परिअत्तणेण व आवत्त गईआँ णिव्वडिआ ॥ २५५ ॥

जे कुंकुम-त्थलीसुं केसर-भंगारुणेहिँ दावेंति ।
पइ-परिहोअं व महीएँ णव-णहंकं खुर-वएहिं ॥ २५६ ॥

जे पोह-खण-परिट्ठिअ-संखाअ-प्फेण-पिंड-घडिएहिं ।
हेसा-रवेहिँ पूरिअ-पयाण-संख व्व दीसंति ॥ २५७ ॥

इस प्रकार कविगण तथा बन्दीजन हर्षविभोर होकर विषम कण्ठों से राजा यशोवर्मा की यथार्थ कीर्ति का गान करते हैं ॥२५३॥

इस प्रकार राजा यशोवर्मा जब नगर से बाहर चलते थे तो चारू चन्द्र की भाँति चारणों द्वारा उनकी कीर्ति आगे-आगे चलती थी ॥ २५४ ॥

[आगे के ८ पदों में कवि ने राजा यशोवर्मा के शूरवीरों की विजय-यात्रा के दृश्य का वर्णन किया है ।]

राजा के अश्व इतने वेग से दौड़ रहे थे मानों उन्होंने जवपचमान नामक वायु के संचार से इस तीव्र चाल की शिक्षा माँ के गर्भ में ही प्राप्त कर ली हो ॥ २५५ ॥

अश्वों के खुर केसर के क्षेत्र में पड़ते थे जो गोल तथा लाल-लाल दिखते थे । उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो पृथ्वी पर पड़े ये गोल तथा लाल चिह्न राजा के नख चिह्न हैं जो भोगकाल में आनन्दातिरेक में अंकित हुए हैं ॥ २५६ ॥

अश्वों के मुखाग्र पर लगे फेन—मार्ग से निःसृत उनकी हिन-हिनाहट ऐसी प्रतीत होती है मानों राजा की सैन्य-दल यात्रा पर शङ्खनाद हो रहा है ॥ २५७ ॥

आयाण-मरगअ-च्छवि-विच्छड्डाडंबरेण मुंचंति ।
जे बाल-जव-रसं पिव सयराहा पीअमंगेहिं ॥ २५८ ॥
दिण्णाओ पणालीओ व सम-वारि-विणिग्गमाअ धारेंति ।
परिछिण्ण-मज्झ-रेहा-णिहेण जे जहण-बंधेण ॥ २५९ ॥
मग्गेसु गुरु-बला वेअ-गाढ-णिवडंत-कोडि-टंकेहिं ।
उच्चाऊणं व लिहंति जे टआरे खुग-उडेहिं ॥ २६० ॥
जे अज्ज वि हिम-सेलंत-संभवा अणह-सीअ-विअण व्व ।
गुरु-तेअ-प्पसर-रसा ठाणे च्चिअ किंपि कंपंति ॥ २६१ ॥
आरूढ जोह-णिवहा ते तस्स तरंगिणो जय-तुरंगा ।
सूअंति व्व पहरिसं जाआ पुरओ णरिंदस्स ॥ २६२ ॥

अश्वों के शरीर पर मरकतादि मणियुक्त आभूषण विराज रहे हैं जिनका हरितवर्ण देखकर ऐसा लगता है मानो जो हरी घास उन्होंने खाई है वही अब उनके शरीर से बाहर निकल रही है ॥ २५८ ॥

वे अश्व हृष्ट-पुष्ट हैं तथा उनका जघनभाग अति सुन्दर है जिसे देखकर ऐसा लगता है मानो श्रमवाणी के बाहर निकलने के लिए सुन्दर नालियाँ बनी हों ॥ २५९ ॥

अश्वों के खुर क्षीण तथा नोकदार हैं और जब वे तीव्र गति से दौड़ते हैं तो वह ध्वनि टंकार के समान प्रतीत होती है तथा पृथ्वी पर पड़े वे खुर-चिह्न देवनागरी की 'टंकार' की भाँति दिखते हैं ॥ २६० ॥

हिमगिरि पर उत्पन्न होने वाले वे अश्व खड़े होते ही काँपने लगते हैं क्योंकि वेग से दौड़ने के कारण उनमे विश्राम हीनता आ जाती है और उनके इस प्रकम्पन से स्पष्ट हो जाता है कि प्रबल शीत आज भी उनकी जन्मभूमि की ओर सङ्केत कर रहा है ॥२६१॥

ये विजयी अश्व तथा उन पर सवार अगणित वीर अश्वारोही राजा के समक्ष तीव्र वेग से तरङ्गित चलते हुए ऐसे लग रहे हैं मानो राजा यशोवर्मा के साथ इस यात्रा में उन्हें अत्यन्त आनन्द का अनुभव हो रहा है ॥ २६२ ॥

अवि अ।

उवहाणं पिव लीला-वलिअ-क्कि-पिहु-करत्तणा देंति।
जे विअड-दंत-पल्लंक-कअ-णिवेसाएँ लच्छीए॥ २६३॥

दीसंति जाण परिअत्त-चलण-दलिआरि-सीस-भावेण।
अज्ज वि कवाल-सअल व्व पास-खुत्ता णह-क्खंडा॥ २६४॥

असरल-लीला-गइ-विअलिआहिँ जे तीहिँ दाण-धाराहिं।
राअ-सिरीएँ रअंति व विलास-वेणी-लअं सुरहिं॥ २६५॥

पासल्लिआण जे पडिगआण खुत्तग्ग-दंत-भावेण।
विब्भम-मुणाल दंडेहिँ रुहिर-सलिलं पिव पिअंति॥ २६६॥

जे चंचल-चामर-पम्हलेहिँ सोहंति कण्ण-तालेहिं।
उप्पअण-तरल-पक्ख व्व तिअस-गअ-जुज्झ-बुद्धीए॥ २६७॥

राजा यशोवर्मा के हाथियों ने अपनी सूँड़ ऊपर उठाकर अत्यन्त रोचकता से मोड़ रखी है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने विकट दन्त पर्यङ्क पर स्थित लक्ष्मी के लिए सुन्दर तकिया लगा रखा है॥ २६३॥

उन हाथियों ने शत्रुओं के सिरों को अपने पाँवों से रगड़-रगड़ कर इस प्रकार चूर्ण किया है कि आज भी उनके फटे हुए नखों में शत्रुओं के कपाल खण्ठ संलग्न हैं॥ २६४॥

उन हाथियों के मस्तकों से तीन मार्गों से वहती हुई मदधारा देखकर ऐसा लगता है मानो राजलक्ष्मी ने अपनी सुगन्धित सुन्दर वेणीलता फैला रखी हो॥ २६५॥

उन हाथियों ने शत्रुदल के हाथियों को मार-गिराया था जो वहीं पार्श्व में पड़े थे और उनके नुकीले दन्त को उनके मुख में डाल दिया था जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो वे उनका रूधिर सलिल कमलनाल के माध्यम से पान कर रहे हों॥ २६६॥

उनके कर्ण चञ्चल चँवर की भाँति इस प्रकार हिल-डुल रहे थे मानों वे स्वर्ग-गज से युद्ध करने की अभिलाषा से ऊपर उड़ने का प्रयत्न कर रहे हों॥ २६७॥

सुत्त-णिवेसं पिव देंति दीहरं दाण-वारि-धाराहिं ।
पडिवासरं पवित्थारिणीएँ जे पत्थिव-सिरीए ॥ २६८ ॥
ते तस्स जय-गइंदा सिअ-पिट्ठंतरिअ-सामल-च्छाया ।
सरआवणीअ-कलुसा जाआ पुरओ जलहर व्व ॥ २६९ ॥
किं च जाअं ।
णवरि अ थोअ-त्थोअं अग्घंति णिसीह-मुहल-कल-हंसा ।
दर-दूमिआरविंदा असार-सूराअवा दिअसा ॥ २७० ॥
सउण-मराल-जणवआ धूमाबद्ध-तिमिरा विराअंति ।
संज्झा-णिअंब-णव-पल्लव व्व रअणीण गो-सग्गा ॥ म ॥
कासार-विरल-कुमुआ अमलिअ-विच्छाय-चंद-परिवेसा ।
होंति बहलावसाया पहाअ-सिसिरा णिसा-बंधा ॥ २७१ ॥

वे हाथी राजा के सैन्यदल के आगे-आगे मदधार पृथ्वी पर गिराते हुए चलते थे जिससे यह प्रतीत होता था मानों वे राजा यशोवर्मा की कीर्ति प्रतिदिन चारो ओर फैला रहे हों ॥ २६८ ॥

इन विजय गजों के कृष्णवर्णी चर्म पृथ्वी से उठती धूलि-धारा से सनकर इस प्रकार श्वतवर्णी हो गये हैं मानो जल रहित शरत्कालीन मेघ हों ॥ २६९ ॥

(आगे के कुलकों में शरद ऋतु का वर्णन है ।)

इसके अनन्तर रात्रि में कुछ-कुछ कलरव करते कल हंसों की शोभा दर्शनीय होती है । कमलवृन्द भी किञ्चित् शिथिल दिख रहे हैं । साथ ही अब दिन में भी सूर्य का ताप मन्द हो चला है ॥२७०॥

धूप और तिमिर में विराजयान मराल कुल ऐसा दिखलाई पढ़ रहा है मानों कि रजनी की सन्ध्यायें नव पल्लव की भाँति उठ आयी हों ॥ म ॥

शीत की रातों में सरोवर के कुमुद वृन्द छविहीन हो उठते हैं यहाँ तक कि चन्द्र भी पीड़ा पड़ जाती है और प्रभात तो घने कुहरे से ढंक कर अत्यन्त शीतल हो जाता है ॥ २७१ ॥

घोलइ अलद्ध-किरणो तुसार-लव-लंम-धूसर-च्छाओ ।
रविणो अलंबुसा-कुसुम-पाडलो बिंब-परिणाहो ॥ २७२ ॥

अग्घंति सिसिर-सलिला अणिउंचिअ-कोंच-सारस-विरावा ।
खल-चुण्णिअ-कलमामोअ-वाहिणो गाम-सीमंता ॥ २७३ ॥

कं व ण हरंति णिबिडावसाय-संभिण्ण-सामल-करीसा ।
गोहण-विणिवेसुद्देस-धूसरारण्ण-पेरंता ॥ २७४ ॥

अक्कंत-करीसुम्हा-सुह-णिक्कंप-जहणं विणिक्कमइ ।
कह वि जडाअव-परिभोअ-मंथरं रोहिणी-जूहं ॥ २७५ ॥

इअ हेमंत-समिद्धासु गाम-सीमासु मेइणी-णाहो ।
दिट्ठिं दिंतो पत्तो कमेण सोणंकमुद्देसं ॥ २७६ ॥

आकाश में सूर्यमण्डल लाल अलम्बुष कुसुम की भाँति विचरण करता है क्योंकि शीत काल में उसकी किरणें भो साथ नहीं दे रही हैं तथा तुषारावच्छन्न होने के कारण उसका तेज मन्द हो चला है ।। २७२ ।।

ग्राम सोमान्तों पर शीतल जलाशयों में क्रौञ्च तथा सारस सुशोभित हो रहे हैं तथा कूटे जाते हुए धान के चूर्ण की सुगन्ध अत्यन्त मनोहर लग रही है ।। २७३ ।।

गाय के गोबर से [बने उपलों के घने धूम्र से ढंककर काले हुए वन प्रदेश की छवि किसका मन नहीं हर लेती है ? ।। २७४ ।।

गायों का झुण्ड किसी प्रकार मन्द गति से सूर्य का ताप प्राप्त करने के लिए बाहर निकलता है तो उनका जघन भाग उपलों की गर्मी पाकर कम्पन रहित होकर आनन्द का अनुभव करता है ।। २७४ ।।

इस प्रकार शीत ऋतु में समृद्ध ग्राम सीमान्तों का अवलोकन करते हुए पृथ्वीपति यशोवर्मा शनैः शनैः शोण नदी के तट पर विराजमान हो गए ।। २७६ ।।

मलिआ पूअ-प्फल-कोस-त्रडण-रज्जंत-पल्लला तस्स ।
सेणा-भडेहिँ णव-सालि-सालिणो गाम-सीमंता ॥ २७७ ॥
मत्त-कुररासु दिट्ठी सहरी-विप्फुरण-कंपिअ-जलासु ।
वीसमइ व वंजुलिणीसु ताण आहार-लेहासु ॥ २७८ ॥
ताण णिसम्मइ हिअअं अणाविलाहार-सलिल-सुहआसु ।
आ-मंजरी-परिग्गह-सुअंध-कलमासु सीमासु ॥ २७९ ॥
ल्हसमाण-जुओवत्तिअ-तुरंगम-क्खंध-केसरुप्पंको ।
उम्मुह-धुरं समारुहइ जत्थ रविणो रहो कह वि ॥ २८० ॥
वाहिं-गआण जस्स अ णत्थि च्चिअ णह-अलं ति पडिवत्ती ।

ग्रामों के बाहर नई धान की फसलें लहलहा रहीं थी तथा चारो ओर से शीतल जलाशयों से घिरी हुई थीं जो सुपाड़ी के फलों के गिरने से लाल हो उठी थीं और राजा के सैनिक उन्हें कुचलते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ २७७ ॥

उस समय उनकी आँखें उन जलाशयों की सीमा-रेखाओं पर टिक गयीं जो मत्त कुकर पक्षि-समूह से घिरे थे और जिनका जल स्फुरण करती मछलियों से चञ्चल था और जिनके तट पर स्थित नरकट गुच्छों के मध्य वे तैर रही थीं ॥ २७८ ॥

उनका हृदय बाह्य-क्षेत्र स्थित इन स्वच्छ जल वाले तथा जिनके चारो ओर सुगन्ध फैलाते हुए सुगन्धित तथा खिले हुए धान के खेत लहरा रहे थे, ऐसे जलाशयों को देख कर गद् गद् हो गया ॥२७९॥

[आगे के ५ कुलकों में कवि ने राजा यशोवर्मा की रणयात्रा में विन्ध्यगिरि का वर्णन प्रस्तुत किया है]

राजा की रणयात्रा में वह विन्ध्यगिरि मार्ग में पड़ता है जिसकी चोटियों पर सूर्य-रथ के अश्व बड़ी कठिनाई से चढ़ पाते हैं क्योंकि उनके स्कन्ध पर पड़े रथ के जुए किसी प्रकार ऊँचाई की ओर बढ़ तो जाते हैं परन्तु उनके स्कन्धों पर लगी केसर के कारण वे फिर पीछे की ओर खिसक जाते हैं ॥ २८० ॥

जिस पर्वत पर जो लोग ऊपर हैं वे उसकी ऊँचाई से सहज

कंदर-परिट्ठिआण अ सो च्चिअ णत्थि त्ति पडिहाइ ॥ २८१ ॥
बहु-कुहराविल-कडअत्तणेण णह-महि-अलंतर-णिवेसो ।
गहिऊण व वसुहद्धं जो गअणद्धं च णिम्मविओ ॥ २८२ ॥
जेण णहो-गअ-सिहरेण कुहर-पसरिअ-णहंगणेणं च ।
अण्णोण्णं कीलिअ-णिच्चलो व्व णह-महि-अलुच्छंगो ॥ २८३ ॥
विंज्झम्मि तम्मि रस-सुरहि-सल्लई-भंग-णिव्वुअ-गअम्मि ।
रोह णिरंतर-ताली-वणम्मि जाओ मही-णाहो ॥ २८४ ॥
अवि अ ।
वंदीकअ-महिसासुर-कुल-कंठुम्मोइएहिँ व तुमाए ।
माहवि घंटा-दामेहिँ मंडिअं तोरण-दारं ॥ २८५ ॥

अनुमान लगाते हैं कि आकाश का अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि पर्वत चोटियों के कारण आकाश दृष्टिगत ही नहीं होता है और इसके विपरीत जो गिरि गुफाओं में रहते हैं वे स्पष्ट रूप से समझ रहे हैं कि पर्वत का ही अस्तित्व नहीं है ॥ २८१ ॥

इस पर्वत की ऊँची चोटियों तथा गुफाओं को देखकर ऐसा प्रतीति होता है मानो विधाता ने इसे निर्मित करने में आधा भाग पृथ्वी तथा अर्धांश आकाश से लिया और इसे धरती और आकाश के मध्य स्थापित कर दिया हो ॥ २८२ ॥

जिसके शिखर आकाश का स्पर्श कर रहे हैं और आकाश भी इसकी गुफाओं में ही परिव्याप्त है जिससे ऐसा लगता है यह पर्वत पृथ्वी तथा अम्बर का धरातल हो ॥ २८३ ॥

इस पर्वत पर राजा सल्लकी तरू की सुगन्ध तथा रस का पान करने से प्रसन्न गज-समूह के साथ ऊँचे-ऊँचे तालवन से होते हुए आगे बढ़े ॥ २८४ ॥

[इसके आगे के ५३ कुलकों में कविने विन्ध्यवासिनी देवी का वर्णन करते हुए राजा द्वारा उनकी अभ्यर्थना तथा अर्चना प्रस्तुत की हैं]

हे माधवि ! आपके मन्दिर के प्रवेश द्वार जिन घण्टों से मण्डित है उन्हें तो आपने महिषासुर के सारे कुल का संहार करके छीना था ॥ २८५ ॥

दिट्ठं साहेज्जारूढ-तुहिण-गिरी-खंड-दिण्ण-पीढं व ।
महिसासुरस्स सीसं तुह चलण-णह-प्पहा-भरिअं ॥ २८६ ॥
भमरावलिओ भइरवि तुज्झं भवणाइरम्मि सामोए ।
थुइ-मेत्तुम्मोइअ-जंतु-णिअल-मालाओ व्व लुढंति ॥ २८७ ॥
णणु तुम्हं संभरणे रणम्मि विहडंति वारण-घडाओ ।
दूराओ च्चिअ वाहण-मइंद-रव-विद्दुआओ व्व ॥ २८८ ॥
तुह चंडि चलण-कमलाणुवत्तिणो कह णु संजमिज्जंति ।
सेरिह-वह-संकिअ-महिस-हीरमाणेण व जमेण ॥ २८९ ॥
तुहिण-गिरी देवि तुमाइ जणअ-भावेण गारवं णीओ ।
विंज्झाअलो वि कंदर-णिवास-लीलाएँ कल्लाणि ॥ २९० ॥

हे देवि ! महिषासुर के मस्तक पर आपने अपना चरण रखा है जिसकी नखद्युति से वह शुभ्र हो गया है जिसे देखकर ऐसा लगता है कि मानो आपके पितृदेव हिमालय ने आपके चरण न्यास के लिए बर्फ खण्ड रख दिया है ॥ २८६ ॥

हे भैरवि ! सुगन्ध से परिपूरित आप के मन्दिर के प्राङ्गण में भ्रमरों की पंक्तियाँ मधुमत्त होकर यत्र-तत्र इस प्रकार आनन्द में झूम रही हैं मानों आपके अनन्य चिन्तन के द्वारा संसार की राग से उन्मुक्त जीव-समूह स्वच्छन्द विचरण कर रहा हो ॥ २८७ ॥

वस्तुतः युद्धभूमि में आपकी स्मृति मात्र से शत्रुओं के हस्तिवृन्द दूर से ही तितर-वितर हो जाते हैं ! ऐसा प्रतीत होता है मानो आपके वाहन सिंह की दहाड़ से ही सारे हाथी भयभीत हो भाग खड़े हुए हों ॥ २८८ ॥

हे चण्डि ! आपके भक्तगण आपके चरण कमल में पड़े रहने के कारण भला किस प्रकार यमराज के महिष द्वारा ले जाये जा सकते हैं क्योंकि यम का वाहन महिष तो महिषासुर के बध का स्मरण करके ही उन्हें छोड़ देता है ॥ २८९ ॥

हे महादेवि ! हिमाचल तो आपके पितृदेव होने के नाते गौर-

सोहसि णारायणि रणिर-णेउराराव-मिलिअ-हंस-उले ।
भवणम्मि कवालाविल-मसाण-राएण व भमंती ॥ २९१ ॥
अद्धेण सरीरे च्चिअ णवर ससि-सेहरस्स तं वससि ।
हिअए उण से संकरि तुह अविहाएण ओआसो ॥ २९२ ॥
खलिओ तइ रहसुक्खित्त-मणि-तुला-कोडि-कुंडलाहरणो ।
सिंगो भंग-ट्ठविअ-वलय-बंधो व्व महिसस्स ॥ २९३ ॥
तुह दारं थाम-त्थाम-दिण्ण-रुहिरोवहारमाभाइ ।
हर-पणय-रोस-विससिअ-संज्झा-सअलावइण्णं व ॥ २९४ ॥
तुइ वअण-च्छवि-भिज्जंत-विअड-तम-मंडला सआ होंति ।

वान्वित हैं परन्तु गुफा में आपके निवास के कारण विन्ध्यगिरि तो उनसे भी अधिक गौरवान्वित हो गया है ॥ २९० ॥

हे नारायणि ! अपने मन्दिर में भ्रमण करती हुई आप अत्यन्त मनोमोहन प्रतीत होती हैं और आपकी नूपुर-ध्वनि से प्रभावित हंसवृन्द भी वहीं एकत्रित हो जाते हैं उन्हें देखकर ऐसा लगता है मानों ये हंस श्मशान में बिखरे कपाल एवं अस्थि-समूह हैं जो भगवती को अत्यन्त प्रिय है ॥ २९१ ॥

हे शंकरि ! अर्धनारीश्वर होने के कारण शारीरिक रूप से शिव जी का आधा शरीर तो आपका है परन्तु उनका हृदय तो वस्तुतः समग्र रूप से आपका ही है ॥ २९२ ॥

महादेवि ने एक झटके में ही महिषासुर के महिष का एक सींग तोड़ डाला और इस प्रयास में देवी का मणि-निर्मित चरण-नूपुर गिर गया जो आज भी उस महिष के टूटे हुए सींग पर लगा हुआ है ॥ २९३ ॥

आपकी पूजा हेतु की गई वलि से जो रक्त आपके मन्दिर द्वार पर बिखरा पड़ा है उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो (ब्रह्मा की पुत्री तथा आपके स्वामी शिव की स्त्री) सन्ध्या का ही ईर्ष्यावश आपके द्वारा बध कर दिया गया हो ॥ २९४ ॥

हे महादेवि ! रात्रि का घना अंधकार आपके मुखमण्डल की

केहिँ वि दिज्जंत-महा-महिसा इव भअवइ पओसा ॥ २९५ ॥

णिद्दा-रूवेण पअं णिमेसि जण-लोअणेसु तं चेअ।
पडिवोहे जेण स-जावअ व्व लक्खिज्जए दिट्ठी ॥ २९६ ॥

पलयं वा कालि ण णिम्मवेसि रूवस्स ते अणंतस्स।
सव्वंगे कह णु कवाल-मंडलाडंबरं घडउ ॥ २९७ ॥

थुव्वसि तक्खण-विहडंत-लोह-हिंजीर-सामल-गलेहिं।
परिणअ-गणभावागअ-तिणयण-चिंधेहिं व णरेहिँ ॥ २९८ ॥

णिमिसं पि णेअ मुच्चइ आयअणोववण-मंडलं तुज्झ।
संणिहिअ-कुमार-मऊर-णेह-रसिएहिँ व सिहीहिं ॥ २९९ ॥

द्युति से छिन्न-भिन्न हो उठा है। ऐसा लगता है मानो किसी भक्त ने एक बड़े महिष की बलि दे दी हो ॥ २९५ ॥

हे देवि ! केवल आपके ही चरण निद्रा के समय लोगों की आँखों पर विराजते हैं क्योंकि जागने पर लोगों के रक्तवर्षी नेत्र देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो आपके पाँव के महावर ही उस पर लग गया हो ॥ २९६ ॥

हे महाकालि ! यदि आपके द्वारा ही इस संसार का विनाश न हुआ हो तो भला आपके कण्ठ की मुण्डमाला आपके इस अनन्त स्वरूप पर कैसे विराजमान है ? ॥ २९७ ॥

सांसारिक लोगों के कण्ठ में लोभ रूपी लौह शृङ्खला पड़ी हुई है और वे जब देवी की आराधना करते हैं उसी समय यह शृङ्खला भग्न हो जाती है परन्तु उसका चिह्न शिव के नीले कण्ठ की भाँति यह सिद्ध करता है कि उन्होंने आपकी अर्चना द्वारा ही यह शिव भक्ति प्राप्त कर ली है ॥ २९८ ॥

मन्दिर के उद्यान से मयूरदल एक क्षण के लिए भी नहीं हटता है क्योंकि उसे कार्तिकेय के वाहन मयूर से अत्यधिक अनुराग है जो वहीं निकट ही विद्यमान है ॥ २९९ ॥

पाऊण व उवहाराअरेसु सइ-धूव-धूम-वडलाइं ।
उव्वमसि बहुल-रअणी-भावेसु णिरंतरं तिमिरं ॥ ३०० ॥

पणअ-जण-रक्खणंतरिअ-वेरि-करवाल-पंजरेणं व ।
हारिंद-णील-किरणावलंबिणा भासि वच्छेण ॥ ३०१ ॥

जाहे रअणी-रूवेण फुरसि ससहर-विडंबिअ-कवाला ।
ताहे वि णरट्ठि-पसाहणम्मि तुह घडइ गह-चक्कं ॥ ३०२ ॥

तं कुवलई-कुणंती ण वा दइच्चाण खग्ग-मालाओ ।
णिअ-चलण-पंकअच्चा-कज्जं वो कह णु संपडउ ॥ ३०३ ॥

मालूर-पत्त-माला-कंटअ-कअ-सोणिअ व्व आहासि ।
तं सरस-रत्त-चंदण-परिसोण-थणंतरा देवि ॥ ३०४ ॥

आराधना हेतु किये गये गन्ध-धूप दान का धूम्रपान करके आप जब उसे उगल देती हैं तो वही कृष्णपक्ष की रात्रि का अन्धकार बन जाता है ॥ ३०० ॥

हे महादेवि ! चमकते हुए इन्द्रनीलमणि का हार वक्षः स्थल पर धारण करके आप अत्यन्त सुन्दर दिख रही हैं ऐसा लगता है मानो शत्रुओं के कृपाणों से निर्मित पिंजड़े में अपने विनीत भक्तों की सुरक्षा-व्यवस्था कर रखी है ॥ ३०१ ॥

जिस समय आप रजनी रूप में विराजती हैं उस समय कपाल चन्द्रमा का रूप धारण कर लेता है और मानव-अस्थि समूह ग्रह चक्र की भाँति आपकी शोभा बढ़ाने लगता है ॥ ३०२ ॥

यदि आप दैत्य-समूह के खड्गों को नीलकमल के रूप में न परिवर्तित कर देतीं तो भला आप ही बताइए कि आपके चरण-कमल की पूजा कैसे सम्पन्न की जा सकती थी ॥ ३०३ ॥

हे देवि ! आपके स्तनों के मध्य वक्षःस्थल में सरसरक्तचन्दन का लगा हुआ लेप इस प्रकार दिख रहा है मानो बिल्व की माला धारण करने से उसके कण्टकों से युक्त स्थल क्षत-विक्षत हो गया है और रक्त-स्राव हो रहा है ॥ ३०४ ॥

संकंताउ व रोसारुणच्छि-वलय-प्पहाओ महिसम्मि ।
तुह सवरि सोणिअ-सिहा तिसूल-मग्गेसु दीसंति ॥ ३०५ ॥

वीर-विइण्ण-विकोसासि-धेणु-करवाल-कंति-कज्जलिअं ।
दिअसम्मि वि देवि असंक-कोसिअं गब्भ-भवणं ते ॥ ३०६ ॥

तं अत्थारुण-रवि-मंडलेण मुंडोवहार-पुरवं व ।
तारा-णिह-कअ-बलि-तंदुलाएँ पूइज्जसि णिसाए ॥ ३०७ ॥

तं सहसि सजल-जीमूअ-गोअरा गोरि विज्जु-भावम्मि ।
कंसोप्पिअ-वज्झ-सिला-सह व्व गअणे समुप्पइआ ॥ ३०८ ॥

हर-फंस-सेअ-संवलिअ-जावआसंगि-णह-मणि-च्छाओ ।
सहइ णअ-चंद-लेहा-सुर-सरि-संज्झो व्व ते चलणो ॥ ३०९ ॥

हे वनवासिनि ! महिषासुर के शरीर पर त्रिशूल से प्रहार करने के कारण उसमें निकलती रक्तधारा इस प्रकार दिख रही है मानो आपके रोषारूण त्रिनेत्रों की प्रभा के ही संक्रान्त हो गयी हो ॥३०५॥

हे देवि ! आपके मन्दिर का अन्तःकक्ष वीरों के द्वारा दान किए गए खड्गों और कृपाणों से अन्धकारमय हो रहा है जिससे उलूक गण दिन में भी निर्भय होकर विचर रहे हैं ॥ ३०६ ॥

हे महादेवि ! नक्षत्र-रूपी अक्षत से रात्रि आपकी पूजा किया करती है और इसके पूर्व उसने अस्ताचलगामी सूर्यमण्डल की भाँति रक्तरञ्जित नरमुण्ड की बलि भी दे दी है ॥ ३०७ ॥

हे गौरि ! आप जल से परिपूर्ण मेघों के मध्य बिजली की भाँति चमकती हैं मानो (यशोदा तनया) उस वध्य-शिला को लेकर गगन में उड़ रही है जिस पर पटक कर कंस ने देवकी के शिशुओं की हत्या की थी ॥ ३०८ ॥

भगवान् शंकर के स्पर्श से स्वेदसंवलित रत्न-मणि की भाँति आपके नख की ज्योति चारो ओर फैल रही है। शिव जी के द्वारा नतमस्तक होने से आपके चरण चन्द्र तथा गंगा और (गोधूलि का) सम्मिश्रण पाकर अत्यन्त शोभा संपन्न हो रहे हैं ॥ ३०९ ॥

सुलहोवहार-रुहिर-प्पवाह-संभावणाएँ लिब्भंति ।
अरुण-पडाआ-पडिमा-गब्भाआ सिला इह सिवाहिं ॥ ३१० ॥
पूआहिसेअ-विअलिअ-णडाल-जावअ-रसं पिअंति व्व ।
रुहिरासव-परिओसा तुह पुरओ भूअ-पडिमाओ ॥ ३११ ॥
पच्चक्ख-भाव-तक्खण-मीलंतच्छि-हअ-दंसण-गुणेहिं ।
तिअसेहिँ वि तुइ णिद्दत्तणम्मि रूवं ण सच्चविअं ॥ ३१२ ॥
तक्काल-विमुह-हर-वड्ढिएहिँ सासेहिं तावसि तुमाए ।
पडिवण्णो पाणायाम-णियम-बंधाअरो कह णु ॥ ३१३ ॥
काम-डहणाणुतावा हरस्स तुह विब्भमेहिँ णिव्वाडिआ ।
कड्ढिअ-णडाल-णयणाणल व्व संताविणो सासा ॥ ३१४ ॥

पाषाण-शिला पर लाल रंग की पताका की परछाईं पड़ने से सियारिनियाँ उसे अत्यन्त सुलभ उपहार स्वरूप रुधिर समझकर चाट रही हैं ॥ ३१० ॥

देवी की प्रतिमा के समक्ष बहुत से जीव एकत्रित हैं और उनकी छाया फर्श पर दिख रही है। उनकी छाया देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो पूजा अभिषेक में लाल हवा घुलने से रंगीन केसरिया जल को वे उसे रक्त समझकर पीते हुए तृप्ति का अनुभव कर रहे हैं ॥ ३११ ॥

आपकी कान्ति को आपकी जाग्रत अवस्था में देखने पर देवों के नेत्र इस प्रकार चौंधिया उठते हैं कि वे आँखें मूँद लेते हैं और पुनः आपकी सुप्तावस्था में भी आपकी ओर दृष्टि डालने का उनका साहस नहीं होता है ॥ ३१२ ॥

हे तापसि ! प्राणायाम की साधना में अपना स्वरूप कृष्णवर्ण से श्वेतवर्ण में परिवर्तित करने के कारण आपका आदर बढ़ जाता है किन्तु दीर्घ निःश्वास से जब वही स्वरूप कृष्णवर्ण हो जाता है उस समय शिव जी विमुख हो उठते हैं ॥ ३१३ ॥

आपको अपने समक्ष आकर्षक मुद्रा में भ्रमण करते देख शिव जी को बड़ा पश्चात्ताप होता है व्यर्थ ही आवेशवश उन्होंने कामदेव

सइ सिद्ध-सिद्धि-मंडल-पईव-परिकंपिणो पओसेसु ।
तुज्झोसव-गंध-सुहा सुहअंति समीरणुग्गारा ॥ ३१५ ॥
तडिभावम्मि फुरंती सवारि-वारिहर-कूड-कोडीए ।
अक्कंत-महा-महिस व्व सोहसे अमरिसा अंबा ॥ ३१६ ॥
जण-दिण्ण-केस-कलणा-लोमस-कलुसेहिँ कंपमुप्पेसि ।
वेआलेहिँ व पडिअग्गिआइरा वाउ-दंडेहिं ॥ ३१७ ॥
गंभीर-गब्भ-मंद-प्पहाओ तुह देवि दीव-मालाओ ।
उवहार-मुंड-केसंधआर-मूढाओ व खलंति ॥ ३१८ ॥
विसंसिज्जंत-महा-पसु-दंसण-संभम-परोप्परारूढा ।
गअणेच्चिअ गंध-उडिं कुणंति तुह कउल-णारीओ ॥ ३१९ ॥

को भस्म किया। उस सयय उनका दीर्घ निःश्वास ऐसा प्रतीत होता है मानो तीसरे नेत्र से अग्नि-ज्वाला निकल रही हो ॥३१४॥

रात्रिकाल में बहती हुई हवा के झोके से प्रकम्पित भक्तों द्वारा किये गये दीपदान तथा आपके पूजा-उत्सव से उत्पन्न सुगन्धित सामग्रियाँ सदैव सबको आनन्दित कर रही हैं ॥ ३१५ ॥

जल से परिपूर्ण मेघ के छोर पर चमकती हुई विद्युत्-प्रभा को देखकर ऐसा लगता है मानो महिषासुर का दमन करते समय आप क्रोध से रक्तवर्णा होकर और शोभायमान हो रही हों ॥ ३१६ ॥

आपके भक्तों ने आराधना के समय जो केश-समूह का बलिदान किया है वह प्रांगण में यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है और चक्रवात में धूल से सन कर वह ऊपर की ओर उड़ रहा है। यह दृश्य वैताल की भाँति दिख रहा है और सारा प्राङ्गण जाग उठा है ॥ ३१७ ॥

हे देवि ! आपके मन्दिर कक्ष में टिमटिमाती दीप-पंक्ति इस प्रकार स्खलित दिख रही है मानो बलि दिये गये मुण्ड-केश से उसकी प्रभा क्षीण हो गई है ॥ ३१८ ॥

कौल सम्प्रदाय वाली नारियाँ आपकी पूजा करते समय आवेश में एक दूसरे से आगे बढ़कर नर-बलि को देखने के लिए उत्सुक हो

णह-मणि-संकमणा मउह-पणअ-जण-लंछणेहिँ चलणेहिं ।
सोहसि पणमिज्जंति व्व अंव तं वालिहिल्लेहिं ॥ ३२० ॥
अह परिअरो अणेओवअरण-पहरण-सहं कर-सहस्सं ।
एक्कस्स वरोरु वरुज्जअस्स ते पाणि-कमलस्स ॥ ३२१ ॥
धअ-वड-धारा-णिवहेहिँ मंदिरं वो णवारुणाहेहिं ।
तद्दिअस-पसु-सिर-च्छेअ-पीअमामुअइ रुहिरं व ॥ ३२२ ॥
मेहाअंतं तुह तइअ-णयण-सिहि-धूम-मंडलं सहइ ।
वासुइ-जीहाओ लहंति तडि-लआ-विब्भमं जत्थ ॥ ३२३ ॥
सीसम्मि कओ महिसस्स देवि मरणाअ जो हि संपण्णो ।
सोच्चिअ जणस्स जाओ तुह चलणो मंगल-ट्ठाणं ॥ ३२४ ॥

उठती हैं । उस दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो गगन में गन्ध कुटी बन गई हो ॥ ३१९ ॥

हे मातः ! आपके भक्तगण आपके रक्त की भाँति द्युतिपूर्ण नख वाले चरणों में प्रणाम करते समय अत्यन्त छोटे-छोटे इस प्रकार दिखाई देते हैं मानो बालखिल्य ऋषिगण आपके चरणों में नत हो गये हैं ॥ ३२० ॥

हे वरोरू ! आपकी सहस्रों बाहुओं में नाना प्रकार के शस्त्रास्त्र तथा अन्यान्य उपकरण शोभा पा रहे हैं और आप जब अपने भक्तों को आशीर्वाद देने के लिए भुजा उठाती हैं । तो लगता है सभी बाहु मिल कर एकाकार हो गई हैं ॥ ३२१ ॥

नाना प्रकार के रक्तवर्णी ध्वज आपके मन्दिर पर निर्झर की भाँति फहराते हुए इस प्रकार दिख रहे हैं मानो प्रतिदिन की पशु-बलि का पान किया गया रक्त यह मन्दिर बाहर फेंक रहा है ॥३२२॥

आपके तृतीय नेत्र से निकलती आग का बादल की भाँति धूम्र समूह इस प्रकार दिखाई दे रहा है मानो शिव के कण्ठ में लिपटे वासुकि नाग की जिह्वा चमक रही हो ॥ ३२३ ॥

हे देवि ! महिषासुर के विनाश के लिए आपका जो चरण उसके

कोमारम्मि हराराहणाअ हिअअम्मि मअण-पज्जलिए ।
तइ विहिओ मुद्ध-थणुल्लएहिँ मालूर-होमो व्व ॥ ३२५ ॥
अंगमवलंबिआलंबि-सरस-णर-वअण-पाअडं वहसि ।
अज्जवि कंस-प्फोडण-ललंत-णिअअट्ठि-सिढिलं व ॥ ३२६ ॥
सूएंति वीर-विक्कअ-विक्कममिह जामिणी-मसाणेसु ।
अवलंबिअ-कुणव-च्छेअ-पाडला साहि-साहाओ ॥ ३२७ ॥
सरसट्ठि-दंड-लोहेण चंडि अहर-प्पहारुणे तुज्झ ।
जीहा णिअ-दसण-मऊह-मंडलेच्चेअ संवलइ ॥ ३२८ ॥
पअइ-पारिसुक्क-काया पुरओ संचरइ रेवई तुज्झ ।
इह सइ संणिहिअ-महा-परेअ-भय-मुक्क-मासव्व ॥ ३२९ ॥

सिर पर रखा गया था वही आपके भक्तों के लिए मंगल आशीर्वाद का स्रोत है ॥ ३२४ ॥

अपनी कुमारी अवस्था में शिवजी की आराधना और उनकी प्राप्ति के लिए आप जो विल्व पत्र का होम करती थीं उसमें कामदेव द्वारा आपके लघु-स्तन वाले हृदय में प्रेरणा दी गयी थी ॥३२५॥

आपके शरीर पर मुण्ड की माला शोभा देती है जिनके मुख एक दूसरे से भिड़े हुए हैं जिन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो कंस के द्वारा बध्यशिला पर पटकने के प्रयास में वे सभी ऐसे अस्त-व्यस्त हो गये कि आज भी एक-दूसरे से भिड़ते दिख रहे हैं ॥ ३२६ ॥

रात्रिकाल में श्मशान के वृक्षों की शाखाओं पर लटकते हुए शवों के कटे-पिटे लालरंग के टुकड़े ऐसे लग रहे हैं मानो मनुष्य के मांस-विक्रय में यही महारथियों का उच्च शौर्य है ॥ ३२७ ॥

हे चण्डि ! किसी अस्थि के चबाने के लोभ में आपकी जिह्वा दन्तपंक्ति में मुड़ती-तुड़ती रहती है जिससे आपका अधर गुलाबी वर्ण का हो गया है ॥ ३२८ ॥

स्वभावतः शुष्क शरीर वाली रेवती सदा आपके समक्ष चलती रहती है मानो यहाँ सदैव विद्यमान महाप्रेत के भय से उसकी देह का सारा मांस ही समाप्त हो गया हो ॥ ३२९ ॥

पूइज्जसि भिण्ण-भुआ-विइण्ण-रुहिरं व पाअवेहिं पि।
परसु-प्पहार-विअलिअ-कसाय-रस-सोण-साहेहिं ॥ ३३० ॥

अण्णोण्ण-कलह-विअलिअ-केसर-कीलाल-कललिअ-द्दारा ।
कअवाउणो वि तुह देवि सासणं अणुसरंति व्व ॥ ३३१ ॥

उवहारुल्लूरिअ-मास-मंडलाडंबरुब्भडेहिं व ।
डिंबं जाणअ-पड-मंडणेहिँ खम्भेहिँ विविहेसि ॥ ३३२ ॥

कुणवत्तण-सुलहूसास-काय-णिव्वडिअ-गारवो अप्पा ।
तुह धारण-क्खमो कीरइ व्व णणु वाहण-सवेण ॥ ३३३ ॥

सोहसि मुह-मुकासरिस-रुहिर-धाराहिँ रअणि-रूवेसु ।
भत्ति-विइज्जंतारुण-धअ व्व तं भवण-माईहिं ॥ ३३४ ॥

हे देवि ! वृक्ष भी आपकी पूजा करते हैं और परशु-प्रहार से क्षत-विक्षत अपनी शाखाओं से लालरंग का रस अर्पित करते हुए ऐसे लग रहे हैं मानो आपको अपना रक्तदान कर रहे हों ।। ३३० ।।

यहाँ तक कि मयूर-कुक्कुट परस्पर कलह करते हुए क्षत-विक्षत होकर रक्त-रञ्जित मार्ग पर इस प्रकार गिरते हैं मानो वे सभी आपकी आज्ञा पालन में तत्पर हैं ।। ३३१ ।।

रक्तवर्णी वस्त्रों से सजाये गये आपके मन्दिर के स्तम्भ भी भय उत्पन्न कर देते हैं क्योंकि उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वे स्तम्भ नहीं वरन् आपके लिए बलि दिये गये पशुओं के माँस के ढेर हैं ।। ३३२ ।।

आपका शव-वाहन आपका भार उठाने की क्षमता हेतु अपने अन्दर शक्ति का संचय करता है और अपने इस प्रयत्न में वह मृत होते हुए भी सरलता पूर्वक साँस लेने लगता है ।। ३३३ ।।

आपका रात्रिरूप भी अत्यन्त मोहक है जब मन्दिर की अन्य देवियाँ अपने मुख से रूधिरधार बहाती हुई ऐसी प्रतीत होती हैं मानो भक्तिभाव से प्रेरित वे लाल ध्वजायें हिला रही हों ।। ३३४ ।।

वहुल-पओसा बद्धंकुर व्व तुह देवि महिस-सिंगेहिं ।
पारोहिणो व्व लंबिर-मऊर-कंठेहिँ रेहंति ॥ ३३५ ॥
तुह लोह-दप्पणावलि-संकमणालद्ध-कसण-भाव व्व ।
सोहंति सवर-जुअला मेअअ-काया पणामेसु ॥ ३३६ ॥
रूवंचिअ णवर कराल-दारुणं काल-रत्ति-लीलाए ।
हिअअं पुण ते करुणा-रसेण सइ वच्छलंचेअ ॥ ३३७ ॥
इअ विंज्झ-गुहा-णिलयाएँ तम्मि-दल-सबर-सिद्ध-मग्गाए ।
पहुणा सपरिअरं भअबईएँ विहिओ णमक्कारो ॥ ३३८ ॥

अवि अ ।
इह अज्जवि किं णु पुराण-भाव-कविसीकअट्ठि-बंधम्मि ।
हिअउद्देसे रोसग्गि-पिंगिमच्चेअ विप्फुरइ ॥ ३३९ ॥

कृष्णपक्ष की काली रातों में आप भ्रमण करती हैं उस समय महिष के सींग रात्रि द्वारा प्रस्तुत अंकुर की भाँति दिखते हैं और मयूर के कण्ठ पर उगे अँखुआ प्रतीत होते हैं ।। ३३५ ।।

आपके लौह-दर्पण की छाया से कृष्णवर्ण पाकर शबर-दम्पति नीलवर्णी से अत्यन्त मनोमोहक प्रतीत होते हैं ।। ३३६ ।।

हे कालि ! विश्व-विनाश करने से कालरात्रि के समान केवल अपका स्वरूप ही भयंकर है परन्तु आपका हृदय सदैव करुणा तथा वत्सलता से परिपूर्ण रहता है ।। ३३७ ।।

इस प्रकार पत्ते पहने हुए शबर ने महाराज को विन्ध्यगिरि-गुहानिवासिनी भगवती का मन्दिर दिखाया और राजाने वहाँ पहुँच कर देवी की विधिवत् पूजा की ।। ३३८ ।।

आगे ९ पदों में कवि ने एक शव-दर्शन पर राजा के विचारों पर प्रकाश डाला है––

राजा ने देखा कि पर्याप्त समय बीत जाने के कारण यह अस्थि-मात्र कङ्काल कपिशवर्णी हो गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस शव के हृदय की क्रोधाग्नि इस समय प्रज्वलित हो उठी है ।। ३३९ ।।

तस्मि च्चिअ संधि-पसूअ-कीड-मालाविले णडालम्मि ।
हासाअ भिउडि-भंगो व्व विलिहिओ अह कअंतेण ॥ ३४० ॥

वुब्भइ ओलिंभाभाव-कुडिल-वलिएण वअण-बिंबम्मि ।
मअणाहिमलय-विच्छित्ति-विब्भमं संपइ रएण ॥ ३४१ ॥

हा हा तंचेअ करिल्ल-पिअअमा-बाहु-सयण-दुल्ललिअं ।
उवहाणीकअ-वम्मीअ-मेहलं लुलइ सिर-कमलं ॥ ४४२ ॥

पंक-भरिओअरुब्भिण्ण-विरस-तण-जडिलिए कवालम्मि ।
जाओ अहो सिणिद्धो कवरी-बंधस्स परिणाहो ॥ ३४३ ॥

हा हा कंपावेइ व हरिअ-मलालंबिणी दसण-माला ।
अज्जवि विणिहट्ठाणेअ-वीडिआ-रसमिव वमंती ॥ ३४४ ॥

उसका ललाट कृमि-कीटादि से भर गया है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यम ने उसकी भँवों के रूप हास-परिहास हेतु ललाट पर अङ्कित कर रखे हैं ॥ ३४० ॥

उसके मुख मण्डल पर पड़ी हुई धूल किसी प्रकार के लेप के अभाव में टेढ़ी-मेढ़ी होकर ऐसे जम गई है मानो कामदेव का भ्रम उत्पन्न करने के लिए चन्दन का लेप कर दिया गया हो ॥ ३४१ ॥

खेद की बात है उसका वही सौम्य सिर जो, कभी अपनी प्रियतमा की कोमल बाहों में दुलार के साथ शयन करता था, आज इस अवस्था में बाँबी को तकिया बनाकर पड़ा है ॥ ३४२ ॥

कितनी विचित्र बात है कि कपाल जो कभी केशराशि से सजा हुआ था, उसमें इस समय बड़ा भयंकर परिवर्तन हो गया है क्योंकि आज यह कंकाल मात्र रह गया है और घास तथा कीचड़ के मध्य पड़ा है ॥ ३४३ ॥

शोक का विषय है कि इस कंकाल की दन्तपंक्तियाँ इस हरे रंग की धूल से सनी हुई इस प्रकार लगती हैं मानो अपने जीवन में इसने जो पान चबाये थे उन्हीं की पीक हो ॥ ३४४ ॥

ठिअ भमर-पक्ख-भावा णिव्वाडिअ-पत्तणा इव सव्वेअं।
कामेण इमम्मि वि णूण पेसिआ मंजरी-बाणा ॥ ३४५ ॥
उद्दिणअरमिंदुसहं ट्ठिआणलं स-रअण-प्पहमिमस्स।
एक्कवएच्चिअ जाअं अखंड-तम-बंधणं भुवणं ॥ ३४६ ॥
इअ तम्मि णर-कलेवर-दंसण-मउइअ-मणेण णर-वइणा।
पडिवण्ण-विवेअ-विअप्प-सरसमणुसोइअं सुइरं ॥ ३४७ ॥
अवि अ।
बहुसो बहुत्त-विसहर-मणि-प्पहा-रंजिअ व्व ते जाण।
अंतोच्चिअ णिंति णिवेसिअ-प्पहा पिंच्छ-पब्भारा ॥ ३४८ ॥
वरहीण ताण रसिअं पुलिंद-केआर-पविरल-दुमेसु।
णंदेइ तस्स तड-णिज्झरेसु गिरि-धूम-कलुसेसु ॥ ३४९ ॥ युग्मम्

इस कंकाल पर भ्रमरों के नीले पंख चिपके हुए हैं जिन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो कामदेव ने इस मृत पर भी अपना कुसुम-सायक चला दिया और बाणों के न रहने पर भी उनके पंख इस मृत के कंकाल पर चिपक गये हों ॥ ३४५ ॥

इस मृत के लिए इस समय त्रिभुवन में घोर अन्धकार व्याप्त है जबकि सूर्य अभी भी उदय हो रहे हैं, इसका प्रिय सखा चन्द्रमा की चाँदनी भी छिटकती हैं, अग्नि अभी भी जला करती है और रत्नादि की कान्ति इस समय भी चमक रही है ॥ ३४६ ॥

इस प्रकार वहाँ मानव-शव देखकर महाराज पर्याप्त समय तक शोक में पड़े रहे। उनके मानस में नाना प्रकार के संकल्प विकल्पों का उदय हुआ ॥ ३४७ ॥

अनेकानेक मयूरों के पङ्ख से अत्यन्त रोचक प्रभा छिटक रही है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत हो रहा है मानो विषधर सर्पों के साथ वे मयूर उनकी मणियाँ निगल गये थे, वही चमक रही हैं ॥ ३४८ ॥

निर्झरों के तट पर स्थित तथा पर्वतों के धूम्र से कालिमा को प्राप्त वृक्षों पर बैठे हुए मयूरों की कल-ध्वनि सुनकर राजा को बड़ा हर्ष हो रहा है ॥ ३४९ ॥

उवउत्त-सल्लई-कंड-पाडलुच्चार केसरिल्लीओ ।
पेच्छइ माअंग-वण-त्थलीसु सो जूह-पअवीओ ॥ ३५० ॥

कीरइ व तस्स ताली-फल-पिंडामोडणुम्मुह-करेहिं ।
रिउ-सिर-कवलण-जोग्गा-परिग्गहो जय-गइंदेहिं ॥ ३५१ ॥

भय-लोल-पुलिंद-वहू-विरिक्क-गुंजावली-कण-कराला ।
जाआ से रोसाणल-फुलिंग-भरिअ व्व गिरि-मग्गा ॥ ३५२ ॥

कण्ण-ट्ठिअ-सिहि-पिंच्छ-च्छलेण कअ-पत्तणा इव सलीलं ।
मुच्चंति सवर-रमणीहिँ णयण-वाणा णरिंदम्मि ॥ ३५३ ॥

अह से भएण गअ-दाण-वडल-कलुसिअ-दिसा-अडाहोओ ।
माया-णिम्मविअ-तमी-मुहो व्व चलिओ मगह-णाहो ॥ ३५४ ॥

राजा ने उस वन-पथ पर गज-समूहों को देखा जिन्होंने सल्लकी वृक्ष की शाखाओं को खाने के अनन्तर पत्तियाँ भार्ग में ही छितरा दी थीं जो इस प्रकार रक्तवर्णी दिख रहे थे मानो केसर बिखरो हो ॥ ३५० ॥

शत्रु के शिरों का कवलन करने की क्रिया में निपुण राजा के जय गजेन्द्र अपनी सूड़ों से तालो फल से मानो उसी जाति क्रीड़ा कर रहे हों ॥ ३५१ ॥

राजा की क्रोधाग्नि के स्फुलिंग गिरि-पथ पर विखरे हुए इस प्रकार दिख रहे थे मानो भील स्त्रियों के भयभीत होकर भागने से गुञ्जाफल के गुच्छे बिखर गए हों ॥ ३५२ ॥

शवर-युवतियाँ श्रृङ्गार हेतु मयूर-पक्ष अपने कानों में लगाए हुए हैं और जब वे राजा की ओर ध्यान से दृष्टिप्रक्षेप करती हैं तो ऐसा लगता है मानो पंख लगे वाणों से राजा पर लक्ष्य बना रही हैं ॥ ३५३ ॥

भय के कारण अपने मुख पर काली रात की उदासी लिए मगध नरेश तो पलायन कर गये जिसे देखकर प्रतीत हो रहा था मानो राजा यशोवर्मा के भय से उसने हाथियों के मद की मोटी परत चारो

किं च जाअं।

किं पि विकंपिअ-गिम्हा अवरण्हुक्कंठ-सालस-मऊरा।
हरिअ-वण-राइ-सुहआ उद्देसा देंति उक्कंठं ॥ ३५५ ॥

उम्हाइ गिम्ह-विहुरा बहल-बुसासार-लंघिअ-त्रिमुक्का।
मइलिअ-तलाअ-मूला किलंत-विरलंकुरा वसुहा ॥ ३५६ ॥

णव-रोह-च्छेअ-सुअंध-विसम-वसुहा-विलंविअ-पवाहा।
घोलंति हिम-रसोआर-सिसिर-सलिला गिरि-णईओ ॥ ३५७ ॥

अग्घंति णील-वण-राइ-परिअरुम्मिल्लमाण-सोहग्गा।
अहिणव-पडल-परिग्गह-गोर-ग्गामा दिसाहोआ ॥ ३५८ ॥

ओर बिखेर कर अन्धकार का वातावरण बना लिया हो मानो माया से रात्रि का निर्माण कर लिया हो ॥ ३५४ ॥

ग्रीष्म ऋतु का आतप सारी भूमि को तप्त करने लगा। उस समय दोपहर के बाद व्याकुल मयूर को आकर्षक तथा हरे-भरे वनकुञ्जों में विश्राम करने लगे। महाराज भी ग्रीष्म के कारण आकुल हो उठे ॥ ३५५ ॥

ग्रीष्म की भयंकरता से पृथ्वी तप्त हो उठी। चारो ओर भूसा के ढेर के ढेर बौछार की भाँति गिर रहे थे और उड़ रहे थे। सरोवरों के तल कीचड़ तथा छितराए हुए घास के अंकुरों से भर गए ॥ ३५६ ॥

पहाड़ी नदियाँ डगमगाती हुई टेढ़ी-मेढ़ी बह रही हैं और ऊबड़-खाबड़ भूमि पर उनका बहाव मन्द हो जाता है। नये अंकुरों से वे सुगन्धित हो रही हैं और वर्फ के कारण उनका जल शीतल हो गया है ॥ ३५७ ॥

उस स्थान का प्राकृतिक सौन्दर्य अत्यन्त आकर्षक है जो चारो ओर से नीलवर्णी वनों तथा नये छप्परों के कारण श्वेत ग्रामों से घिरा हुआ है ॥ ३५८ ॥

सायं स-मारुआसार-सेअ-सद्दलिअ-काणणा होंति ।
गिम्हेच्चिअ जलआरंभ-कोमला महिहर-णिअंबा ॥ ३५९ ॥
सोत्त-कलुसा णईओ पज्जत्त-कलंब-गंधिणो पवणा ।
घण-डंबरं विणा पाउसस्स तारुण्णअं गलइ ॥ ३६० ॥
वोलिंति गिम्ह-णिइं पहिआ लिंगाहिसेअ-सिसिरेसु ।
ऊढ-कलंवज्जुण-परिमलेसु सुर-मंदिरंतेसु ॥ ३६१ ॥
तह तत्त-णअर-रच्छा सहंति मेहावलंबि-रवि-बिंबा ।
धरणि-परिट्ठिअ-गिम्हा णह-घोलिर-पाउसा दिअसा ॥ ३६२ ॥
णवरि अ वसुहाहिव-जय-गइंद-सीअर-कआहिसेअ व्व ।
जाआ णिआह-परिणाम-धूसरा दिणअर-मऊहा ॥ ३६३ ॥

यहाँ तक कि ग्रीष्मऋतु में भी पर्वतों के निचले भाग में वनों का विकास दिखाई पड़ता है क्योंकि सायंकाल वायुवेग में वर्षा की फुहारें इस प्रकार होती हैं जैसे वर्षाऋतु के प्रारम्भ में प्रायः दिखाई पड़ती हैं ॥ ३५९ ॥

उस समय नदियों की धारा कलुष होकर बहती है और वायु में कदम्ब की सुगन्ध भर जाती है इस प्रकार बिना घने बादलों के वर्षा ऋतु की तरूणाई आ जाती है ॥ ३६० ॥

यात्री गण ग्रीष्म ऋतु की रातें उन मन्दिरों के अन्दर ही बिताते हैं जो शिवलिंग के पूजाभिषेक से शीतल हो चुके हैं और जिनमें कदम्ब तथा अर्जुन तरूओं की सुगन्ध भरी हुई है ॥ ३६१ ॥

दिवस प्रिय लगते हैं। नगर के पथ तप्त हो उठते हैं जब कि सूर्यमण्डल लटकते मेघों से घिर जाता है और ग्रीष्म ऋतु के ताप का प्रभाव केवल पृथ्वी पर ही पड़ने लगता है तथा वर्षा ऋतु स्थगितसी आकाश में ही टिकी रहती है ॥ ३६२ ॥

इसके अनन्तर ग्रीष्म की समाप्ति पर सूर्य की रश्मियाँ धूसरित हो उठती हैं। जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो यशोवर्मा के विजयगज निरन्तर अपने मदजल की फुहारों से अभिषेक कर रहे हों ॥ ३६३ ॥

किं च जाअं ।
अंतो-घर-चिर-णिग्गमण-णसहिआलोअ-कूणिआ वलइ ।
णिद्दा-विमद्द-परिलुलिअ-सालसाअंबिरा दिट्ठी ॥ ३६४ ॥
पीलिअ-तमाल-पल्लव-सयणिज्ज-रसोल्ल-णह-वअं हरइ ।
णव-केसर-माला-सुरहि-मेहलालंकिअं जहणं ॥ ३६५ ॥
तक्खण-विच्छूढ-मुणाल-वलय-सीअल-पउट्ठ-परिमासा ।
सोहंति जलद्दा मलिअ-चंदणा बाहु-लइआओ ॥ ३६६ ॥
णव-कणअ-किंकिणी-णिह-चंपअ-कुसुमावणद्ध-मंजीरं ।
हरइ परिकोमलुव्वूढ-वेस-लडहं परिब्भमिअं ॥ ३६७ ॥

[आगे के ७ कुलकों में कवि ने ग्रीष्मकाल में उन स्त्रियों की दशा का वर्णन किया है जो आतप से बचने के लिए अपने भवनों की छतों पर शरण लेती हैं।]

प्रचण्ड ग्रीष्मकाल में स्त्रियाँ दिन का अधिकांश भाग भवनों के अन्दर ही विश्राम करने में व्यतीत करती हैं और जब काफी समय बाद वे बाहर आती हैं तो प्रकाश में उनकी आँखें चौधिया उठती हैं तथा जब ढंग से देखने के लिए वे अपनी आँखें मल देती हैं तो नींद को खुमारी के कारण उनकी आँखें आलसी तथा लाल हो उठती हैं ॥ ३६४ ॥

वकुल पुष्प के सुगन्धित पुष्पहार की मेखला से सुशोभित उन स्त्रियों के जघन स्थल पर उनके प्रेमियों के नूतन नखक्षत उस समय आकर्षण के केन्द्र बन जाते हैं जब वे तमाल-पत्र शायिनी होती हैं ॥ ३६५ ॥

उनकी लता सदृश बाहें चन्दन रस-लेप से शीतल एवं सुगन्धित हैं और उनकी कलाई भी उस समय शीतल हो रहती हैं जब कि उस पर से मृणाल-वलय उतार दिये गये हैं ॥ ३६६ ॥

भवनों की चौरस छत पर वे नाचने लगती हैं और नृत्य के समय नव 'कनक निर्मित नूपुर की ध्वनि तथा पीले चम्पक कुसुम सदृक्ष कोमल पतले रेशमी वस्त्रों का वेष अत्यन्त चित्ताकर्षक प्रतीत होता है ॥ ३६७ ॥

पिअ-परिरंभुम्मूलिअ-णह-वअ-परिसेस-चंदण-सुअंधो ।
अग्घइ दल-सबल-कलंब-दाम-हारो थणुच्छंगो ॥ ३६८ ॥

थोअ-सुरा-मअ-संभिण्ण-सरस-पाडल-कवोल-पडिलग्गं ।
उम्मिल्लइ केअइ-गब्भ-पत्त-ताडंक-लायण्णं ॥ ३६९ ॥

इअ भमइ भवण-सिहरेसु गिम्ह-परिणाम-थोअ-सत्थामो ।
विरल-जल-बिंदु-णिव्वविअ-गंड-वासो पिआ-सत्थो ॥ ३७० ॥

किं च ।

इह तेअ-मेह-संवलण-सिसिर-विच्छाय-कविस-रवि-बिंबा ।
अग्घंति भग्ग-पवणा अरेणु-परिधूसरा दिअहा ॥ ३७१ ॥

उन स्त्रियों के प्रेमियों द्वारा गाढ़ालिगन से उनके स्तनों पर अंकित नखक्षत मिट जाते हैं और केवल उनका (गुलाबी) रंग शेष रह जाता है। चन्दन लेप से उनके स्तन विस्तृत तथा सुगन्धित हो उठते हैं और तब चितकबरे कदम्ब-पत्र के हार से सुसज्जित किये जाते हैं ॥ ३६८ ॥

किंचित् सुरा-पान के मद से उनके कपोल सरस तथा गुलाबी हो जाते हैं और अपने कानों में केतकी पल्लवयुक्त स्वर्णाभूषण धारण करके वे अत्यन्त मनोहारिणी लगती हैं ॥ ३६९ ॥

इस प्रकार ग्रीष्मातप से शिथिल वे सुन्दरियाँ चौरस छतों पर टहला करती हैं और उनके कपोल स्थल जल की कुछ बूँदों के पड़ने से शीतल हो उठते हैं ॥ ३७० ॥

[ग्रीष्म काल पर अग्रिम ११ पदों में सैनिकों की वार्त्ता]

इस समय दिन अत्यन्त रोचक हो गए हैं। सूर्यमण्डल मेघों तथा प्रकाश से मिश्रित होने से पीला तथा भूरा हो गया है। वायु भग्न होकर बिना धूल के भी किंचित् भूरी और धूसरित हो रही है ॥ ३७१ ॥

उक्कंठ-बरहि-चूडा-विडवंदोलण-तरंगिओ वहइ ।
अविरल-जंबु-फलासार-वडण-मुहलो इह समीरो ॥ ३७२ ॥

इह उव्वेल्लइ दर-पीअ-सलिल-परिसामलोअरद्धंता ।
पेरंत-धवल-गअ-कण्ण-कब्बुरा मेह-पत्थारी ॥ ३७३ ॥

इह अहिमुह-मंजरिअज्जुणासु अवआढ-कुडअ-गंधासु ।
वास-सुहआसु मुणिणो गमेंति दिअहे गिरि-अडीसु ॥ ३७४ ॥

वूढोअअ-कअ-रव-चुण्ण-कलुस-पालास-फल कसव्वाओ ।
इह सोहंति दरोव्वुड्ड-सामला रण्ण-भूमीओ ॥ ३७५ ॥

अण्णेसिअव्व-पवणा आसारंतेसु समहिउम्हाला ।
एए ते चूअ-वणाण होंति परिणामआ दिअहा ॥ ३७६ ॥

यहाँ वृक्षों की शाखाओं को तरंगित करती हुई वायु बह रही है जिससे ऊपर गर्दन उठाये मयूरों की शिखाएँ हिल रही हैं और निरन्तर घने जम्बूफल पर गिरती हुई बौछारों से जैसे समीर मुखर हो उठा है ॥ ३७२ ॥

यहाँ मेघों का समूह ऊपर से श्वेत तथा कुछ जल पी लेने के कारण अन्दर श्यामवर्णी दिखते हुए इस प्रकार लग रहे हैं मानो वे हाथियों के कान हों जो ऊपरी भाग में श्वेत तथा अन्दर भूरे दिखते हैं ॥ ३७३ ॥

पर्वत की तलहटी पर ऋषिगण दिन बिताते हैं जिनके समक्ष खिले हुए अर्जुन तरू दिख रहे हैं और वर्षा की बूंदों से सुखद बने हुए कुटज-कुसुमों की सुगन्ध फैल रही है ॥ ३७४ ॥

यहाँ वनभूमि अत्यन्त मनोरम प्रतीत होती है जो उन पलाश-फलों से ढकी है जो स्वच्छ रेणुकण गिरने से श्यामवर्ण हो रहे हैं और उसके गिरने से खड़-खड़ की ध्वनि होती है तथा उनके अन्त-र्भाग का जल निकल कर बाहर आ जाता है ॥ ३७५ ॥

इन दिनों वायु की कमी प्रतीत होती है जो वर्षा की बूंदें पाकर अधिक उष्ण हो जाती हैं जिससे आम्रफल पकने लगते हैं ॥३७६॥

उम्हाल-कुमूल-मुहुच्चरंत-रअ-फरुस-मेअ-गंधाइं ।
आसार-जडे दिअहे णंदंति गुडुंबि-गेहाइं ॥ ३७७ ॥

फल-सार-णलिणि-गहणा इह दारु-च्छेअ-पविरला होंति ।
मूल-ट्ठिअ-वाअ-कलंब-कविस-वसुहा वणुद्देसा ॥ ३७८ ॥

णव-केअइ-वासिअ-केस-संजमा दक्खिणाओ णारीओ ।
इह ता अणाअरुज्जल-हलिद्दि-राआ विराअंति ॥ ३७९ ॥

इह कोसुमेण चावेण जो जअइ साहुणा विसम-बाणो ।
लहिऊण पाग-सासण-सरासणं कह ण विप्फुरइ ॥ ३८० ॥

इअ उक्कंठा-पडिवण्ण-हिअअ-परिकोमला पवट्टंति ।
संलावा काल-सहाअ-संसिणो कडअ-लोअस्स ॥ ३८१ ॥

जिस समय बाहर वर्षा होती है उस समय ग्रामवासी अपने घरों में ही बैठे-बैठे जड़ दिवस को काटते हुए आनन्द मनाया करते हैं और अन्दर ही उन्हें गर्म कुसूल (मांसादि) तथा धूल मिश्रित गन्ध मिलनी रहती है ॥ ३७७ ॥

यहाँ बन-प्रवेश फलों से लदे नलिनी समूह से घने दिख रहे हैं परन्तु तरूओं के कट जाने से विरल हो चले हैं और कदम्ब के सूखे पत्तों से भूमि का रंग भूरा हो गया है ॥ ३७८ ॥

नये केतकी पुष्पों से सुवासित केशों वाली दक्षिणदेश की नारियाँ इस समय बिना किसी प्रयास के ही हल्दी के वर्ण-सी चमकती हुई अतीव सुन्दर लग रही हैं ॥ ३७९ ॥

जिस कामदेव ने अपने सुन्दर पुष्पवाण से ही विजय प्राप्त कर ली है वह भला इस समय इन्द्रधनुष पाकर भी अपने अभियान में क्यों आगे न बढ़ेगा ॥ ३८० ॥

इस प्रकार उन सैनिकों की वार्त्ता चल रही है जिनके स्वच्छ तथा कोमल हृदय प्रेमाभिभूत हो चुके हैं इसीलिए वे ऋतुगत विशेषताओं की चर्चा कर रहे हैं ॥ ३८१ ॥

कंठ-णिहुअं च गीअं अलद्ध-णिद्दं च णिज्जण-पसुत्तं ।
सरसो उक्कंठा-णिब्भरस्स हिअअस्स वीसामो ॥ ३८२ ॥

किं च जाअं ।

उम्हाअंत-गिरि-अडं सीमा-णिव्वडिअ-कंदलुब्भेअं ।
णिव्वाइ विरल-धारा-बंधुरिअ-रअं धरणि-वेढं ॥ ३८३ ॥
आसार-ताडिआइं बलाअ-लुप्पंत-चलिअ-सहराइं ।
सरिआ वहंति संपइ अपेअ-पंडुइँ सलिलाइं ॥ ३८४ ॥
अवंडु-सलिल-लंघिअ-वसुआआमलिण-सेवल-सिहाओ ।
जल-रंकु-दुक्ख-लक्खिअ-सहरा घोलंति सरिआओ ॥ ३८५ ॥
विलुलिअ-पिसंग-वल्ली-विआण-उद्देस-कोमल-फलाण ।
पविरल-रक्खाण सिरी विअलइ वालुंकि-वाडाण ॥ ३८६ ॥

उस निर्जन स्थान में मधुरकण्ठ से गीत सुनकर उनकी निद्रा तो लुप्त हो गयी परन्तु सरस उत्कण्ठा के कारण उनके हृदय में विश्राम आ गया ॥ ३८२ ॥

और आगे क्या हुआ ? भूमितल शुष्क हो गया है। पर्वत की तलहटी शुष्क हो उठी है और कन्दल की जड़ें सीमाओं तक फैल गई हैं तथा हल्की बौछारों से धूल स्थूल हो रही है ॥ ३८३ ॥

इस समय नदियों में जल-प्रवाह बढ़ रहा है जो पीतवर्णी तथा पीने योग्य नहीं रह गया है और वर्षा की बौछार से प्रताड़ित बगुले बहती हुई मछलियाँ पकड़ रहे हैं ॥ ३८४ ॥

नदियाँ तीव्र गति से प्रवाहित हो रही हैं और बाढ़ के पीतवर्णी जल में शैवाल शुष्क तथा कीचड़ में सन गए हैं इसीलिए जलमुर्गियों के लिए मछलियों का पता लगाना कठिन हो गया है ॥ ३८५ ॥

इस समय जल-वालुंकियों (संबार) की छवि धूमिल हो चुकी है और राख रूपी खाद के अभाव में वे संकुचित हो गई हैं। उनके कोमल फल इधर-उधर बिखरकर पीली लता-वल्लरियों में उलझकर वहीं एकत्रित हो रहे हैं ॥ ३८६ ॥

ण चलइ णवंबु-धोअं पि पल्लले विरल-मुह-कऊसासं ।
मीण-उलं सहरंतर-परिसंगअ-पंक-गरुअंगं ।। ३८७ ।।

विअरइ सद्दल-रेहाअमाण-सुर-धणु-णिवेस-सुहअम्मि ।
गअण-त्थलम्मि गो-मंडलं व वलयं बलाआणं ।। ३८८ ।।

दीसइ णिरंतरुब्भिण्ण-हरिअ-हरि-चाव-कंदल-करालं ।
परिओसुप्पइअ-मऊर-जाल-सवलं व गअणद्धं ।। ३८९ ।।

पअडाअइ गिम्हाणिल-वेआमूलुक्खअम्मि रअ-पडले ।
सद्दल-परिणीलमहो कमढ-कवालं व महि-वेढं ।। ३९० क ।।

विसहंति णिअ-विसाणल-पअविज्जंतंग-मग्गिअ-प्फंसं ।

वर्षा के गंदले जल में बह जाने तथा सांस लेने की कठिनाई के कारण मछलियों के झुण्ड सरोवर में इधर-उधर हिल नहीं पाते हैं क्योंकि अन्य मछलियों से मिलने पर उनका शरीर कीचड़ में सन गया है ।। ३८७ ।।

गगन स्थल इन्द्रधनुष के कारण सुन्दर मैदान की भाँति दिख रहा है। और उसमें गोलाकार रेखा में उड़ते बगुले ऐसे प्रतीत हो रहे हैं मानों यहाँ श्वेत पशु-वृन्द विचरण कर रहे हैं ।। ३८८ ।।

आकाश के अर्धभाग में गहरे हरे रंग का इन्द्रधनुष अत्यन्त मनोहर लग रहा है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वर्षा की बौछारों का आनन्द तथा सन्तोष प्राप्त करने के लिए मयूर नाना रंगों में आकाश में उड़ रहे हैं ।। ३८९ ।।

ग्रीष्म ऋतु की तीव्र वायु से पृथ्वी से उठी हुई धूल ऊपर की ओर उड़ रही है जिससे पृथ्वी का तल इस प्रकार दिखाई पड़ रहा है मानो कछुए के कपाल का ढेर लगा हो ।। ३९० ।। (क)

यद्यपि उनका फण मण्डल गिरती हुई धारा से आहत होता है तथापि सर्पों के फण वर्षा की प्रथम बौछार सह लेते हैं क्योंकि जल

धारा-दूमिअ-फण-मंडला वि फणिणो णवासारं ॥ ३९० ख ॥

पडिसंत-रआसण्णाअमाण-गिरि-मंडला विराअंति ।
कामं सामीकअ-गअ-उलाओ कासार-लेहाओ ॥ ३९१ ॥

छाया एक्कासारे वि फुरइ णिद्धोअ-रेणु-णीलाण ।
गिम्हाहअ-विरलुद्देस-पिंग-विडवाण उच्छूण ॥ ३९२ ॥

घडिअ-फुडिअंतराओ गहिअ-विस-द्धाण-पंडुर-जलाओ ।
अहिराअंति धुआरुण-कसेरु-मूलाओ सरसीओ ॥ ३९३ ॥

जलआणिल-रंखोलिअ-हरिअंकुर-सिसिर-पाअब-तलाइं ।
सलिलाहअ-विरसोडंवराइं जाआइं रण्णाइं ॥ ३९४ ॥

का शीतल स्पर्श उनके शरीर में व्याप्त विषाग्नि को शान्त कर देता है ॥ ३९० ॥ (ख)

सरोवरों की श्रेणी अतीव सुन्दर दिखती हैं और पर्वत चोटियाँ जिनकी धूल धुल गई है, उनके अत्यन्त समीप हो जाती हैं तथा हाथियों के झुण्ड को कालिमा से परिपूरित कर देती हैं ॥ ३९१ ॥

गन्ने की फसल प्रथम वर्षा की बौछार पाकर चमकने लगती हैं और उन पर पड़ी धूल के धुल जाने से वह नीली दिखती है यद्यपि उनमें अन्तराल आ गया है तथा ग्रीष्म की उष्णता के कारण वह कई स्थानों पर भूरी हो गई हैं ॥ ३९२ ॥

इस समय सरोवर अत्यन्त सुन्दर दिखाई पड़ते हैं। यद्यपि उनकी अन्दर की दीवालें बड़ी सुदृढ़ हैं तथापि वे ध्वस्त हो चली हैं और जहाँ कसेरू घास के डंठल उखड़ गए हैं वहाँ जल श्वेत हो गया है तथा गुलाबी रंग के कसेरू नीचे हिल-डुल रहे हैं ॥ ३९३ ॥

वन के तरूओं की ऊपरी शाखाएँ मेघों की वायु से प्रकम्पित होकर शीतल हो रही हैं और निचला भाग हरा-भरा है। गूलर के फल वर्षा की बौछार पड़ने से स्वाद रहित हो गये हैं ॥ ३९४ ॥

सिसिर-च्छाएसु चिरं उअसिंधु-तरंग-पुलिण-सुहएसु ।
पहिएहिँ वीसमिज्जइ विहंग मुहलेसु वच्छेसु ॥ ३९५ ॥

णव-वरणअ-गोरंतर-हिंसी-वण-मत्त-लावअ-कुलाओ ।
जाआ भवणग्ग-णिअच्छिअव्व-सोहाओ सीमाओ ॥ ३९६ ॥

आअव-कढमाण-णवंबु-सिण्ण-दर-गोर-सालिणो होंति ।
सीमंता कच्छव-पोअ-पट्ठि-परिधूसरुद्देसा ॥ ३९७ ॥

मसिणुण्णअ-पेरंतं वावीण जलागमोणअं होइ ।
णिद्धोअ-कद्दमाणील-क्करुदंतुरं वरणं ॥ ३९८ ॥

वारिच्छेअ-दरावीअ-सलिल-वोसट्टमाण-कलमाओ ।

यात्रीगण वृक्षों की शीतल छाया में लगातार, पर्याप्त समय तक विश्राम करते हैं और उन तरूओं पर पक्षि-वृन्द कलरव कर रहें हैं तथा जल प्रवाह से पूर्ण नदियों के तट पर पड़ रेत के टीले इस समय अत्यन्त आनन्ददायक प्रतीत होती है ।। ३९५ ।।

गाँवों की सीमाओं पर हिंसो लताओं की शैया पर मदमत्त बटेरों के झुण्ड विचरण कर रहे हैं और नये वरणक घास के अन्दर के भाग का गौरवर्ण भवनों के छत पर से देखने में अत्यन्त आकर्षक लगते हैं ।। ३९६ ।।

गाँव के सीमान्त कुछ-कुछ पीले उन धान के खेतों से अतीव सुन्दर प्रतीत होते हैं जिन पर सूर्य के आतप से उबलती हुई ताजे जल की बूंदे पड़कर उन्हें गीला कर रही हैं और खेतों के बीच के मार्ग युवा कछुए की पीठ की भाँति भूरे रंग के दिख रहे हैं ।।३९७।।

उन वापियों (बावली) के चारो ओर बनी हुई मुंडेर, जो स्वच्छ तथा ऊपर तक उठो हुई तथा उनके नीले रंग के पत्थर और जिनका जल इस समय निर्मल हो चुका है, उनकी ऊँचाई घटो हुई दिख रही है क्योंकि जल बढ़कर ऊपर तक आ गया है ।। ३९८ ।।

इस भूमि में पके हुए धान के खेतों में वर्षा बन्द हो जाने के

जाआओ सीर-खंडिअ-मुत्थ-सुअंधाओ भूमीओ ॥ ३९९ ॥

आरंभिणो व्व संपइ दूरुग्गअ-दिणअरा वि णज्जंति ।
दूरुग्गआ वि परिलंघिण व्व दिअहा णवब्भेहिं ॥ ४०० ॥

का वि सिरी गअ-गोहण-परिलक्खिज्जंत-विअड-भावाण ।
ऊससिअ-तण-गहीराअमाण-मग्गाण कच्छाण ॥ ४०१ ॥

समहिअ-संज्झा-राआ विउणुच्चरमाण-गिरि-णइ-रवाओ ।
जाआ संताण-पअत्त-कीड-विरुआओ रअणीओ ॥ ४०२ ॥

उग्गंध-मइल-वसुहा सहंति णिव्वडिअ-रग्गअ-च्छाया ।
दुद्दिण-विसद्द-दूराअमाण-तूराओ णअरीओ ॥ ४०३ ॥

कारण जल की कमी हो गई है और खेत जोतने से उखड़ी हुई मुस्त नमक घास की सुगन्ध चारो ओर व्याप्त है ॥ ३९९ ॥

यद्यपि सूर्योदय बहुत पहले हो चुका है तथापि आकाश में नये बादलों के छा जाने से लगता है अभी-अभी दिवसारम्भ हुआ है। (उसी तरह) जबकि दिवसान्त में पर्याप्त समय है परन्तु उन मेघों को देखकर ऐसा लगता है कि सूर्य अस्ताचलगामी हो रहे हैं ॥४००॥

जल के समीप सीमान्त क्षेत्रों में अत्यन्त विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है और विविधता का पता तो उस समय लगता है जब पशु-वृन्द उसके समीप विचरण करते हैं और उनका मार्ग हरी-भरी घासों में छिपा हुआ प्रतीत होता है ॥ ४०१ ॥

रातें भी गोधूलि की छवि का प्रदर्शन करती हैं जब पर्वतीय नदियों की कल-कल ध्वनि इसे दुगुना कर देती है और कृमि-कीट के स्वर लगातार सुनाई पड़ते हैं ॥ ४०२ ॥

अपनी सुगन्धित कर्दभ भूमि के कारण नगर भी अतीव आनन्ददायक दिखते हैं जो पीतवर्णी प्रकाश से चमक रहे हैं और पर्याप्त समय तक विलक्षण वर्षा के दिनों की ध्वनि इस समय भी वाद्य-यन्त्रों के संगीत का स्मरण कराती है ॥ ४०३ ॥

जाआ सलिल-धारा-विराम-णिव्वडिअ-पह-जलुग्गारा ।
विज्जुज्जोआलक्खिअ-मेह-विहंगाआ रअणीओ ॥ ४०४ ॥

कीडाविलंकुर-सिहा धारा-कद्दमिअ-कच्छ-कासारा ।
छेत्त-णिसम्मंत-सराडि-मंडला होंति सीमंता ॥ ४०५ ॥

गअणं च मत्त-मेहं धारा-लुलिअज्जुणाइँ अ वणाइं ।
णिरहंकार-मिअंका हरंति णीलाआ अ णिसाओ ॥ ४०६ ॥

जलआगमम्मि मज्जइ जलम्मि सीअंत-णइ-अड णिवेसं ।
महु-मह-तलिमत्तण-घडिअ-सेस-मुक्कं व महि-वेढं ॥ ४०७ ॥

तणइल्ल-तरु-अलाणं असेव्व-कलुसुण्ह-पल्लल-जलाण ।

वर्षा के बन्द हो जाने पर भी रातों में सड़कों की नालियों के जल-प्रवाह का स्वर सुनाई पड़ता है जबकि आकाश में बिजली के चमकने से छितराये हुए मेघ (विभिन्न आकारों में) दिखाई पड़ जाते हैं ॥ ४०४ ॥

गाँवों की सीमाओं में घास के बाहुल्य से कृमि-कीटाणुओं की जैसे भीड़ लग गई है, सरोवरों का जल कीचड़-मय हो गया है और शराटि पक्षी के झुण्ड खेतों में विचरण कर रहे हैं ॥ ४०५ ॥

आकाश में छाये हुये घने मेघ, वर्षा के कारण झुकी हुई शाखाओं वाले अर्जुन तरू और सौन्दर्याहंकार से परिपूरित चन्द्रमा से विभूषित नीली रातें लोगों का चित्त आकर्षित करती हैं ॥ ४०६ ॥

वर्षा ऋतु में पृथ्वी धँस जाती है, नदियों के तट का क्षेत्र पानी में डूब जाता है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वयं को भगवान् विष्णु की शैया बनाने के लिए शेषनाग ने पृथ्वी को अपने सिर से उतार दिया है ॥ ४०७ ॥

वर्षा ऋतु में बनों की सुन्दरता दूर से ही देखी जा सकती है क्योंकि वृक्षों के नीचे की भूमि बढ़ी हुई घासों से ढक जाती है और

दूरालोएच्चिअ पाउसम्मि लच्छी वणंताणं ॥ ४०८ ॥

ऊससिअ-रण्ण-सीमावरोह-सिहराहिलक्ख-तरु-संडा ।
दीसंति णिबुड्डा इव वलंत-धूमोच्छआ गामा ॥ ४०९ ॥

धारा-किलिण्ण-वत्तं आसुरहि-कसाय-केसरद्धंतं ।
परिणमइ बंधणेच्चिअ परिसिढिलं जूहिआ-कुसुमं ॥ ४१० ॥

णंदंति णंदिअ-दुमा आसार-च्छेअ-सीअल-समीरा ।
हिअअं थल-मग्ग-वलंत-गोहणा रण्ण-पेरंता ॥ ४११ ॥

णिविड-दुम-मंडलाइं णिरंतरूससिअ-सद्दल-सिहाइं ।
वच्चंति बहल-भावं पुंजिज्जंताइं व वणाइं ॥ ४१२ ॥

णवरि अ पयाण-सम्मुहस्स पाउसेच्चिअ किणावि णरवइणो ।

सरोवरों का जल पंकिल तथा उष्ण होने के कारण अपेय हो जाता है ॥ ४०८ ॥

अरण्यों की सीमाओं पर अत्यधिक घास के उग जाने से तरूकुंजों से ढंके हुए गाँवों की चोटियाँ ही देखी जा सकती हैं। वे इस प्रकार छिप जाते हैं मानो धूम्रसमूह में ढंक गये हों ॥ ४०९ ॥

निरन्तर वर्षा की बूंदों से जूही के दल और पत्ते भींग जाने से उसकी गन्ध भी मन्द हो जाती है और उनके खिलने की गति भी शिथिल हो जाती है ॥ ४१० ॥

वर्षा थम जाने पर वन के सीमान्त प्रदेश जहाँ के तरू समूह शीत वायु से अत्यन्त सुखद प्रतीत होते हैं और खेतों की ओर गायें लौट रही हैं।, वह हृदयाकर्षक लगते हैं ॥ ४११ ॥

घने वृक्षों के कुञ्जों से वनो की शोभा और बढ़ जाती है तथा उनके इर्दगिर्द बढ़ी हुई घास को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो इन सबसे युक्त वे पुंजीभूत हो रहे हों ॥ ४१२ ॥

इसके अनन्तर ऐसा प्रतीत होता है मानो चारों दिशाएँ राजा यशोवर्मा के सम्मानार्थ किसी के द्वारा अपना नीराजन समारोह

णीराइज्जंति व वलिअ-विज्जु-वलया दिसाहोआ ॥ ४१३ ॥

सोहइ विमुह-पअत्तस्स झत्ति मगहाहिवस्स विणिअत्तो ।
उक्का-दंडस्स व सिहि-कणाण णिवहो णरिंदाण ॥ ४१४ ॥

अग्घइ तत्थ रणारंभ-भिण्ण-भड-सोणिअ-च्छडाअंवं ।
धाराअड्डिअ-पल्हत्थ-विज्जु-व यं व महि-वेढं ॥ ४१५ ॥

तिअस-रह-पेल्लिअ-घणो णह-दुंदुहि-बहल-गज्जिउग्गारो ।
जाओ पडंत-मंदार-णिबिड-धारो णहाहोओ ॥ ४१६ ॥

अहवि वलाअंतं कवलिऊण मगहाहिवं मही-णाहो ।
जाओ एला-सुरहिम्मि जलहि-वेला-वणंतम्मि ॥ ४१७ ॥

रअण-कविलासु सोहइ वेला-पुंजिअ-सिलासु से भमिअं ।

मना रही हैं और वह भी इस वर्षा ऋतु में जबकि विद्युन्माला चारो ओर प्रकाश फैला रही है ।। ४१३ ।।

वे राजागण, जो मगधनरेश के साथ मिलकर यशोवर्मा से लड़ रहे थे, इस समय पराजित होकर युद्धभूमि से पलायन करते हुए इस प्रकार प्रतीत हो रहे थे मानो आकाश से उल्का के अग्नि-स्फुलिंग गिर रहे हों ।। ४१४ ।।

युद्ध के आरम्भ में ही सैनिकों के शरीर से निरन्तर गिरते हुए रक्त से पृथ्वी तल इस प्रकार दिख रहा था मानो वर्षा की बौछार के मध्य विद्युत् के अग्नि कण गिर रहे हों ।। ४१५ ।।

देवताओ के रथ से धकेले जाने के कारण आकाश से मेघ छँट गए हैं और स्वर्ग में विजय-वाद्यों के घोषके साथ-साथ देवगण मन्दार पुष्प की वर्षा कर रहे हैं ।। ४१६ ।।

और इसके पश्चात् मगध नरेश का वध करके राजा यशोवर्मा सागर तट की ओर बढ़े जहाँ तट के वनों में इला पुष्प की सुगन्ध प्राप्त हो रही थी ।। ४१७ ।।

वे इस समय नारियल के वनों में भ्रमण कर रहे थे जहाँ सागर तट पर रत्नजड़ित प्रस्तर खण्डों का समूह दिख रहा था और

फल-भंग-महुर-गंधासु णालिएरी-वणालीसु ॥ ४१८ ॥

किं च ।

जय-गअ-कुंभप्फालण-फुरंत-सिंदूर-राविओ जाण ।
दूरुग्गओ वि णो मुअइ रअणि-विरम-च्छविं सूरो ॥ ४१९ ॥

चलण-णह-च्छवि-विच्छोलिआइँ काऊण ताण वंगाण ।
अहिणव-पणाम-चेलक्ख-पंडुराइं पिव मुहाइं ॥ ४२० ॥

चलिओ कुंभी-फल-दंतुरासु दिट्ठिं वसुंधरा-णाहो ।
रण्ण-त्थलीसु देंतो णिरूसुआसीण-हरिणासु ॥ ४२१ ॥

अवि अ ।

वल-भर-पीडा-खुप्पंत-सेस-सिर-रअण-मंडला जस्स ।

छितराये हुए नारियलों की मधुर-गन्ध अतीव आनन्ददायक लग रही थी ॥ ४१८ ॥

बंगदेश का सूर्य, जो विजयगजों के परस्पर भिड़ने से मस्तक से गिरे हुए सिन्दूर के कारण सिन्दूरी रंग में रंगा हुआ है वह इस रंग की छवि अभी तक नहीं त्याग सका है यद्यपि वह आकाश में इस समय ऊँचा चढ़ चुका है और रात्रि व्यतीत हुए भी पर्याप्त समय हो चुका है ॥ ४१९ ॥

बंगवासियों के मुख चरणनख (राजा के) की छवि के प्रभाव से धुलकर धौत हो गये हैं जिसे देखकर ऐसा लगता है कि प्रथम और अभिनव प्रणाम करने (राजा यशोवर्मा के चरणों में) के कारण उन्हें अत्यधिक लज्जा का अनुभव हो रहा था ॥ ४२० ॥

पृथ्वीपति जब आगे बढ़ते थे उस समय उनकी दृष्टि जंगल के उस क्षेत्र पर पड़ी जहाँ कद्दूफल बिखरे पड़े थे तथा हरिन के झुण्ड निरूत्सुक बैठे हुए थे ॥ ४२१ ॥

राजा की सेना के चलने के समय पृथ्वी काँपने लगती है शेष के सिर पर स्थित रत्नमण्डल चुभ गये हैं जिससे उसका उदर व्यथित

गब्भ-परिसंठिआर व्व चलइ विहुरोअरं वसुहा ॥ ४२२ ॥

दक्खिण-दिसा-णरिंदेण तेण पाअडिअ-पेसल-पणामो ।
जाओ पहेण मलयावलंबिणा मेइणी-णाहो ॥ ४२३ ॥

किं च ।

रहस-च्छेआअर-कअ-कअग्गहुत्ताण-विअलिअच्छेण ।
जेण पसाआहिमुहं मुहमसमसरारिणो दिट्ठं ॥ ४२४ ॥

कंठाहोएसु कआ ससंभमं जस्स वसह-इंधेण ।
मउलि-मिअंकामअ-सेअ-भग्ग-विअणा वण-च्छेआ ॥ ४२५ ॥

दिट्ठाओ णव-णवाणण-सोहाओ पुणो वराहि संपण्णा ।
साअर-वाअद्ध-पणामिअंमि मणि-दप्पणे जेण ॥ ४२६ ॥

हो उठता है ऐसा लगता है मानो पृथ्वी के गर्भ में स्थित मंगल ग्रह स्पन्दित हो रहा है ॥ ४२२ ॥

पृथ्वीपति राजा यशोवर्मा, जिन्हें दक्षिणावर्त का राजा विनय के साथ प्रणाम कर रहा है, अपनी सेना के साथ मलय पर्वत की ओर आगे बढ़ा ॥ ४२३ ॥

वह रावण, जो कामारि शिव का वरदान प्राप्त करने के लिए नेत्र ऊपर की ओर उठाये अपने हाथों से अपने के केश इस लक्ष्य से पकड़े हुए था कि वह शिवजी के चरणों पर अपना मस्तक अर्पित करना चाहता है ॥ ४२४ ॥

उस रावण के विशाल कण्ठ पर बने हुए घाव की पीड़ा, वृषभ-वाहन शिव जी के मस्तक पर विराजमान-चन्द्रमा से गिरते हुए अमृत की धारा के कारण तुरन्त दूर हो जाती है ॥ ४२५ ॥

वरदान प्राप्त किये हुए वह रावण अपने नये नव-मस्तकों को उस दर्पण द्वारा देखा करता था जो अत्यन्त आदर के साथ भगवान् शिव की अर्धांगिनी पार्वती ने प्रस्तुत किया था ॥ ४२६ ॥

परिउट्ठे साण-णिरूसुएण सा जेण चंद-हासस्स
परिमुट्ठा णिअ-कंठट्ठि-चुण्ण-पुंजंकिआ धारा ॥ ४२७ ॥

मलिआ पंसुलिअ-करेण जस्स विम्हय-रसा ति-णयणेण ।
तुलिओआरिअ-केलास-मूल-पंकंकिआ बाहू ॥ ४२८ ॥

संका-मंथर-संचार-दूमिओ जस्स भवण-कच्छासु ।
संचरइ तिअस-बंदी-ससिएहिँ णिरग्गलं पवणो ॥ ४२९ ॥

तं पि दस-कंधरं हरि-सुएण कक्खंतरम्मि काऊण ।
जम्मि समुद्दुद्देसे ममिअं पत्तो पहू तम्मि ॥ ४३० ॥

अवि अ ।
रोसारूढो परिपाडलेसु मुह-मंडलेसु सुहडाण ।
पहर-समंचिअ णिव्वडइ सामलो सोणिउप्पीलो ॥ ४३१ ॥

रावण ने अपने खड्ग चन्द्रहास से अपने नव मस्तकों को काटा था जिससे उसके कण्ठ की अस्थियों के चूर्ण उसके खड्ग की धार पर पुञ्जित था अतः वह इस वात से सन्तुष्ट था कि दशम मस्तक काटने के लिए उसे खड्ग को शान पर नहीं चढ़ाना पड़ेगा ॥४२७॥

रावण ने अपनी बीस भुजाओं से कैलाश पर्वत उखाड़कर भूमि पर रख दिया था जिसे देखकर शिव जी के तीनों नेत्र आश्चर्य-चकित थे कि उसने बड़े साहस से ऐसे विशाल पर्वत का सन्तुलन अपनी पंकिल भुजाओं पर वनाये रखा ॥ ४२८ ॥

उस रावण के सभाकक्ष में वायुदेव भय के मारे बड़ी शिथिलता से चला करते थे क्योंकि वे विचारे वन्दी बनाये गये अन्य देवों की सिसकियाँ भी सुन रहे थे ॥ ४२९ ॥

हमारे महाराज यशोवर्मा दक्षिण सागर के उस तट पर पहुँच गये जहाँ किसी भी समय इन्द्रतनय बालि ने महाप्रतापी रावण को बहुत दिनों तक काँख में रखा था ॥ ४३० ॥

और भी, अत्यन्त क्रोध के कारण सुभटों के खड्ग प्रहार से श्यामवर्ण रक्त की धारा प्रवाहित हो रही थी ॥ ४३१ ॥

बल-संखोहुक्खअ-रेणु-णिवह-णिट्ठिअ-वसुंधरा-पअडो ।
दोसइ सेस-फणा-मणि-राओ इव रुहिर-विच्छड्डो ॥ ४३२ ॥

परिणइ-कुंडलिअ-करावचीडणा मडह-गंड-विवरेहिं ।
ऊद्धं णिबद्ध-वेआ गएहिँ मुच्चंति मअ-धारा ॥ ४३३ ॥

परिरुज्झइ अमरिस-दसण-कट्टिआहर-णिरुद्ध-वअणेहिं ।
असमाणिअ-पहु-कज्जत्तणेण जीअं पिव भडेहिं ॥ ४३४ ॥

धावंति स-सल्ल-मडंग-कवलणाअर-दुहाविअ-मुहीओ ।
विरसा सिवाओ सोणिअ-कणुल्ल-परिरेल्लिअ-रवाओ ॥ ४३५ ॥

पडिहाइ वूढ-जोहो वि पढम-णिविडो व्व संगरुद्देसो ।

अत्यन्त रोष में वीरों के खड्ग-प्रहार से जो रक्त धारा वही वह भूमि पर जम गई जो इस प्रकार लग रही थी मानो शेषनाग के फण की मणि की लालिमा हो ॥ ४३२ ॥

हाथियों के मस्तक से निकली हुई मदधारा ऊपर की ओर उठी क्योंकि हाथियों ने प्रहार के क्रम में अपनी सूंड़ों को कुण्डलित कर लिया था जिससे कि मदधारा की गति विपरीत हो गई ॥ ४३३ ॥

राजा के सैनिकों ने अधरों से अपना मुंह बन्द कर लिया और अपनी ऊपरी दन्त-पंक्ति से ओठों को दबा लिया था। इस प्रकार वे प्राणों को इसलिए निकलने से रोक रहे थे कि अभी उनके महाराज यशोवर्मा का लक्ष्य अपूर्ण था ॥ ४३४ ॥

मृतकों का मांस-भक्षण करने के प्रयास में सियारिने अत्यन्त दुःखी होकर इधर-उधर दौड़ रहीं थीं क्योंकि शर-विद्ध होने के कारण उन शवों का मांस खाने में उनके मुख में बाण की खरोंच लग जाती थी जिससे उनके मुख भी क्षत-विक्षत होउठे और वे चीख-चिल्ला रही थीं ॥ ४३५ ॥

युद्ध प्रारम्भ की स्थिति की ही भाँति इस समय भी रण-भूमि अत्यन्त निविड प्रतीत होती थी यद्यपि अब सैनिक समाप्त किए

उस्सूण-भाव-संसत्त-तुरअ-णर-रुंड-कअ-डिंबो ॥ ४३६ ॥

आरक्ख-वण-मुहुग्गिण्ण-भूरि-भंग-ड्डिअंकुस-क्खंडं ।
रहसा विहडिअ-भमरं व धुणइ वअणं जय-गइंदो ॥ ४३७ ॥

अवजीव-भाव-गरुआअमाण-पल्हत्थ-काय-णिवहाइं ।
जाआइं दुव्वहाइं व फणिणो ताइंचिअ बलाइं ॥ ४३८ ॥

इअ से जय-पेरंतो पुहई-वइणो परिक्खअ-पहाणो ।
तुमुलो महाहवो आसि चिरअरं पारसीएहिं ॥ ४३९ ॥

किं च ।

उहओअहि-पडिलग्गा धणु-पेल्लिअ-कोडि-चलिअ-वीअद्धा ।

जा चुके थे और उनके रुण्ड-मुण्ड तथा फूले हुए शव अत्यन्त भयोत्पादक प्रतीत हो रहे थे ।। ४३६ ।।

विजयी गजों के मस्तक पर महावत के अंकुश प्रहार से जो घाव हो गये थे उनसे निसृत अंकुश खण्डों के कारण वे अभी भी अपनी सूंड़ हिलाते हुए चल रहे थे क्योंकि वे समझ रहे थे कि भ्रमरावलियाँ उनके मस्तक पर बैठी हैं ।। ४३७ ।।

वह सेना, इस समय शव बनकर यत्र-तत्र बिखरी हुई थी और निर्जीव होने के कारण इतनी वजनी हो गई थी कि उसका भार उठाने में शेषनाग भी असमर्थ हो रहे थे ।। ४३८ ।।

इस प्रकार पारशिकों के विरुद्ध राजा यशोवर्मा का अत्यन्त भयंकर संग्राम हुआ जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके प्रधान वधे गए और राजा विजयी हो गए ।। ४३९ ।।

[इसके अनन्तर अग्रिम १९ कुलकों में कवि ने राजा पृथु का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है जिन्होंने अपने बाणों से पर्वतों को पूर्व तथा पश्चिम में सागर की ओर ढकेलकर दक्षिणापथ का निर्माण किया था ।]

पूर्व तथा पश्चिम सागर के निकटस्थ पर्वतों के द्वितीयार्ध भाग

णिज्जंति जेत्तिअं एंति तेत्तिअंचेअ धरणि-हरा ॥ ४४० ॥

एक्कम्मिच्चिअ सेले पूरिअ-भुवण-वलए समोसरिए ।
आलोइउं पअत्ता सअल व्व परिट्ठिआ वसुहा ॥ ४४१ ॥

इहहुत्तं णिवडंता णोल्लेंति पणोल्लिआ धरा-वलयं ।
णज्जइ एत्तोहुत्तं परओहुत्तं व धरणि-हरा ॥ ४४२ ॥

एक्केणंचिअ चावग्ग-भिण्ण-लग्गेण पेल्लिओ गिरिणा ।
णिज्जइ पुंजिअ-रअ-पूरिअंतरो सेल-संघाओ ॥ ४४३ ॥

सेलाण चाव-पेल्लिअ-तड-मेह-पडंत-विज्जु-वलयाण ।
पक्ख-च्छेअ-ट्ठिअ-कुलिस-सल्ल-सअलाइँ व गलंति ॥ ४४४ ॥

को राजा पृथु ने अपनी धनुष्कोटि से ढकेल दिया जो वहाँ से हटकर अपने अर्धभाग के साथ किनारे हो गये और दक्षिण का मार्ग साफ हो गया और इस प्रकार उनका अर्धभाग वहाँ स्थित हो गया जहाँ स्थान रिक्त था तथा उनका पहले का स्थान खाली हो गया ॥४४०॥

यहाँ तक कि जहाँ एक ही पर्वत सारे संसार को ढंके हुए था वहाँ से जब उसे हटा दिया गया तो पृथ्वी अपने पूर्वरूप में दिखाई पड़ने लगी ॥ ४४१ ॥

ऐसा प्रतीत होता था कि जब ये भूधर एक किनारे कर दिए गए और इस दिशा में स्थित हो गए तब वे धरातल को पूर्व तथा पश्चिम की ओर ढकेलते और दबाते दिख रहे थे ॥ ४४१ ॥

पर्वत समूहों की सारी श्रेणियाँ जब धनुष्कोटि से अंग-भंग होकर एक किनारे हो गई तब उनके इस उपक्रम में उनके द्वारा रुकावट का स्थान धूलि धारा से भर गया ॥ ४४३ ॥

इस दृश्य को देखकर ऐसा लगता था मानो वज्र द्वारा उनके पंख काटे जाने पर उस वज्र के टुकड़े इन पर्वतों से गिर रहे हों और मेघमाला से निकलती हुई विद्युत् पृथु के धनुष से टकराकर नीचे गिर रही हो ॥ ४४४ ॥

णिज्जंति मुहल-मूला चल-पाअव-णिज्झरा खलंत-सिला ।
सम-विसम-भूमि-लंघण-तरंगिणो सेल-संघाआ ॥ ४४५ ॥
आसा-गएहिँ सरहस-चावग्ग-पणोल्लणा-पअत्तंता ।
धाविअ-पडिगअ-संकालुएहिँ भिज्जंति कुल-सेला ॥ ४४६ ॥
दीसंति गमण-णिवडिअ-सिहर-सिला-भरिअ-मूल-वित्थारा ।
खुत्त-धणु-मग्ग-णिग्गम-पअत्त-पढमुज्झरा गिरिणो ॥ ४४७ ॥
पाआल-भरिअ मूला पेल्लिअ-णिक्खंत-धणु-समोलइआ ।
मुञ्चंति थोअ-तुलिआ भू-भंग-भएण धरणि-हरा ॥ ४४८ ॥
जे आसि गिरीण पुरा संचय-विअडा महा-णई-पवहा ।

पर्वत समूह ढकेले जा रहे हैं, उनके मूल उखड़ रहे हैं और उनके तरू तथा निर्झरों में गति उत्पन्न हो रही है, बड़ी-बड़ी शिलायें नीचे आ रही हैं और पर्वत लहरों में नीचे ऊपर हो रहे हैं जब वे पृथ्वी के समतल तथा ऊबड़-खाबड़ स्थान को पार करते हैं ॥ ४४५ ॥

धनुष्कोटि के दबाव से ऊँचे-ऊँचे महीधर आगे की ओर बढ़ते हैं और अपने ऊपर आक्रमण की संभावना से दिग्गज उन्हें इधर-उधर ढकेल रहे हैं ॥ ४४६ ॥

पर्वतों के हिलने-डुलने से उनकी चोटियों से तथा विस्तृत आधार से चट्टानों के गिरने से जल के नये-नये निर्झर दिखाई दे रहे हैं जो पृथु की धनुष्कोटि से दबाये जाने पर अन्दर से बाहर आ गये हैं ॥ ४४७ ॥

इन पर्वतों का मूलाधार पाताल तक था और जब धनुष इनमें धंसा तो ये ऊपर की ओर उठ गए। धनुष उनके दूसरी ओर तक धँस गया था जिससे कुछ समय तक उनका सन्तुलन उसी पर इस भय से बना रहा कि कहीं ऐसा न हो कि सारी पृथ्वी ही उखड़ कर ध्वस्त हो जाए ॥ ४४८ ॥

उन नदियों की धाराएँ, जो अब तक इन पर्वतों की ढालों से गिर रही थी, इस समय अत्यन्त क्षीण निर्झर बन गई हैं और उस

ओसारिआण तेच्चिअ थलीहिँ पिज्जंति जल-सोत्ता ॥ ४४९ ॥

जेसु गिरी अवणीआ जेसुं च णिवेसिआ णरिंदेण ।
दोण्णि वि भिण्ण-सरूवा जाआ अण्ण व्व उद्देसा ॥ ४५० ॥

मज्झ-समोसरिअम्मि अ पेरंत-परिट्ठिए अ गिरि-जाले ।
ओअरइ महिं व णहं आरुहइ महि व्व गअण-अलं ॥ ४५१ ॥

चाव-पणोल्लण-णिवडिअ-सेल-भरंतेक्कवास-पुंजइओ ।
बहु-जलअरो व्व दीसइ सोच्चिअ मडह-ट्ठिओ जलही ॥४५२॥

जाआ रवि-अर-परिपिल्लणेण थोउम्ह-पिंजर-च्छाया ।
चिर-आल-ट्ठिअ-महिहर-णिरोह-मुक्क व्व णह-मग्गा ॥ य ॥

निचली भूमि में आकर मिल गई हैं जिसे इसके पूर्व पर्वतों ने घेर रखा था ॥ ४४९ ॥

वे स्थान, जहाँ से ये पर्वत हटाये गये थे तथा वे स्थान जहाँ इस समय पृथुराज द्वारा ये बैठाये गये हैं, इस समय उन दोनों स्थानों के दृश्य में पर्याप्त अन्तर दिख रहा है ॥ ४५० ॥

इस समय पर्वत समूह मध्य क्षेत्र से हटाकर सीमा क्षेत्र में कर दिये गये हैं जिसे देखकर प्रतीत होता है कि मानो आकाश उतर कर भूमि पर आ गया है और भूमि उठकर आकाश का रूप धारण कर चुकी है ॥ ४५१ ॥

वही समुद्र इस समय अपना विस्तार कम करके और अपने जल को एकत्रित करके एक ओर आ गया है क्योंकि पृथु की धनुष्कोटि से ढकेले जाने पर पर्वतों ने सागर में स्थान बना लिया है, इससे समुद्र भी असाधारण रूप से जलचरों से भर गया है ॥ ४५२ ॥

वह नभ का भाग जिसमें चिरकाल से महीधर स्थित थे । अब मुक्त हो गया है और उसमें सूर्य की किरणों से थोड़ी ऊष्मा आ गयी है तथा उसका वर्ण भी कपिस जैसा प्रतीत होता है ॥ य ॥

पढम-विमूढ-च्छाओ ओसारिअ-सेल-जाल-णिव्वडिओ ।
मज्झम्मि व पुंजइओ धराएँ बहलाअवो दिअहो ॥ ४५३ ॥

उक्खअ-गिरि-गहिर-ट्ठाण-भाव-दूरुण्णअंतर-क्खंडं ।
दीसइ तह-संठिअ-सेल-जाल-विसमं व महि-वेढं ॥ ४५४ ॥

उम्मिल्लंति महीहर-गमणुव्वेल्लिअ-धरा-समक्कंता ।
उल्लंत-रेणु-मइला सुइरेण महा-गई-मग्गा ॥ ४५५ ॥

थिइ-लंभ-णिव्वुआणं कालेण विरूढ-काणण-तणाणं ।
पक्ख च्छेआहि वि महि-हराण चलिएहिँ अवरद्धं ॥ ४५६ ॥

पेरंतीकअ-उत्तुंग-गरुअ-गिरि-वलय-बद्ध-परिवेसं ।
मज्झोणअं व दीसइ पासोणमिअं पि महि-वेढं ॥ ४५७ ॥

पहले जो दिवस पर्वतों के व्यवधान के कारण प्रकाशयुक्त नहीं रहते थे वही इस समय उनके हट जाने से पूर्ण प्रकाश से चमक रहे हैं क्योंकि ये पर्वत पहले पृथ्वी के मध्य स्थित थे ।। ४५३ ।।

पर्वतों के उखाड़ लेने से वहाँ गड्ढे हो गये थे और आस-पास के स्थान ऊँचे पड़ रहे थे जिससे कि भूमितल ऊबड़-खाबड़ दिखलाई पड़ रहा था ।। ४५४ ।।

पर्वतों के चलने से जो मिट्टी की परतें उठीं उनसे महानदियों के मार्ग चिरकाल तक कीचड़ से ही भरे रह गये क्योंकि जो धूलि-धारा उठी उससे वह नदियों के जल से मिल गयी ।। ४५५ ।।

पंख कटने से कहीं अधिक हानि इन पर्वतों को इस समय ढकेले जाने पर हुई क्योंकि पंख कट जाने पर तो ये अपने-अपने स्थानों पर स्थायी रूप से बैठ गये थे और इनके ऊपर घास-फूस तथा वन-वृक्ष उग आये थे ।। ४५६ ।।

भूमितल ऊँची-ऊँची पर्वत श्रेणियों की बनी हुई सीमा के साथ अपने मध्य क्षेत्र में अत्यन्त अवनत दिख रहा था । यद्यपि कि वह केवल दोनों पार्श्वों में ही धँसी हुई थी ।। ४५७ ।।

ओसारिअ-गिरि-गारव-विणमिअ-पेरंत-पुंजइज्जंतं ।
वित्थारित्थं तंचिअ जाअं मडहं व महि-वेढं ॥ ४५८ ॥
इअ पिहुणो धणु-पेल्लण-णिव्विडीकअ-सेल-जाल-दुल्लंघा ।
भू-पेरंता जे इर तेसु वि गहिओ करो पहुणा ॥ ४५९ ॥

अवि अ ।

अरइ-परिसक्कणा रणिर-णेउराराव-संगलंतीसु ।
ठिअ-परिअआसु दिट्ठी लग्गइ कल-हंस-मालासु ॥ ४६० ॥
विविणेह-मज्जण-ट्ठिअ-थोउब्भिज्जंत-दाण-राअं व ।
दीसइ सामाअंतं सइ सुह-भंगेसु लाअण्णं ॥ ४६१ ॥

पर्वतों के हटाये जाने से मही का तल यद्यपि विस्तारित हो गया था तथापि चारो ओर पुंजित पहाड़ों के कारण वह संकुचित-सा प्रतीत होता था ॥ ४५८ ॥

पृथु के धनुष से हटाये गये पर्वतों से भर जाने के कारण सीमायें दुर्लंघ्य हो गयीं थी फिर भी पृथु ने उन देशों से भी कर लिया ॥ ४५९ ॥

[अपनी विजय यात्रा के मध्य राजा यशोवर्मा नर्मदा नदी के तट पर पहुँचते हैं। आगे के ६ कुलकों में कवि ने नर्मदा की उस स्थिति का वर्णन किया है जब वह राजा कार्त्तवीर्य के प्रेम में पड़कर उसके लिए विकल रही]

प्रणय से उत्पन्न वियोग में विकल नर्मदा जब इधर-उधर घूमती है उस समय उसके नूपुरों की ध्वनि सुनकर हँसों का समूह घनिष्ठ परिचयवश उसके चारो ओर एकत्रित हो जाता है जिसे वह एकटक देख रही है ॥ ४६० ॥

निरन्तर विरह वेदना से उसके सुख में बाधा पड़ती रही, फलतः उसकी सौन्दर्याभा श्यामवर्ण में बदल गयी जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो स्नान हेतु उतरे हुए वनगजों की मदधार का रंग हो ॥ ४६१ ॥

संतावायासोप्पिअ-चंदण-पंक-प्पएस-तंइइं ।
दोब्बल्ल-समुम्मीलिअ-पुलिणाइँ व होंति अंगाइं ॥ ४६२ ॥

बहुसो घडंत-विहडंत-सइ-सुहासाअ-संगमुल्लोले ।
हिअएच्चेअ समप्पंति चंचला वीइ-वावारा ॥ ४६३ ॥

कुसुम-सयणिज्ज-मलणा सोरह-घोणंत-महुअरं हरइ ।
उद्देस-पहुत्त-जणाहिलक्ख-सीसं पिव सरीरं ॥ ४६४ ॥

इअ जम्मि पएसे णम्मआएँ राएसि-बद्ध भावाए ।
भणिअं संभरिअ-कहेण तत्थ वसिअं णरिंदेण ॥ ४६५ ॥

विरह व्यथा की शान्ति हेतु उसके शरीर के जिन-जिन भागों पर चन्दन-लेप होता था, वह इस समय पीले पड़ गये हैं लगता है दुर्बलतावश उसके रेतीले टापू प्रकट हो चुके हैं क्योंकि वियोग में वह क्षीण धारा हो चली है ।। ४६२ ।।

प्रायः उसकी बेचैन शारीरिक क्रियाएँ तरंगों के रूप में उसके हृदय में ही समाप्त हो जाती हैं जो अपने प्रिय के सङ्गम हेतु उत्कण्ठित होती रहती हैं जिसका सुख स्मृति में दिवा–स्वप्न की भाँति अनुभूत होकर पुनः लुप्त हो जाता है ।। ४६३ ।।

उसके शरीर की सुषमा, कुसुम-सौरभ में शयन करने वाले मधुपों का भी मन अपनी ओर खींच लेती है जो एक विशिष्ट स्थान घेर कर बैठी है और सरलता पूर्वक लोगों द्वारा अभिलक्षित है ।। ४६४ ।।

इस घटना का स्मरण करके राजा यशोवर्मा ने उसी स्थान पर डेरा डाला जहाँ नर्मदा बहती थी जिसने अपना प्रेम उसी राजर्षि कार्तावीर्यार्जुन पर दृढ़ कर रक्खा था ।। ४६५ ।।

[आगे के ५ कुलकों में कवि ने अमृतकलश की उत्पत्ति का वर्णन किया है क्योंकि राजा यशोवर्मा इस समय अपनी विजय यात्रा के मध्य सागर तट के उसी क्षेत्र में आ पहुँचा है जहाँ अमृतकलश उत्पत्ति संबन्धी घटना घटी थी]

मुह-विणिमिअ-णव-मंगल-किसल-कलाव-च्छलेण गंतूण ।
पिज्जंतं पिव अहि-दीह-दीह-जीहा-सहस्सेहिं ॥ ४६६ ॥

अणुणिज्जंतं रक्खा-परिअर-धुअ-धवल-चामर-णिहेण ।
बंदीकआमर-जरा-बंधूहिँ व बहु-पणामेहिं ॥ ४६७ ॥

मरण-भएण व चिंता-सामाअंतेहिँ जीव-जालेहिं ।
अवलंबिज्जंतं सोरहाअरा महुअर-कुलेहिं ॥ ४६८ ॥

हरि-चक्क-विरिक्क-ट्ठिअ-पाणागअ-राहु-सीस-वलयं व ।
णिअअ-च्छाया-मंडल-णिहेण पासे पआसंतं ॥ ४६९ ॥

इअ अमअ-कुंभमुब्भिज्जमाणमुअहीआ जम्मि दट्ठूण ।
तिअसेहिँ विम्हिअं तम्मि साअरंते ट्ठिअं पहुणा ॥ ४७० ॥

उक्त अमृत कलश भगवान् शेष की सहस्र दीर्घ जिह्वाओं से पिया जा रहा था, ऐसा लगता था मानो नव मंगल किसलय छल से उनके मुख पर ही रख दिया गया हो ॥ ४६६ ॥

अमृत कलश की रक्षा में तत्पर देवगण उस पर श्वेत चँवर डुला रहे हैं जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अत्यन्त वृद्ध तथा बन्दी किये गये देवगण इस दृष्टि से उसे प्रणाम कर रहे हैं कि उनकी इसी से ही सुरक्षा संभव होगी ॥ ४६७ ॥

अमृत की शाश्वत सुगन्ध से मधुपवृन्द कलश के आसपास ही मंडरा रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है मानो मृत्युभय की चिन्ता से काले पड़ गये जीवों का समूह हो ॥ ४६८ ॥

कलश की वृत्ताकार आकृति अपने बगल म राहु के गोल सिर की भाँति चमक रही है जो सिर विष्णु के चक्र से कट जाने पर भी अमृत के प्रभाव से अभी भी जीवित है ॥ ४६९ ॥

महाराज यशोवर्मा सागर के उसी तट पर आकर खड़े हुए जहाँ किसी समय खड़े होकर देवगण अचरज भरी दृष्टि से समुद्र से निकलते हुए अमृत कुम्भ को देख रहे थे ॥ ४७० ॥

मुक्का णिसासु दप्पिअ-मइंद-संपाअ-विससिअ-गइंदा ।
पुंजिअ-सेणा-कलुसीकआवडा तेण मरु-मग्गा ॥ ४७१ ॥

अवि अ ।

होंत-रसा-अल-भय-पिसुण-कसण-घण-धूमकेउ-दंडेहिं ।
दीसंति भीअ-विवलाअमाण-भुअआओ व दिसाओ ॥ ४७२ ॥

तक्खण-पसरंतुप्पाअ-तरल-तारा-करंबिओ फुरइ ।
भीओरअ-सुर-दिज्जंत-भोअ-रअणो व्व णह-मग्गो ॥ ४७३ ॥

बिल-वलय-मुहुव्वेल्लंत-सरल-भुअइंद-जाल-कलिलाए ।
चलिअं संभम-रहसुद्ध-केस-दंडाएँ व महीए ॥ ४७४ ॥

महाराज उस मरूदेश से आगे बढ़ गये जहाँ दपन्धि सिन्हों के द्वारा आक्रमण करके कई महान् गज मार डाले गये और जहाँ के कूप सेनाओं द्वारा पानी पी लेने के बाद कीचड़ मात्र रह गये ।।४७१।।

[महाराज इस समय श्रीकण्ठ (थानेश्वर) नामक स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ बहुत समय पूर्व राजा जन्मेजय ने सर्प-यज्ञ किया था । आगे के १३ कुलकों में उसी का वर्णन है ।]

इस समय दिशाओं में काले, मोटी पूँछ वाले पुच्छल तारे रसातल की ओर भयभीत-से जाते हुए ऐसे लग रहे थे मानो चारो ओर भयातुर सर्प छा गये हों ।। ४७२ ।।

उस समय उत्पात के कारण आकाश मार्ग में छितराये हुए तारागणों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो भयाकुल विषधर चमकते हुए ताराओं की भाँति अपनी मणियाँ उतारकर अपनी सुरक्षा हेतु देवों को उत्कोच के रूप में अर्पित कर रहे हों ।। ४७३ ।।

विलों के गोल मुँह से निकलते हुए बड़े-बड़े सर्पराजों के सीधे शरीर के समूह को देखकर ऐसा लगता है मानो पृथ्वी देवी भयाक्रान्ता हो उठी है और हड़बड़ी में उनकी लटों के छूट जाने से केश बिखर गये हैं ।। ४७४ ।।

सज्झस-संजाअ-जराउरेहिँ णिम्मोअ-पट्ट-मालाओ ।
भुअएहिँ वेअ-पज्जलण-संकिएहिँ व मुच्चंति ॥ ४७५ ॥

अट्ठिअ-पडंत-विसहर-संवलिअ-वलंत-धूम-जालेण ।
एक्काहुईकअं पिव णहम्मि पडिहाइ पाआलं ॥ ४७६ ॥

संभम-पुणरुत्तारुण-फुरंत-जीहा-कडप्प-पल्लविआ ।
दीसंति रोस-कवलिअ-हव्ववह-सिह व्व भुअइंदा ॥ ४७७ ॥

डज्झंत-विसहरुकर-सुंकारंदोलमाण-मुहल-सिहो ।
णीससइ व विसम-विसाणुभाव-दर-घुम्मिरो जलणो ॥ ४७८ ॥

अरुण-विसारि-फणा-रअण-राअ-पडिअग्गिआओ णिवडंति ।
गहिआणुमरण-मंडण-चिंधाओ व णाअ-णारीओ ॥ ४७९ ॥

भयभीत होने से वृद्ध होने के कारण सर्पो ने केंचुल उतार दिये हैं क्योंकि उन्हें तीव्रगति से अग्नि में भस्म हो जाना है ॥ ४७५ ॥

सर्पों के अग्निकुण्ड में निरन्तर जलने की धूम्रराशि से परिपूरित आकाश भी उस पाताल से मिलता-जुलता हुआ दिखता है जो इस समय यज्ञाग्नि की एकाहुति हो चुका है ॥ ४७६ ॥

बड़े-बड़े विषधरों के जिह्वा-समूह इस समय दुगुने रक्त वर्णी हो रहे हैं। ऐसा लगता है कि मारे क्रोध के वे सर्प अग्नि को लपटों का ही भक्षण कर रहे हैं ॥ ४७७ ॥

भस्मीभूत होते हुए असंख्य सर्पों की हिसहिसाहट के स्वरों के कारण अपनी ऊँची-ऊँची लपटों वाली आग ऐसी प्रतीत होती है मानो भारी उसांसे ले रही है और सर्प विष के कारण कुछ कुछ घूर्णित भी हो उठी है ॥ ४७८ ॥

अपने गुलावी फणों पर लाल रत्न मणि धारण किये हुए सर्पिणियाँ स्वयमेव अनलाहुति बन रही हैं। उनके इस समय के शृङ्गार से लक्षित हो रहा है कि अपने जोड़े के अन्त को देखकर वे भी अपना अन्त करने को उतावली हो रही हैं ॥ ४७९ ॥

कुसुमिअ-हरि-चंदण-कणअ-दंड-परिरंभ-लालिअंगीओ ।
वलयंति णिव्विआरं भुअंग-ललणा सिहि-सिहाओ ॥ ४८० ॥

लक्खिज्जइ आहारुद्धुमाअ-परिवेल्लिरंत-वलउ व्व ।
डज्झंत-कुडिल-विसहर-समूह-कलिलोअरो जलणो ॥ ४८१ ॥

पुरुहूआहुइ-पढमोअरंत-सुर-चाव-गब्भिणीओ व्व ।
दीसंति बहुविहोरअ-मणि-राअवहाओ जालाओ ॥ ४८२ ॥

वेवइ सरणागअ-विसहरिंद-फण-वलय-कलिअ-चलणग्गो ।
कुविअ-णरिंद-विसज्जिअ-सुआहिरूढो व्व सुर-णाहो ॥ ४८३ ॥

इअ जम्मि पिउ-वहा पंडवेण विहिअं पुरा भुअअ-सत्तं ।
चिरमुसिओ सिरिअंठोवअंठ-मग्गे पहू तम्मि ॥ ४८४ ॥

इस समय सर्पो की ललनाएँ तनिक भी भय का अनुभव न करती हुई आग की लपटों का आलिंगन करने के लिए एकत्रित हो गई हैं यद्यपि उनका शरीर कनकदण्ड के समान पुष्पित हरिचन्दन की शाखाओं का ही अब तक आलिगन करता रहा है ॥ ४८० ॥

सर्प समूह के भक्षण से अग्नि का उदर इस प्रकार भर गया कि उसकी ज्वाला देखकर ऐसा लगता है मानो अति आहार से उसकी आँते चक्कर काट रही हैं ॥ ४८१ ॥

विविध प्रकार के सर्पों की मणियों से आग की लपटें बहुरंगी हो रही हैं जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो वह इन्द्र धनुष हैं जो इन्द्र को आहुति बनाने के पूर्व नीचे की ओर आ गया है ॥४८२॥

इन्द्र के चरणों में लिपटकर इस समय नागराज तक्षक प्राणों की भिक्षा माँगने लगा जिससे इन्द्र स्वयं कंपित हो गये। मानो कुपित जन्मेजय द्वारा विसर्जित श्रुवा में ही वे आरूढ़ हो गये हों और यज्ञाहुति होने वाली हो ॥ ४८३ ॥

महाराज यशोवर्मा ने श्रीकण्ठनगर के उस वाह्यभाग में पर्याप्त समय तक निवास किया जहाँ पाण्डुवंशीय जन्मेजय ने अपने पितृदेव की मृत्यु का बदला लेने के लिए नागयज्ञ किया था ॥ ४८४ ॥

पंडु-तणएण कर-अल-पाविअ-कवअंचलेण अक्खित्तो ।
जाल-ट्ठिअ-जलअर-विब्भमेण सो जम्मि कुरु-णाहो ॥ ४८५ ॥
भाविअ-भारह-कलहं भारह-कलहेण सरवरे तम्मि ।
कामं सकामिणीएण सलिल-कीला विरइआओ ॥ ४८६ ॥

किं च ।
माया-माहप्प-गुणेहिं जेण बद्धं जअं पि णीसेसं ।
तं संजमिउं माहवमीहंत णरिंद मूढो सि ॥ ४८७ ॥
जा जिण्हुणा णराहित्र धअ-माला गो-ग्गहे परिग्गहिआ ।
दुवअ-सुआ-सिचय-परंपराएँ सो आसि पडिबिंबो ॥ ४८८ ॥

[आगे के ७ कुलकों में झील के तट पर भीम तथा दुर्योधन के गदायुद्ध का विवरण दिया है ।]

इसी स्थान पर वह झील है जिसमें छिपे हुए कुरूपति दुर्योधन के कवच का आंचल पकड़कर पाण्डुपुत्र भीम ने बाहर घसीट लिया था । वह उसके हाथों में उसी प्रकार आ गया जैसे जाल में मछली आ जाती है ॥ ४८५ ॥

भरतवंशी राजा ने भरतवंशियों के महाभारत युद्ध का स्मरण करते हुए उस सरोवर में कलभ के समान अपनी कामिनियों के साथ यथेष्ट रूप से जलक्रीडा की ॥ ४८६ ॥

भीम दुर्योधन को धिक्कारते हैं--हे राजन् ! तुम महामूर्ख हो क्योंकि तुमने उन श्रीकृष्ण को बाँधने की चेष्टा की जिनकी असीम माया के प्रभाव में सारा संसार बँधा हुआ है ॥ ४८७ ॥

हे राजन् ! गो ग्रहण के समय मत्स्यदेश में अकेले विजयी अर्जुन ने युद्ध में तुम्हारे सारे ध्वज छीन लिये थे । यह तो उस कुत्सित कृत्य का प्रतिबिम्ब था जिसमें दुःशासन ने भरी सभा में द्रौपदी के शरीर से उसके वस्त्र खींचे थे ॥ ४८८ ॥

मोत्तूण वाहु-सिहरं ठाणे अप्फालिआ तए ऊरू ।
एएसुंचिअ जंघा-बलाण भीरूण आसंघो ॥ ४८९ ॥
तइआ ठिओ सि जं किर पलोट्ट-संरंभ-सेअ-विणिवुड्डो ।
एसा सा तइ सलिल-प्पवेस-जोग्गा कआ आसि ॥ ४९० ॥
इअ ऊरु-रुअं भीमेण जम्मि संभारिआवराहेण ।
गमिओ रिऊ विहाअम्मि तम्मि करुणाइअं पहुणा ॥ ४९१ ॥
कवलिअ-किरीडि-चूडा-रअण-कणे इव विसाणल-फुलिंगे ।
जम्मि मुअंतो ण पुणो कण्णेण सरीकओ भुअओ ॥ ४९२ ॥
उक्कत्तं पि हु खण-मेत्त-तह-परिट्ठिअ-पसाअ-रोमंचं ।
जम्मि णिअ-कत्ति-कवअं तेणेअ पणामिअं हरिणो ॥ ४९३ ॥

अथवा यह भी सर्वथा उपयुक्त था तुमने स्कन्ध के बजाय अपनी जाँघ पर टाल दी थी । अरे नीच ! प्रायः कायरों की शक्ति उनके पाँवों में होती है, अस्तु अब अपनी जाँघों पर ही भरोसा रक्खो ॥ ४८९ ॥

और उस समय तुम पूर्णरूप से पसीने में डूबे रहे इसी से तुमने शरीर को जल में निवास करने योग्य बनाया ॥ ४९० ॥

ऐसे उस स्थान पर भीम ने अपने शत्रु दुर्योधन को ललकारते हुए उत्तेजित कर दिया और जब वह जल से वाहर निकला तो गदायुद्ध में उसकी जाँघे तोड़ दी, किन्तु राजा यशोवर्मा ने तो दया-भाव का ही प्रदर्शन किया ॥ ४९१ ॥

इसी क्षेत्र में कण्ड-पुच्छ नामक सर्प ने खाण्डवदाह का बदला लेने के लिए कर्ण का बाण बनकर अर्जुन पर वार किया परन्तु कृष्ण ने रथ को नीचे कर दिया जिससे उस बाण ने अर्जुन के मुकुट पर आघात किया जिसमें से उस सर्प की विषाग्नि निकलने लगी परन्तु दुबारा कर्ण ने उसे अपना बाण नहीं बनाया ॥ ४९२ ॥

जहाँ उसने अपना वह कवच, जो उसे सूर्यभगवान् से वरदान स्वरूप प्राप्त हुआ था तथा जो आजतक उसके शरीर का अविच्छिन्न अंग बना हुआ था । ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र को दान कर दिया ।४९३।

तम्मि महारह-राहेअ-रह-रहंगग्ग-दारिअ-धरम्मि ।
उद्देसे आसि णराहिवाण विअडा कहुल्लोला ॥ ४९४ ॥

अवि अ ।
गोउर-मेत्त-विणिग्गअ-ससंक-जण-दीसमाण-वोच्छेअं ।
जाअं णीसामण्णं परिहा-वलयं णहंचेअ ॥ ४९५ ॥
ओअरणा दिट्ठ-च्छेअ-पअड-णह-मग्ग-पडिणिअत्तेहिं ।
विल-मज्झेच्चिअ भय-पुंजिएहिँ भुअहेहिँ वीसमिअं ॥ ४९६ ॥
कहवि समुप्पअणवसा तह-लद्ध-च्छेअ-विहडिअद्धाओ ।
दीसंति अहिणवाओ व ठिएअरद्धाओ वडहीओ ॥ ४९७ ॥

इसी क्षेत्र में महारथी कर्ण के रथ का पहिया रक्तरंजित भूमि में धँस गया था तथा इसी क्षेत्र में अनेकानेक वीरों की वीरगाथाएँ सुनने में आती हैं ॥ ४९४ ॥

[अब आगे के १२ कुलक पदों में हरिश्चन्द्र की उस नगरी का वृत्तान्त प्रस्तुत किया है जो सदेह स्वर्ग चली गयी थी । इसी क्षेत्र में राजा यशोवर्मा ने भी केवल एक दिन में ही एक नैसर्गिक राज प्रासाद बनवाया था ।]

सारी नगरी वायुवेग से आकाश में उड़ चली । नगर निवासी, जो भवनों में विराजमान थे इस समय भयवश गोपुर मात्र तक आ पाते थे क्योंकि उन्हें चारो ओर आकाश ही आकाश दीख रहा था । गगन भी चारो ओर से दीवालों में घिरकर अपना आकाशत्व खो बैठा ॥ ४९५ ॥

सर्प-वृन्द, जो अभी तक अपने बिलों में बैठे थे, इस समय नगरी के साथ (ऊपर जाते समय) चारो ओर स्पष्ट तथा खुला अन्तरिक्ष देखकर भयभीत हो उठे और अपने बिलों में ही छिपे रह गये ॥४९६॥

गगनचुम्बी भवन अचानक ऊपर की ओर उड़ते समय लड़खड़ाने लगे । इस प्रकार वे कटकर दो भागों में विभक्त हो गये । ऊपरी भाग ऊपर निकल गया जिससे निचला भाग अभिनव प्रतीत हो रहा था ॥ ४९७ ॥

छिण्ण-धरा-अल-पडिबंध-खुडिअ-सोत्तुग्गमेहिँ पडिवण्णं ।
तुच्छत्तणमुम्मिल्लंत-गहिर-भावेहिँ अवडेहिं ॥ ४९८ ॥

परिलंबिज्जइ घोलंत-संखल-च्छेअ-पाअडद्धेहिं ।
मूलम्मि मुहल-घंटा-लीलाएँ णिहाण-कलसेहिं ॥ ४९९ ॥

उव्वेअंति व अहिणव-णिमेस-वोच्छेअ-णिच्च-पिहुलाइं ।
अविलासाइँ व दंसण-रसे वि मिहुणाण अच्छीइं ॥ ५०० ॥

मारुअ-संचरण-वसा कम-भिज्जंतम्मि भूमि-पडिबंधे ।
तद्दिअस-पलहुओच्चेअ होइ णअरीएँ विणिवेसो ॥ ५०१ ॥

पउराण जामिणीसु वि अभिण्ण-णिद्दालसाण णिव्वडइ ।
णअरि-परिसक्कणकंत-दिअस-सीमाण पडिबोहो ॥ ५०२ ॥

कूप भी पृथ्वी तल से उखड़ जाने के कारण अपना जल-तल खोकर शुष्क हो गये और अब वे खाली गहरे ही रह गये ॥ ४९८ ॥

कोष, जो कलशों में रखा हुआ तथा श्रृङ्खलाओं में बँधा हुआ भूमिगत था, अब जब नगरी ऊपर उठी तो वह भी उखड़ गया और आकाश में ही श्रृङ्खलाबद्ध लटकता हुआ घण्टा की भाँति लटक रहा था ॥ ४९९ ॥

दम्पति की भी ·आकाश में पहुँचकर देवों की भाँति पलकों का गिरना उठना बन्द हो गया। इस प्रकार उन्हें अपने प्रणय प्रदर्शन हेतु कटाक्षादि से हाथ धोना पड़ा ॥ ५०० ॥

इस समय वह नगरी दिन प्रतिदिन हल्की होने लगी क्योंकि पवनवेग से उनका धरती का आधार विच्छिन्न हो गया ॥ ५०१ ॥

यहाँ तक कि पृथ्वी पर रहते हुए नगर निवासियों की रात्रि निद्रा के भंग होने पर जो आलस्यादि का अनुभव होता था वह इस समय नगरी के आकाश में पहुँच जाने पर अन्धकार से मुक्त होने के कारण समाप्त हो गया क्योंकि यहाँ तो शाश्वत प्रकाश का सदैव साम्राज्य रहता है ॥ ५०२ ॥

पावंति कुलाल-उलाइँ भूमि-दुलहत्तणेण तद्दिअसं ।
कह-कह वि पंक-पिंडं परिरक्खा-परिमिअंचेअ ॥ ५०३ ॥

हेट्ठाअव-वसुआइज्जमाण-मूल-कमूससंत-रसं ।
जाअमहो-रअ-सिढिलं अग्ग-सिणिद्धं धरा-वेढं ॥ ५०४ ॥

दिव्व-विडवाहिरामे वि उववणे सरस-मंजरि-फलम्मि ।
लालिज्जंतच्चिअ पढम-णेह-बंधेण भू-तरुणो ॥ ५०५ ॥

सामाअंते वि मही-अलम्मि रअणी-तमाणुबंधेण ।
उप्पइअ-दिणअराअव-वसेण दिअसोच्चिअ पुरम्मि ॥ ५०६ ॥

इअ जम्मि पएसे पहु-पहाव-पडिवण्ण-परिअरसहाए ।

कुम्भकार के कुटुम्बों के लिए दिन प्रतिदिन को बर्तन की मिट्टी का घोर अभाव दिखने लगा क्योंकि आकाश में मिट्टी के अभाव के कारण उन्हें अब वह नपी-तुली मात्रा में प्राप्त होने लगी थी ॥ ५०३ ॥

सूर्य के ताप के कारण उस नगरी की मिट्टी की नींव धीरे-धीरे अपना रस खोकर निचले भाग में सूख गयी और समूची नींव मात्र धूल बनकर रह गयी जबकि ऊपरी भाग में रसाद्रता अभी भी विद्यमान थी ॥ ५०४ ॥

नगर निवासियों के समक्ष इस समय स्वर्ग के फलदार तथा मधुर रस वाले वृक्ष तथा लदे हुए शाश्वत फल थे परन्तु पृथ्वी के तरूओं से चिरमैत्री के कारण वे पृथ्वी के तरूओं का ही पोषण करते थे ॥ ५०५ ॥

इसके पूर्व महीतल रात्रि के निविड़ अन्धकार में श्यामायमान हो जाया करता था किन्तु इस समय जब वह नगरी ऊपर उठ गयी तो सूर्य के प्रभूत प्रकाश के आधिक्य में केवल दिन ही दिन दिखाई पड़ता था ॥ ५०६ ॥

इस प्रकार इसी प्रदेश में राजा हरिश्चन्द्र की वह नगरी थी जो

उप्पइअं स-तरु-सुरालआएँ हरिअंद-णअरीए ॥ ५०७ ॥
तम्मि जहागम-पडिवण्ण-विअड-भूवाल-कित्ति-सरसम्मि ।
सुर-पासाओ पहुणा एक्केण दिणेण णिम्मविओ ॥ ५०८ ॥
जस्स कडअ-क्किआओ केसव-केऊर-कणअ-रेहाओ ।
अज्जवि कुणइ णडाले सिला-णिहट्टंगुली लोओ ॥ ५०९ ॥
णीलं सिहर-च्छायं पेच्छंतो तस्स मंदर-गिरिस्स ।
पडिवज्जइ तम्मि समिद्ध-जणवओवायणे देवो ॥ ५१० ॥
अहिलेंतस्स कमेण अ जक्खाहिव-लक्खिअं दिसं तस्स ।
जाओ विसेस-दुसहो पअंड-किरणस्स व पआवो ॥ ५११ ॥
अग्घंति सरस-सुर-दारु-भंग-णीसंद-सुरहिणो तस्स ।
णिम्महिअ-णव-सुरामोअ-सीअला तम्मि उद्देसा ॥ ५१२ ॥

उस नृपति के दैवी प्रताप से सकल परिकर (पशु, पक्षी, वृक्ष, मन्दिर) सहित स्वर्गलोक को चली गयी थी ॥ ५०७ ॥

फिर इसी क्षेत्र में लब्ध कीर्ति तथा शक्तिशाली राजा यशोवर्मा ने एक ही दिन में अत्यन्त विशाल देवप्रासाद बनवाया ॥ ५०८ ॥

यही वह स्थान है जहाँ भगवान् विष्णु ने समुद्र मन्थन हेतु मन्दराचल को अपने हाथ से खींच लिया था जिससे उनके भुजबन्ध (केयूर) की नोक से बनी रेखा उस स्वर्णगिरि पर अंकित हो गयी जिसे आज भी लोग श्रद्धा पूर्वक सिर से स्पर्श करते हैं ॥५०९॥

इस मन्दराचल की घनी नीली चोटियों की छाया का पर्यवेक्षण करने वाले महराज यशोवर्मा की सेवा में वहाँ के समृद्ध जनों ने अनेक उपहार अर्पित किये ॥ ५१० ॥

धनपति कुबेर के निर्देशन में प्रतापी सम्राट् जब उत्तर दिशा की ओर बढ़े तो उनका प्रताप प्रचण्ड सूर्य के ताप की भाँति असहनीय हो गया ॥ ५११ ॥

कटे हुए देवदारू तरू से निकलते हुए सरस सुगन्ध की सुवास से यहाँ के पथ अत्यन्त प्रशंसनीय तथा आकर्षक दिखे और नव-निर्मित सुरा की सुगन्ध ने शीतलता प्रदान कर दी ॥ ५१२ ॥

किं च जाअं।

एस सरो जस्स इमा हरंति उब्बुद्ध-जल-कलंबाओ।
णल-कुंज-मुहल-जल-रंकु-संकुला कूल-लेहाओ ॥ ५१३ ॥

अह-कमल-काणण-ट्ठिअ-सिरि-दंसण-मिलिअ-जलणिहि-च्छायं।
उव्वहइ मलिअ-पाआल-पल्ललं सलिल-संघाअं ॥ ५१४ ॥

एए विहअ-वहुव्वेल्ल-णलिणि-दल-संड-पंडुरद्धंता।
विरल-दल-अज्जरुद्दंड-जरढ-कमला सरुद्देसा ॥ ५१५ ॥

सुरहिमिह गंधमासिसिर-बाल-मउलुग्गमाण जंबूण।
मअरंदमारविंदं च इह समीरो पसारेइ ॥ ५१६ ॥

[आगे के १४६ पदों में नदी, वन, पर्वत के प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन किया गया है जिसमें ३८ कुलकों से हिमालय के सरोवरों का चित्र खींचा गया है।]

यहीं पर वह सरोवर है जिसकी तट रेखायें उन पूर्णरूप से पुष्पित जल-कदम्ब के तरूओं की छाया में रहती हैं जो निरन्तर मदमस्त माधुर्य में जहचहाते हुए जलरंकुरों के समूह से परिपूर्ण हैं ॥ ५१३ ॥

यह झील अगाध जल से पूर्ण है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इसका सागर से मिलन हो रहा है जो पाताल तोड़ जल में खिले हुए कमलों के आसन पर अपनी प्रिय पुत्री लक्ष्मी को देखना चाहता है ॥ ५१४ ॥

यहाँ पर श्वेत सीमा रेखाओं से युक्त कुछ सरोवरों से चिह्न दिखाई पड़ते हैं क्योंकि विहंगवधुओं द्वारा छितराये गये पद्म-पत्रों के ढेर के ढेर पड़े हुए हैं जो इस सयय जर्जर और पीले हो चुके हैं ॥ ५१५ ॥

यहाँ वायु जम्बू तरू की सुगन्ध फैलाया करती है तथा शीतलता के साथ-साथ कलियों की सुगन्ध और कमलों के पराग का रस भी चारो ओर प्रस्तुत करती हैं ॥ ५१६ ॥

इह ते मअ-कल-कआंब-कंठ-कंदलिअ-सारसक्ककंदा ।
सोहंति वलाआलीढ-णील-लिउला तड्डद्देसा ॥ ५१७ ॥
सुसिरोसरिअ-सकद्दम-जड-जल-लव-भिण्ण-भंग-रस-सारो ।
इह सो परिदलिअ-कसाय-गंठि-गंधो मुणालाण ॥ ५१८ ॥
अण्णुण्ण-णिग्गमुक्खित्त-विसम-दल-संणिवेस-णिविडाओ ।
इह ता संचार-क्खलिअ-कुक्कुहा रण्ण-णलिणीओ ॥ ५१९ ॥
मोह-रसिआइँ इइ णिव्वडंति णह-घोलिराण कुरराण ।
उव्वत्त-मीण-ताडिअ-घण-णलिणि-दलासु सरसीसु ॥ ५२० ॥
इह वायस-सेविअ-कीडइल्ल-वसुआअ-चिविड-सालूरा ।
जालिअ-कड्ढिअ-संबूअ-सेवला तीर-पेरंता ॥ ५२१ ॥

यहाँ पर ऐसे मदोरम स्थान हैं जहाँ कलहंसों के मधुर कण्ठ से निःसृत स्वर गूँजा करते हैं जिसमें मदमस्त हंसनियों के कण्ठस्वर मिश्रित रहते हैं। कहीं-कहीं निचुलों (सरपत) के झुरमुहों में बगुलियाँ विहार करती हुई शान्ति मनाते हैं ।। ५१७ ।।

वहाँ मृदित मृणाल दण्डों की सुगन्ध उस समय और बढ़ जाती है जब उनके टूटे हुए दण्ड छिद्रों में बाहर का बहने वाला जल प्रविष्ट हो जाता है जिससे वे फूल आते हैं और उनकी स्वाभाविक गन्ध में कीचड़ की गन्ध भी मिल जाती है ।। ५१८ ।।

यहाँ पत्तों की विषम-स्थिति से घने वन कामिलिनियों का, संस्तर (विस्तर) परस्पर इस कारण से तितर-बितर हो गया है क्योंकि उन पर निरन्तर वन मुर्गों का संचरण स्खलित हो जाता है ।।५१९।।

यहाँ पर जहाँ कि उद्वर्त्तन करती हुई मछलियों से तालाबों में नलिनी के घने दल उद्वेलित हो रहे हैं। आकाश में उड़ते हुए कुरर पक्षी व्यर्थ ही चहचहाते हैं और झपट्टे मारते हैं ।। ५२० ।।

यहाँ इन सरोवरों के तटों पर कौवे उन कृमि कीटादिकों के भक्षण हेतु बार-बार नीचे उतर रहे हैं। जो शुष्क शंखी-सालूर-जालिक-शम्बूक-शैवलादि मछली मारने वालों के जाल में फँस गये हैं ।। ५२१ ।।

उव्वेल्लेइ समीरो कलह-करग्गावसोण-मूलाइं ।
संखाअ-फेण-फुड-पिच्छिलाइं इह णलिणि-वत्ताइं ॥ ५२२ ॥

पेरंत-लूण-कमला थोअ-जलुव्वत्त-तुंग-णालाओ ।
इह रोह-सद्दलावद्ध-मडह-वत्ताआ णलिणीओ ॥ ५२३ ॥

णिव्वावेंति व हिअअं एए घण-मलिअ-तल-वणा गिरिओ ।
मुहल-विहंगा अ सरा सुण्ण-पसण्णाइं अ वणाइं ॥ ५२४ ॥

सरिआण तरंगिअ-पंक-वडल-पडिबद्ध-वालुआ मसिणा ।
एए ते पविरल-काल-पल्लवा पुलिण-वित्थारा ॥ ५२५ ॥

इह मत्ताणेअ-विहंग-मुहल-कल्लोल-कलअलुप्पित्था ।
विरलं सुअंति सरसी-परिसर-परिवेसिणो गामा ॥ ५२६ ॥

यहाँ वायु उन कमलों के पत्तों को उद्वेलित करती रहती है जिनकी जड़ें हाथी के उस सूंड़ के अग्रभाग के समान रक्तवर्णी हो गयी हैं जो फेन निकलने से स्थूल हो उठा है ॥ ५२२ ॥

यहाँ कमलों के पौधे लोगों द्वारा पुष्पों के तोड़ लिये जाने के कारण क्षीण हो चले हैं और जल की कमी के कारण वे ऊपर की ओर उठे हुए हैं तथा उनके पत्ते तट पर उठी घास से उलझ गये हैं ॥ ५२३ ॥

इन पर्वतों की तलहटी में घने वन हैं जिनके ऊपर मेघवृन्द मंडरा रहे हैं और साथ लगी झीलों के तट पर चिड़ियाँ चहचहाया करती हैं जिनसे सारा वन हर्ष विभोर है ॥ ५२४ ॥

यहाँ नदियाँ बालू से ढकी हैं और कोमल चिकना रेत वेगयुक्त कीचड़ की तह में दृढ़तापूर्वक जम गयी है जिसमें काश के फूल जहां तहाँ तट पर खिले हैं ॥ ५२५ ॥

यहाँ जो गाँव सरोवरों के बाहर बसे हैं उनके निवासी मत्त खगों के अतिशय कल्लोल से संत्रस्त होने के कारण प्रगाढ़ निद्रा से वंचित हो जाते हैं ॥ ५२६ ॥

एए पूरालुंखण-विराअ-पंकोल्ल-पढम-वित्थारा ।
जाआ अहिणव-णिग्गम-हरिअ-सिहा सद्दलुद्देसा ॥ ५२७ ॥

कमल-वण-विणिग्गअ-मुहल-कुकुहा सायमिह सुहावेंति ।
थोउम्हाअंतुम्मसअ-सद्दला कच्छ-वोच्छेआ ॥ ५२८ ॥

संबूअ-चुण्ण-सबला इह णिहसण-मसिण-वामलूराओ ।
विडिमाण पअंतर-णित-विसम-हरिआओ पअवीओ ॥ ५२९ ॥

तड-णिउल-मंजरी-णिम्महंत-जल-गंध-सीअला एए ।
तणु-सुत्ति-सार-पेरंत-वालुआ सद्दलुद्देसा ॥ ५३० ॥

सहरी-पसत्त-कुररा अंतो-सद्दल-सिहं परिवहंति ।
अहि-गंध-कमलमाबद्ध-घग्घरा वारि-लेहाओ ॥ ५३१ ॥

बाढ़ के कारण जो मैदानी घास कीचड़ सोखने से वर्णहीन हो गयी है अब पुरानी तह के ऊपर घास के नये अंकुर दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ ५२७ ॥

सायंकाल कछार क्षेत्र उस समय अत्यन्त सुखद प्रतीत होते हैं जब चहचहाते हुए वन मुर्गे उन कमल पौधों से हट जाते हैं और घास के क्षेत्र से भो मन्द मसक समूह गायब हो आते हैं ॥ ५२८ ॥

यहाँ पर गैंडों के खुरों के चिह्न काले और सफेद रंगों में दिखाई पड़ते हैं। क्योंकि उसमें लघुशंखों का चूर्ण मिला हुआ है और इन गैंडों की रगड़ से बाँबियाँ चिकनी और अस्त-व्यस्त हो गयी हैं तथा उनके खुरों से बने गड्डे में उगी हुई घास समतल नहीं है ॥ ५२६ ॥

यहाँ पर घास का मैदान जल से शीतल बना रहता है और शुक्ति से भरे हुए बालुकामय तट के साथ निचुल मञ्चरो की सुगन्ध चारो ओर फैल रही है ॥ ५३० ॥

तट के समीप घर्घर करती हुई जल रेखा में मछलियों के लिए घात लगाये हुए कुरर पक्षी अत्यन्त सतर्क दिख रहे हैं तथा जल की तह में शैवाल समूह अत्यन्त सुगन्धित पद्मों के साथ दिखते हैं ॥ ५३१ ॥

सोहंति बाल-सरअम्मि णील-भू-सद्दला तहच्चेअ ।
पासालग्ग-सिलंतर-पढम-किलंतंकुरा दिअहा ॥ ५३२ ॥

एआओ परूढारुण-फल-भर-बंधुरिअ-भूमि-खज्जूरा ।
कंठीओ णिव्ववंति व अमंद-करमंद-आमोआ ॥ ५३३ ॥

इह सा स-केसरोव्वत्त-कुसुम-कविला करीर-वण-राई ।
रेहइ णिहस-ट्ठिअ-करम-केसर-च्छेअ-जडिल व्व ॥ ५३४ ॥

इह वीसमइ व हिअअं फुल्लक-समीर-सुरहि-गंधेसु ।
आवाअ-घडिअ-कमलामोएसु वणंत-मग्गेसु ॥ ५३५ ॥

वाढं लीढूस-घणत्तणेण गामेइआओ णोच्चेंति ।
इह अहुआसेअ-विवण्ण-गोमया रण्ण-भूमीओ ॥ ५३६ ॥

शरद् ऋतु के प्रारम्भ के दिन गाँवों के चारों ओर फैले नील वर्णी चरागाहों के साथ अतीव मोहक लगते हैं जबकि नगरों की घास के प्रथम अंकुर पाषाण शिला के नीचे होने के कारण पूर्णरूप से लुप्त-से लगते हैं ॥ ५३२ ॥

पृथ्वी के ढलान की भूमि फलों से लदे हुए खजूर-तरूओं से भरी पड़ी है जो परिपक्व फलों के भार से झुल गवे हैं और उनके साथ ही करमन्द फल की तीव्र सुगन्ध व्याप्त है ॥ ५३३ ॥

यहीं पर खिले हुए केसर-वर्णी करीर के कुंज इस प्रकार आकर्षक दिख रहे हैं मानो ऊँटों ने इन तरूओं से अपना शरीर रगड़ दिया जिससे इनके भूरे बाल इनमें चिपक गये हैं ॥ ५३४ ॥

वन प्रान्त के इन मार्गो पर चलते हुए सूर्यमुखी के पुष्पों की वह सुगन्ध पाकर हृदय आनन्दित हो उठता है जो वायु द्वारा उसी समय कमल की सुगन्ध मिलाकर वहाँ ले जायी जा रही है ॥ ५३५ ॥

ग्राम बालायें यहाँ के वन प्रदेश से गाय का कण्डा इसलिए नहीं बीनती हैं क्योंकि वे कण्डे (उपले) विवर्ण होने तथा उसके नोनिया मिट्टी इत्यादि में सन जाने से जलाने के लिए अनुपयुक्त हो जाते हैं ॥ ५३६ ॥

एए ते वण-सेरिह-परिमलण-पइण्ण-गोमयामोआ ।
धोऊस-रेणु-परिकविस-वारिणो पल्ललुच्छंगा ॥ ५३७ ॥
एआओ वाअ-धूसर-करीस-कविस-धरणी-सुअंधाओ ।
रण्ण-त्थलीओ उव्वुत्थ-गोउआ देंति उक्कंठं ॥ ५३८ ॥
सोहंति सरस-सूई-णिग्गम-हरिआअमाण-मूलाओ ।
इह चिण्ण-विसह-वड्ढिअ-रूढ-तणा रण्ण-सीमाओ ॥ ५३९ ॥
इह धाउ-लिहिअ-देव-त्थलाओ रण्ण-त्थलीओ सूएंति ।
आलीयमाण-भासा परिवुत्थं महिस-सत्थाण ॥ ५४० ॥
संतत्थ-विरल कंकंतरेसु गोमाउणो इह उवेंति ।
भय-चलिअण्ण-दिसा-घडिअ-वायसं महिस-कंकालं ॥ ५४१ ॥

यहाँ सरोवरों के जल से गाय के गोबर की गन्ध जंगली भैंसों के उनमें लोटने आ रही है तथा उनका जल भी ऊसर के कणों से (जो पल्लवों से घुलकर जल में मिले हैं) पीला हो गया है ॥ ५३७ ॥

यह वन प्रदेश अत्यन्त मीठी सुगन्ध प्रस्तुत कर रहा है जो भूरे गाय के गोबर से भूरा और शुष्क हो चला है इस समय अत्यन्त शुष्क दिख रहा है, लगता है, पशुवृन्द, जो कभी यहीं रूकते थे, इस समय स्थान छोड़ चुके हैं ॥ ५३८ ॥

वन की सीमा क्षेत्र सूई की नोक की भाँति उस नूतन घास के उग आने से अतीव रोचक दिख रहे हैं जो बैलों के चर लेने के अनन्तर उग आई है ॥ ५३९ ॥

धातुओं से चित्रित देवालयों वाले तथा उनके समीप हो झूलते हुए वनमुर्गों वाले इस वन-प्रदेश को देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो यहाँ भैंसों का झुण्ड विश्राम कर रहा है ॥ ४४० ॥

यहीं पर कहीं गीदड़ वृन्द भयभीत गीधों के झुण्ड से होकर किसी मरी भैंस के कंकाल के समीप जैसे ही पहुँचते हैं कौवे उन्हें देखते ही भाग जाते हैं तथा किसी दूसरी ओर से पुनः वहीं आ जाते हैं ॥ ४४१ ॥

इह रविणो मअ-तण्हा-णिहेण णीहार-पंडुरा होंति ।
सरसीसु तुलिअ-तरलंबु-वलण-विसमा इव मऊहा ॥ ५४२ ॥
कल्लोल-सिसिर-पवणा सलिलुद्देसे दिसाओ सूएंति ।
इह उड्डंत-विहंगम-धुअंबु-कण-चुण्ण-मइलाओ ॥ ५४३ ॥
इह कअ-फुकार-पडंत-वालुआ-दूसिअग्ग-तोयाओ ।
पहिएहिँ कह वि पिज्जंति वाउ-वेएहिँ सरिआओ ॥ ५४४ ॥
उम्हाल-तरु-च्छाया गो-रेणु-विइण्ण-मारुअ-णिरोहा ।
सायमिह समहिउण्हा वलंत-भट्ठाणला गामा ॥ ५४५ ॥
करि-कर-दंडामोडण-विसाह-सूसंत-सरल-तरु-जालं ।
एअं तं धूसर-विरल-सल्लई-मेहलं रण्णं ॥ ५४६ ॥

यहाँ सूर्य की किरणें सरोवरों पर मृगतृष्णा के कारण पाण्डुवर्णी हो गई हैं। वे इस प्रकार प्रतीत होती हैं मानो जल की तरलता से झुकी हुई तथा मुड़ी-तुड़ी हो चली हैं ॥ ५४२ ॥

ऊँची-ऊँची तरंगों के झटके से शीतल वायु जल-स्थान की दिशा का संकेत करती हैं और उनमें जल-कणों को बहते देखकर ऐसा लगता है मानो पक्षी उड़ रहे हों ॥ ५४३ ॥

यहाँ पथिकगण किसी प्रकार अनिच्छापूर्वक नदियों का जल पीते हैं क्योंकि तट के समीप का जल बालू से मिश्रित रहता है और वायुवेग के कारण वह रेत निरन्तर फूत्कार स्वर करता हुआ जल में गिरता रहता है ॥ ५४४ ॥

सायंकाल वृक्षों की गर्म छाया तथा चरागाह से लौटते समय पशुओं द्वारा उठती धूल भरी वायु के स्वच्छन्द बहने में अवरोध और (घरों में भोजनादि बनाने से उठे हुए) अग्नि धूम्र के कारण यहाँ के गाँव अत्यधिक ऊष्ण हो जाते हैं ॥ ५४५ ॥

यहीं पर उन देवदारू तरूओं का वन है जिनकी शाखायें तथा तने हथेलियों द्वारा तोड़ दिये जाने पर शुष्क हो गये हैं और सालकी वृक्षों के झुरमुटों के साथ भूरे दिख रहे हैं ॥ ५४६ ॥

वोलेइ लआ-संकलिअ-मुहल-कलहं णिअत्त-करिणिअं ।
इह कुंजराण मुह-मेत्त-वलिअ-जूहाहिवं जूहं ॥ ५४७ ॥
इह दिण्ण-भूमि-मद्दा परिलूणासण्ण-विडवि-साहग्गा ।
सूएंति महा-तरुणो गइंद-जूहाण वीसमिअं ॥ ५४८ ॥
इह अजवोरु-वराहा अवरोप्पर-सत्तु-सावअ-वहाओ ।
भमिअव्वाओ पविरलं रुरु सिंगवईओ भूमीओ ॥ ५४९ ॥
इह मूल-पविरलेसुं संवग्गिअ-मुणि-जणावसेसेसु ।
संवज्जंति विहंगा फलेसु णीवार-विडवाणं ॥ ५५० ॥
णिविड-लआ-जाल-पिणद्ध-सिहर-तरु-संड-पडिहउप्पअणा ।
इह तंसं उड्डेऊण खं विहंगा वलग्गंति ॥ ५५१ ॥

यहीं से हाथियों का वह झुण्ड निकलता है जिसके युवा हाथी तो लताओं के झुण्डों के उलझा करते हैं, हथिनियाँ भय से ठमक-ठमक चाती हैं और उनका नेता बड़ी शान से पीछे की ओर देखता जाता है ।। ५४७ ।।

यहाँ के वड़े वृक्ष अपनी मस्ती में अपनी ऊपरी शाखाओं के टूट कर लटक जाने और जमीन के साथ घर्षण करने से मानो यह सूचित कर रहे हैं कि गजराजों का झुण्ड यहाँ विश्राम कर चुके हैं ।। ५४८ ।।

यहाँ की भूमि मन्द गति वाले सूकर तथा अन्य वन्य पशु (बाघ, चीता) जो परस्पर शत्रुत्व भावापन्न हैं और एक दूसरे के प्राणों के भूखे हैं विल आदि के स्वच्छन्द-विचरण के लिए रुरु के शृंगों से भरी हुई सर्वथा उपयुक्त है ।। ५४९ ।।

यहाँ पक्षीवृन्द जंगल में उत्पन्न होने वाले नीवार की फसलों पर टूट पड़ते हैं और उनके डण्ठलों को कुतर ले जाते हैं जिनके दाने ऋषिगण पहले ही निकाल चुके हैं ।। ५५० ।।

यहाँ पक्षियों के ऊपर उड़ने में तरूओं के झुरमुट बाधा डाल देते हैं जिन लता कुञ्जों द्वारा हुए हैं अस्तु आकाश में पहुँचने के लिए तिरछे होकर उड़ते हैं ।। ५५१ ।।

इह केसरिणो विहुणंति ताडणुड्डीण-छप्पअ-कडप्पं ।
रहस-दलिएह-मअ-सलिल-गरुइअं केसरुपंकं ॥ ५५२ ॥

मुहल-मऊराइं हरंति किंपि इह णव-पलास-कविसाइं ।
उव्वाअ-पल्ललुप्पण्ण-पंडु-भावाइं रण्णाइं ॥ ५५३ ॥

झिल्ली-जल-कण-सीअल-पलास-परिवेसिणो इह हरंति ।
असलिल-मज्झागअ-विरल-किंसुआ पल्ललुच्छंगा ॥ ५५४ ॥

तद्दिअसाणिल-णिव्वूढ-रेणु-णिव्वडिअ-कढिण-पह-दंडा ।
वाओलीसु वि जाआ इह विरल-रआओ भूमीओ ॥ ५५५ ॥

इह उवसरं वराहाण गलिअ-जल-बिंदु बद्ध-हरिआओ ।
संकंत-पंक-गारव-बंधुरिअ-तणाओ पअवीओ ॥ ५५६ ॥

यहाँ पर अपने पंजों के प्रहार से सिंह उस भ्रमर-वृन्द को हटा कर दूर उड़ा देते हैं जो सिंह द्वारा हाथी के मस्तक को विदीर्ण करने से बहते हुए मद-सलिल में सने हुए हैं ॥ ५५२ ॥

खिले हुए पलाश-पुष्पों के साथ लाल रंग में दिखते हुए तथा कलकण्ठ से कलरव करते हुए मयूरों वाले इस अरण्य की अवर्णनीय सुषमा आकर्षक लगती है जो जलविहीन सरोवरों के कारण पीला-पीला दिख रहा है ॥ ५५३ ॥

कहीं कहीं ऐसे सरोवर जिनके किनारे स्थित पलाश तरूओं को उनकी लहरों के जलकण शीतल किया करते हैं, जलविहीन भाग में खड़े किंशुक के पल्लव बरबस मन हर लेते हैं ॥ ५५४ ॥

प्रतिदिन वायुवेग से बिछाई गई रेणु से निर्मित कठोर पथवाली भूमि, साधारण धूल की परत युक्त चक्रवातों से समतल हो जाती है ॥ ५५५ ॥

यहाँ की झीलों के इर्द-गिर्द की पगडण्डियों की घास जो सूकरों के शरीर से गिरते हुए जल बिन्दुओं के कारण हरी-भरी हो गई हैं, इस समय उन्हीं सूकरों के शरीर से गिरे हुए कीचड़ के भार से झुक गई हैं ॥ ५५६ ॥

एआओ गाढ-फुडणा पुंजइऊससिअ-भू-दल-कवाला ।
संपीड-विरस-दीहरिअ-तलिण-मुत्थाओ भूमीओ ॥ ५५७ ॥
इह हि गअ-जूह-णिद्दं सूएइ अमारुए वणंतम्मि ।
कर-णीसासुग्गाहिअ-महि-रअ-कविसो णहुद्देसो ॥ ५५८ ॥
उक्किण्ण-रअ-भरोणअ-तल-जज्जर-भू-विसट्ट-बिल-विसमा ।
थोउज्जडक्क-विडवा इमाओ ता उंदर-थलीओ ॥ ५५९ ॥
इह भूइ-दंड-सेसा वि णिअअ-दीहत्तणेण णज्जंति ।
पासल्ल-भाव-पज्जत्त-हुअवहा पाअव-णिवेसा ॥ ५६० ॥
इह काला रुग्ग-तरुत्तणेण थलइल्लमंतरा हरइ ।
भाएसु उववणाअंत-ग्गाल-तरु-मंडलं रण्णं ॥ ५६१ ॥

यहाँ की भूमि, जो स्थान-स्थान पर फट गई है, इस समय उसी पर उगी मुस्ता घास से उसके वे दर्रे ढक गये हैं जिनसे वह शुष्क तथा क्षीण-सी लगती थी ॥ ५५७ ॥

अरण्य के वायु रहित सीमा प्रदेश के ऊपरी आकाश का वह भाग ऐसा लग रहा है मानो हाथियों का झुण्ड शयन कर रहा है साथ ही उसका भूरा-भूरा रंग इस बात की ओर संकेत कर रहा है कि इसका कारण उन्हीं हाथियों द्वारा सूंड़ से उड़ाई गई धूलि धारा है ॥ ५५८ ॥

यहाँ के मार्ग अत्यन्त उबड़-खाबड़ हो गए हैं क्योंकि मूषकों ने हजारों बिल बनाकर जो मिट्टी निकाली है उसका स्थान-स्थान पर ढेर लग गया है जिसके ऊपर कहीं-कहीं अर्क विटप के पौधे उग आये हैं ॥ ५५९ ॥

भीषण दावानल में स्वाहा हुए विशाल तरूओं की राख के ऊँचे-ऊँचे ढेर मात्र दिख रहे हैं। उनके इस स्वरूप को देखकर ऐसा लगता है कि दावाग्नि के कारण से अवनत हो गये हैं ॥ ५६० ॥

यहाँ वन का वह दृश्य अत्यन्त लुभावना प्रतीत होता है जिसमें पुराने तरूओं के सूख जाने से उनके समीप ही नवीन तरूओं के कुंज दिखते हैं, इस प्रकार इन दोनों के मध्य का भू भाग एक उद्यान का रूप धारण कर लेता है ॥ ५६१ ॥

वल्ली-विआण-बहलत्तणेण छाया-णिवेस-सिसिराइं ।
इह अणह-हलिद्दी-सद्दलाइं गिरि-कच्छ-रण्णाइं ॥ ५६२ ॥
तद्दिअह-णिहस-संपीअ-सअल-सीरायसाओ व्व सहंति ।
परिकढिण-कसिण-दल-बंधणाओ इह कच्छ-भूमीओ ॥ ५६३ ॥
इह दीसइ कणअ-सिला-मऊह-पुंजाहिरंजिअं रविणो ।
णिच्छल्लिअ-परिणअ-ताल-पिंजरं पडिअ-पडिबिंबं ॥ ५६४ ॥
इह वाउद्धुअ-धूली-गरुअ-कणावडण-छिद्दिअ-रआओ ।
दीसंति विरल-जल-बिंदु-मुद्दिआओ व्व रत्थाओ ॥ ५६५ ॥
इह ता तरु-मूल-किलिण्ण-कुसुम-दल-दारु-सअल-कलिलाओ ।
आणील-कविस-फरुसा करीस-सिढिलाओ भूमीओ ॥ ५६६ ॥

पर्वत तथा घने वनों की छाया और लता कुंजों के कारण यह स्थान अत्यन्त शीतल प्रतीत होता है एवं बीच-बीच ने घनी हरी-उपजाऊ घास (हरिद्रा) रिक्त स्थानों को पूर्णरूप से ढके हुए हैं।५६२।

यहाँ कछार की भूमि प्रतिदिन जोती जाती है और उसके फल-स्वरूप उपजे हुए शस्य से काली होकर ऐसी प्रतीत होती है मानी उसने बार-बार जोती जाते समय हल में लगे लोहे को ही पी लिया है ॥ ५६३ ॥

सुनहली चट्टाने सूर्य की असंख्य किरणों के प्रतिबिम्ब के पड़ने से इस प्रकार लाल-पीली दिखती हैं मानो तत्काल कटे हुए ताड़ के फल हों ॥ ५६४ ॥

यहाँ के राजमार्गों की ऊपरी सतह पर उस धूल के कण फैले हैं, जो बवण्डर के कारण पहले तो ऊपर आकाश में उड़ गई थी किन्तु बाद में नीचे गिर कर राजमार्ग पर जमी हुई ऐसी लग रही थी मानो जल के छींटों के दबाव में नीचे बैठ गई हो ॥ ५६५ ॥

यहीं पर वह भूमि भी है जो सूखे गोबर-सी शिथिल, नीली-भूरी तथा असमतल लगती है क्यों कि उस पर तरू तले मुर्झाए पुष्प, सूखे पत्ते तथा छितराई हुई टहनियाँ बिछी हैं ॥ ५६६ ॥

इह होंति मुहल-सिहिणो पुराण-फल-सबल-कुसुमिअ-कलंबा ।
फल-कोस-विउण-पत्तल-पलास-सिसिरा वणुद्देसा ॥ ५६७ ॥
एए वण-वारण-गंड-णिहस-मअ-गंधिणो भयं देंति ।
रोसुद्ध-सीह-णह-दलिअ-वक्कला पाअव-क्खंधा ॥ ५६८ ॥
रअ-पुंज-रुद्ध-गअणा सहंति इह सायमणवसायाओ ।
पच्छद्ध-पसण्ण-मिअंक-मंडला गिम्ह-रअणीओ ॥ ५६९ ॥
गअ-जूहोअरण-विभिण्ण-णलिणि-णिव्वडिअ-सलिल-दंडाओ ।
इह ता वसुआअ-परिप्पवंत-कमलाओ सरसीओ ॥ ५७० ॥
इह पाअव-लग्ग-ट्ठिअ-णलिणि-दल-च्छेअ-कलिल-कूलाओ ।
लूआविल-फुडिअ-दलंतराओ कासार-भूमीओ ॥ ५७१ ॥

यहाँ के वन-प्रदेश मयूर की कल-ध्वनि से मुखरित हैं, कदम्ब के अत्यधिक पुराने फलों तथा नई कलियों से भरे हैं तथा उनकी शोभा पलाश तरू के पुष्पों से दुगुनी बढ़ गई है ॥ ५६७ ॥

वृक्षों के वे तने, जो हाथियों के मस्तक की रगड़ से उस मदगन्ध से वासित हो चले हैं जो कुछ सिंह के पंजों द्वारा उन हाथियों के मस्तक विदारण से बह निकले थे, इस समय भयभीत से सीधे खड़े हैं ॥ ५६८ ॥

ग्रीष्म की रातें अत्यन्त लुभावनी लगती हैं, ऊपर आकाश धूल की मोटी परत से चित्र-विचित्र दिखता है, संध्या कुहरे से रहित होती है और आकाश के दूसरे अर्धभाग में चन्द्र-ज्योत्स्ना हृदय-हरिणी वन जाती है ॥ ५६९ ॥

यहीं पर वे झीलें भी हैं जहाँ हाथियों को अवगाहन करने के द्वारा टूटे कमल पड़े हैं और अगाध जल के ऊपर आ जाने से उसकी सतह पर शुष्क मृणाल दण्ड तैर रहे हैं ॥ ५७० ॥

यहाँ की झीलों के ढलान के क्षेत्रों, जिनके किनारे कमल के उन पत्तों से भूरे हो गये हैं जो इकट्ठे होकर पेड़ों की शाखाओं से लटक रहे हैं तथा उस स्थान के अन्तराल को मकड़ियों के जालों ने भर दिया है ॥ ५७१ ॥

इह मारुअ-तंसीकअ-दाव-सिहा-सिहर-संवलंताइं ।
दिप्पंति पढमसग्गेण तअणु मूलेण रण्णाइं ॥ ५७२ ॥
अग्घंति ता णव-ट्ठिअ-सिहि-वाअ-पिसंग-चामलूरग्गा ।
इह हेट्ठुव्वाअ-दुमा थलीओ णव-दाव-गंधाओ ॥ ५७३ ॥
इह तोय-लंघणुम्मुक्क-रेणु-दल-सुण्ण-भाव-लहुईओ ।
तुरिअअरं समहिसरंति मारुआ वत्त-वल्लीओ ॥ ५७४ ॥
दीसंति तह-परिट्ठिअ-तण-मंडल-पंडुरंतरालाओ ।
इच्छा-वीसंत-दवाणलाओ इह रण्ण-भूमीओ ॥ ५७५ ॥
इह पंक-लोलणाविल-पुड-मंदुम्मिल-लोअणद्धंतं ।
सायं विअडअरंगं व णीइ जूहं वराहाण ॥ ५७६ ॥

यहाँ के वन तरूओं का तीव्र वायु के झोंकों से प्रज्वलित अग्नि में प्रथमतः शीर्ष भाग जल जाता है पश्चात् उनका निचला भाग भस्म होता है ॥ ५७२ ॥

दावानल के कारण यहाँ की वह भूमि जिस पर चींटियों की ऊँची-ऊँची बाँबियाँ बनी हुई हैं और जो वृक्षों के अधोभाग की आग से सूखकर पके रंग की हो गई, इस समय अतीव सुन्दर लग रही हैं ॥ ५७३ ॥

यहाँ पर वायु ने उन पत्तियों से भरी लतिकाओं को अधिक गतिशील वना दिया है जो इस समय अधिक हल्की हो गई हैं क्यों कि बौछार के कारण वे धूलमुक्त है तथा पत्तियों के मध्य स्थान रिक्त हैं ॥ ५७४ ॥

यहीं पर वह वनभूमि भी है जिसका पीले रंग का क्षेत्र इस तथ्य की पुष्टि करता है कि दावानल के समय वह भूभाग वच गया था और इससे यह भी सिद्ध होता है कि वन की वह अग्नि स्वेच्छा से ही शान्त भी हुई थी ॥ ५७५ ॥

यहाँ के तालाबों से निकलकर झुण्ड के झुण्ड सूकर अपने विकट तथा पुष्ट शरीर में कीचड़ लपेटे हुए आते हैं जिनकी आँखें अधखुली तथा पलकें पंक में सनी हुई हैं ॥ ५७६ ॥

इह रण्ण-गोउलेसुं उण्हाइँ वि पंथिएहिँ पिज्जंति ।
कामं गोरस-पारी-णिवेस-पंडूइँ सलिलाइं ॥ ५७७ ॥

इह सलिल-कास-सक्कारि-मूल-पडिलग्ग-कड्ढिअ-दलाओ ।
पवणो आआसिअ-सारसाओ तरलेइ णलिणीओ ॥ ५७८ ॥

तंसीकअ-कंठ-समोसरंत-विहआवलोअ-सरसाइं ।
इह किंपि पुलिण-परिसक्किआइं सायं सुहावेंति ॥ ५७९ ॥

संगलण-मासलाअंत-सीअलो विविह-वल्लि-कुसुमाण ।
आमोओ इह संचरइ कोवि सु-सुअंध-सुरहीण ॥ ५८० ॥

करह-पओअर-विसमाइँ इह पहोलंति मालुहाणीण ।
उव्वत्त-धूसराइं दलाइँ पेरंत-कविसाइं ॥ ५८१ ॥

यहाँ गायों के साथ रहने के कारण पथिकगण गर्मजल भी पी लिया करते हैं यद्यपि वह जल गाय का दूध दुहने के पात्र में रखा रहने के कारण अत्यन्त श्वेत रंग का दिखता है ॥ ५७७ ॥

वायु कमलिनी के पौधों को झकझोर रही है और उनकी उन पत्तियों को, जिनमें ये पौधे लगे हैं, समूल उखाड़ रही है तथा जब वह काशयुक्त जल के ऊपर बहती है तो साँय-साँय की ध्वदि गूंजती है जिसे सुनकर समीपस्थ सारस-वृन्द-उत्पीड़ित हो उठते हैं ॥५७८॥

यहाँ बालुकामय क्षेत्र में सायंकाल विचरण करना अत्यन्त सुखदायक होता है और उस समय का दृश्य तो और भी सरस प्रतीत होता है जब उस स्थान के खग-वृन्द अपनी सुन्दर ग्रीवा घुमाकर दृष्टि डालते हैं ॥ ५७९ ॥

यहाँ अत्यन्त शीतल तथा सुगन्धमय सौरभ निरन्तर फैलता रहता है जो अत्यन्त सुन्दर और घनी सुगन्धयुक्त लतिकाओं की सुगन्ध से निकलता है ॥ ५८० ॥

यहाँ ऊँट के पयोदर के सदृश मालुधानी लताओं की खुरदरी पत्तियाँ, जिनके किनारे भरे तथा पीले हैं, इधर-उधर लुढ़कती रहती हैं ॥ ५८१ ॥

इह रेहंति च्छाया-णिविट्ठ-पहिआवलोइअग्गाओ ।
कक्कोल-दालि-कवि-सत्थ-संकुला रण्ण-भूमीओ ॥ ५८२ ॥
इह गोर-विरहिणी-गंड-वास धूसर-पिसंग-वट्ठाण ।
भमइ अवरण्ह-महुरो गंधो करहाड-कुसुमाण ॥ ५८३ ॥
घोलइ उल्लित-सुरा-मूल-कसाय-जरढो कलंबाण ।
एस मिलाणारुण-केसराण दर-सीअलो गंधो ॥ ५८४ ॥
खज्जूर-मंजरी-पिंजराण इह परिमलो पियंगूण ।
रूढारविंद-मअरंद-कण-कसाओ परिब्भमइ ॥ ५८५ ॥
मउल-णिविडासु इह मरुवअस्स मुह-पाडलासु वल्लीसु ।
आससइ सिसिर-लच्छी तारेसु अ कुंद-कुसुमेसु ॥ ५८६ ॥
इह लोलेइ खण-क्खण-विवण्ण-जव-मंजरी-तरंगाओ ।

वहाँ बन प्रदेश के क्षेत्र अतीव आकर्षक दिखते हैं, जहाँ वृक्षों की छाया में अधिकांशत: पथिकगण विश्राम करते हैं कंकोल वृक्षों पर वानर उछल-कूद मचाया करते हैं ॥ ५८२ ॥

पृष्ठांश में भूरे तथा गुलाबी वर्ण वाले तथा किसी सुन्दरी विरहिणी नायिका के कपोल सदृश करहाट कुसुमों का सौरभ मध्याह्नोत्तर चारों ओर फैलता रहता है ॥ ५८३ ॥

यहाँ कदम्ब कुसुम का कुछ-कुछ शीतल सौरभ कदम्ब का मूल भाग सुरा से आर्द्र हो गया है। अपने मन्द हुए गुलाबी रंग की चारो ओर फैलाता है ॥ ५८४ ॥

प्रियंगु लताओं का सौरभ, जो खजूर पुष्प की भाँति लाल है, पूर्णरूप से प्रफुल्लित कमल के फूल के मधु से मिश्रित होकर यहाँ चारो और फैला है ॥ ५८५ ॥

यहाँ शिशिर लक्ष्मी को मरू-बक लताओं में जीवनदान मिलता है जिनका बाह्य स्वरूप घनी कलियों से गुलावी दिखता है और यहीं पर कुन्द के श्वेत पुष्प भी चमकते दिख रहे हैं ॥ ५८६ ॥

यहाँ जौ के खेतों की सीमा पर वायु लहराया करती है जिससे

पवणो संचार-विमूढ-मअ-विमलिआओ सीमाओ ॥ ५८७ ॥
जरढाअंत-फलूसास-पविरलाअंत-मंजरी-सूआ ।
इह अग्घंति जवाणं अग्ग-भवंतीओ सीमाओ ॥ ५८८ ॥
इह ताओ पुलोस-सुअंध-जव-कसायाणणेहिं पिज्जंति ।
फुल्ल-करवीर-पाली-समुज्जला रण्ण-वावीओ ॥ ५८९ ॥
इह दावाणल-धूमाहिओअ-पडिवद्ध-महि-रआअंबा ।
दिअसम्मि वि होंति पओस-राअ-मइला दिसाहोआ ॥ ५९० ॥
इह विहडिअ-तंतु-चुडुप्प-पम्हलाअंब-धूसरं पिअइ ।
णारंग-गब्भ-सअलं पहिओ अहरं पिव पिआए ॥ ५९१ ॥
सिसिरम्मि विरल-कुसुमे गाढालिंगण-णिहेण अवबाणो ।
बाहु-कलहम्मि मिहुणाइं वम्महो इह णिओएइ ॥ ५९२ ॥

जौ की मञ्जरियों का रंग प्रतिक्षण बदलता रहता है जिसके कारण यहाँ विचरण करने वाले हरिण दिग्भ्रमित हो उठते हैं ।। ५८७ ।।

जौ के खेतों का अधिकांश सीमान्त क्षेत्र अतीव चित्ताकर्षक दिखता है क्योंकि वालियों के पक जाने से उनमें मञ्जरियाँ कहीं-कहीं ही दिखाई पड़ती हैं ।। ५८८ ।।

अरण्य की वावलियाँ करबीर सुमनों के कारण उज्ज्वल दिख रही हैं । जिनका जल जौ का चबेना खाने वालों को कषैला लगता है ।। ५८९ ।।

यह वनभूमि विभिन्न दिशाओं में मलिनता के कारण दिन में भी रात्रि तुल्य दिखती है क्योंकि दावानल के धूम से युक्त आम्र-कुञ्ज भी धरातल की धूल से धूसरित हो गए हैं ।। ५९० ।।

एक पथिक उस नारंगी के अन्तर्भाग को अपनी प्रेमिका के अधरोष्ट की भाँति चूम रहा है । जिसका अन्तर्भाग भूरा तथा लाल दिखता है तथा जिसके अन्दर के रेशे ढीले पड़ गये हैं ।। ५९१ ।।

यहाँ शिशर ऋतु में पुष्पों की कमी के कारण कामदेव ने अपना पुष्पवाण रख दिया है और उसमें स्त्री-पुरुष के जोड़ों को गाढ़ा-लिंगन हेतु प्रेरित कर रखा है ।। ५९२ ।।

इह तं संचारिअ-कंचणार-केसर-कसाय-गंधाण ।
उच्छंखलिअ-वणाणं सोहग्गं किंपि पवणाण ॥ ५९३ ॥

इह माहवीण कोमल-पलास-दर-कविस-बंधणाहरणं ।
उब्भिज्जइ जरढ-कवोअ-कंठ-मइलारुणं मउलं ॥ ५९४ ॥

इह अहिराअंति कमावमुक्क-परिरूढ-विडव-जालाइं ।
हरिआरुण-पंडु-कसाय-विसम-वण्णाइं रण्णाइं ॥ ५९५ ॥

फल-बंध-विरल-हरिआअमाण-सहआर-मंजरि-मुहाण ।
साहु महु-वासराणं अंकुठ-कल-अंठि-कंठाण ॥ ५९६ ॥

णव-बाण-कोउहल्लेण णूणमेमेअ वम्महो मुअइ ।
सहआर-सरे अविओइणो वि इह ऊसुआ जेण ॥ ५९७ ॥

इस दृश्य में तो पवन का आकर्षण अति विलक्षण बन जाता है जिसमें कचनार, कुसुम, केसर के सौरभ से सारा वनप्रदेश उच्छृङ्ख-लित हो उठता है ॥ ५९३ ॥

मृदुल पत्तियों तथा गुलाबी बन्धनाभरण से सजी सँवरी माधवी लता की एक कली खिल उठती है जो वयोवृद्ध कबूतर के कण्ठ की भाँति मलिन तथा अरूण दिख रही है ॥ ५९४ ॥

यहाँ के वन हरे, गुलाबी, श्वेत, भूरे तथा लाल रंगों से मिश्रित और घने वृक्षों की नई पर्ण रहित शाखाओं के साथ उज्ज्वल तथा सुन्दर दिखते हैं ॥ ५९५ ॥

वसन्त ऋतु के दिन तो अतीव मोहक होते हैं जब नये टिकोरों युक्त हरी-भरी आम्र मंजरियाँ प्रकट हो जाती हैं और उन पर कोयलों के कलकण्ठ की ध्वनि गूंजती रहती है ॥ ५९६ ॥

वस्तुत: ऐसे समय में पुष्प धन्वा कामदेव बिना किसी भेदभाव के आम्रमंजरियों के बाण से उत्सुकता पैदा करके जो वियोगिनी नहीं हैं उनके चित्त को भी उत्कण्ठित करके उन्हें विचलित कर देता है ॥ ५९७ ॥

टिविडिक्किअ-डिंभाणं णव-रंगअ-गव्व-गरुअ-महिलाण ।
णिक्कम्प-पामराणं भद्दं गामूसव-दिणाण ॥ ५९८ ॥

विरल-ट्ठिअ-महुअर-कब्बुराओ इह मंजरीओ चूआण ।
दर-दड्ढ-मअण-बाणोवमाओ विडवेसु दीसंति ॥ ५९९ ॥

इह सोहंति दरुम्मिल्ल-किसलयाअंबिरच्छि-वत्ताइं ।
पाविअ-पडिबोहाइँ व सिसिर-पसुत्ताइं रण्णाइं ॥ ६०० ॥

इह हलिद्दा-हअ-दविड-सामली-गंड-मंडलाणीलं ।
फलमसअल-परिणामावलंबि अहिहरइ चूआणं ॥ ६०१ ॥

एण-खुर-खंडिआपंडु-जच्च-कच्चूर-चुण्णमुण्णमइ ।
इह अहिणव-सव्वण-वेणु-रोअणा-रेणु-रमणीयं ॥ ६०२ ॥

उस समय ग्रामोत्सवों के दिन मंगलमय हो उठते हैं। जब बच्चे सज जाते हैं, स्त्रियाँ गुलाबी साड़ी पहन कर गर्व का अनुभव करती हैं, जबकि दरिद्र कृषकगणों में किसी प्रकार की उत्सुकता नहीं दिखाई पड़ती है ॥ ५९८ ॥

कहीं-कहीं पर आम की मंजरियों पर काले मधुकर बैठे हुए हैं जिससे कि वृक्षों में वे ईषत् दग्ध मदन बाण के समान दिखलायी पड़ रहे हैं ॥ ५९९ ॥

यहाँ अंकुर प्रस्फुटित हो रहे हैं जिनमें कि थोड़ा-थोढ़ा (लाल) किसलय दल निकल रहे हैं मानो शिशिर में सोये हुए वन ने अब उठकर अपनी आँखें खोली हों ॥ ६०० ॥

यहाँ आम्रतरू जिनके फल अभो अधपके हैं। हल्दी लगाये हुए श्यामवर्णी द्रविड़ कुमारी के गोल-कपोल की भाँति नीले रंग वाले सबका चित्त आकर्षित कर लेते हैं ॥ ६०१ ॥

उत्तम कर्चूर पौधे से निर्मित चूर्ण जब हिरणों के खुरों में लगता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानो टूटे हुए बाँस का पीतवर्णी रोचन हो ॥ ६०२ ॥

दीहर-हेमंत-णिसा-णिरंतरुप्पण्ण-चाव-वावारो ।
जिअ-लक्खो मा इर माहवम्मि कुसुमाउहो होउ ॥ ६०३ ॥

पल्लव-सिहाओं इह णिव्वडंति दूरारुणा महु-मुहम्मि ।
साहा-विभेअ-पाविअ-णिअ-रस-सोणाओं व तरूण ॥ ६०४ ॥

इह कहवि सामासाइअ-णव-सहआर-मअरंद-बिंदुइआ ।
रुंटंता भमरच्चेअ भमर-मालाहिँ पिज्जंति ॥ ६०५ ॥

णालाअड्ढिअ-परिणाम-पसिढिलूससिअ-बंधणाहोअं ।
रस-गारवेण फलमिह चूआण कमोहुरं पडइ ॥ ६०६ ॥

फल-लंभ-मुइअ-डिंभा सु-दारु-घर-संणिवेस-रमणिज्जा ।
एए हरंति हिअअं अजणाइण्णा वण-ग्गाम्मा ॥ ६०७ ॥

हेमन्त की दीर्घ निशा में जो जितलक्ष्य कामदेव सतत् अपने चाप का प्रयोग करता रहा वहीअब अपने लक्ष्य के प्रति कुसुम बाण वाला न बन जाये ॥ ६०३ ॥

मधुमास के प्रारम्भ में वृक्षों के पल्लवों के अग्रभाग स्यात् इसलिए गुलाबी हो चले थे कि शाखाओं के कटने से उनका रक्त रस बनकर इन पल्लवों पर उतर आया है ॥ ६०४ ॥

मधुप-वृन्द नई आम्रमंजरी से गिरते हुए मधुरस का पान कर रहे हैं तथा कुछ आम्रमंजरियों के निकट न पहुँच पाने के कारण उन्हीं को पी रहे हैं जो रस से सराबोर हैं ॥ ६०५ ॥

आम के फल रसभार से बोझिल होकर ऊपर नीचे धीरे-धीरे डोल रहे हैं और उनके ऊपरी छिलके परिपक्वता के समय ढीले होकर फूल आये हैं ॥ ६०६ ॥

जहाँ पर कि फलों की प्राप्ति से बच्चे मुदित हैं घर अच्छी लकड़ियों से निर्मित होने के कारण निर्मित हैं। विरल आबादी वाले ऐसे वनग्राम हृदय को हरते हैं ॥ ६०७ ॥

किंपि दुम-जज्जरेसुं हिअअं घोसावबद्ध-धूमेसु ।
लग्गइ विरल-ट्ठिअ-वायसेसु उव्वत्थ-गामेसु ॥ ६०८ ॥

इह गामागअ-धम्मिअ-संमज्जिअ-सुण्ण-लिंगमुवसेलं ।
दल-गंधि गहीराणील-कुंडमुरु-पाअवं संडं ॥ ६०९ ॥

अवमारुअ-मूल-णिमिल्ल-पल्लवाउंजिणो परिसरेसु ।
इह तरुणो सिहर-वहम्मि णवर झंकारिणो होंति ॥ ६१० ॥

इह भूरि-भमिर-साहा सारंग-विराविणो विराअंति ।
आबद्ध-महा-महु-पिंड-मंडला जर-तरु-क्खंधा ॥ ६११ ॥

परिणाम-सोस-लहुआअमाण-फल-थोअ-पाविओसासा ।
इह जाआ पढम-समाणआओ मालूर-साहाओ ॥ ६१२ ॥

जो ग्राम ग्रामवासियों के द्वारा छोड़ दिये गये हैं वे जर्जर हो गये हैं और उसमें पेड़ उग आये हैं यहाँ अब कौवे जहाँ-तहाँ ही दिखलायी देते हैं और धुआँ केवल घोष (गाँव के बाहर, गाय चरवाहों का निवास स्थान) से ही उठता है ॥ ६०८ ॥

यहाँ पर्वत के समीप घने वृक्षों के कुंज में एक शिवलिंग स्थापित है जिस पर कोई अचानक आया हुआ धार्मिक जल चढ़ा लेता है तथा विल्व फल के शुष्क हो जाने से उसकी सुगन्ध फैल रही है और कुण्ड का जल गहरा एवं नीलवर्णी हो गया है ॥ ६०९ ॥

यहाँ के वृक्षों के मूल के समीप वाले वायुवेग से उनके पल्लवों में कम्पन हो जाता है फलस्वरूप उन वृक्षों के शिखरों से झंकार केवल की ध्वनि सुनाई पड़ती है ॥ ६१० ॥

अत्यन्त पुराने वृक्षों के तने, जिन पर निरन्तर वानरों की उछल-कूद चलती रहती है; मधुमक्खियों द्वारा बनाये गये शहद के गोलाकार छत्तों से आवृत्त होने के कारण अतीव सुन्दर लगते हैं ॥ ६११ ॥

यहाँ के बेल तरूओं की शाखायें, जो लदे हुए फलों के कारण अधिक बोझिल होकर झुक गयी थी अब उन फलों के पक जाने से उनका बोझ काफी हलका हो गया है ॥ ६१२ ॥

सावअ-पअवी-भिण्णावसाय-हरिअंतरा विराअंति ।
एए पहाअ-सरसा वण-त्थली-सद्दलद्धंता ॥ ६१३ ॥

परिसडिअ-वेणु-दल-रंग-पिंगलं गलइ गिरि-अड-दरीसु ।
जलमिणमो मल-हरिआअमाण-जरढोवल-क्खलिअं ॥ ६१४ ॥

इह सोत्तागम-विहडिअ-सिलासु मुणिणो गुहासु णिवसंति ।
कासायमुव्वहंता पुराण-वोरट्ठि-विच्छायं ॥ ६१५ ॥

इह फलइ दुमवईसुं पणओ भमराण कुसुम-पीआणं ।
सिद्ध-परिग्गहिअ-गुहा-गेहासु णिअंब-मालासु ॥ ६१६ ॥

इह कड्ढिअ-विअड-सिला-वडण-ट्ठिअ-चुण्ण-रासि-पंसुलिआ ।
विसमुज्जल-मुहल-तडा घडणा-जोग्गोवला गिरिणो ॥ ६१७ ॥

वन-प्रदेश में घास से भरे हुए मार्गों का केन्द्र स्थल अत्यन्त सुन्दर है क्योंकि प्रभातकाल में वन्य-पशुओं के चलने-फिरने से उन पर जमी ओस तो ढुलक चुकी है और इस समय उनका गोलापन तथा ताजगी अत्यन्त रोचक लगती है ।। ६१३ ।।

यहाँ बाँस की शुष्क पत्तियों से लाल रंग का जल पर्वत की घाटियों से होकर बहता है । यहाँ पुराने चमकीले पत्थर के कणों से मिलकर वह हरे रंग का हो जाता है ।। ६१४ ।।

यहाँ ऋषिगण उन गुफाओं में निवास करते हैं जिनकी कोरें निरन्तर बहते हुए निर्झरों से कट गयी हैं । और वे कषायवर्णी वस्त्र धारण करते हैं जिनपर वेर की गुठलियों के दाग पड़े हैं ।। ६१५ ।।

यहाँ पर्वतों की तलहटी की उन गुफाओं में सिद्धगण निवास करते हैं जो घने वृक्षों से ढकी हुई हैं तथा जहाँ भ्रमर इच्छानुकूल पुष्पों के मधुरस का पान करके तृप्त होते रहते हैं ।। ६१६ ।।

यहाँ ऐसे भी पर्वत हैं जिनके निचले भाग में उनके उन कणों का ढेर लगा हुआ है जो लगातार चट्टानों के गिरते रहने से चूर्ण हो गये हैं और जिसके कारण वह भाग खुरदुरा हो चुका है तथा उन कणों के ढेर भवन-निर्माण कार्य हेतु अत्यन्त उपयोगी हैं ।। ६१७ ।।

इह परिसक्किज्जइ कढिण-कक्करुक्केर-णिसिअ-णह-हीरं ।
कुरुविंद-कंदरा-मंदिरेसु मंदं मइंदेहिं ॥ ६१८ ॥

इह दर-खल्लइअ-तडोवलाओ परिविरल-बाल-मीणाओ ।
फेण-च्छाया-सारोअराओ रेहंति सरिआओ ॥ ६१९ ॥

अववक्कल-णीसह-मूल-बंधुराअंत-बाल-धव-कुंजा ।
इह बहुलं गाढ-कसाय-सीहुणो गिरि-अड-ग्गामा ॥ ६२० ॥

इह दिअसम्मि वि सिहरावरोह-परिअत्त-रवि-अरुम्मिल्ला'।
धूमाअंति व दूरावलोअ-मइला गिरि-वणंता ॥ ६२१ ॥

चलण-णिसण्णुण्णामिअ-चिबुअ-अलायामि-तलिण-मुहरेहं ।
सोहइ पसुत्तमिह केसरीण भर-णिग्गअ-णहग्गं ॥ ६२२ ॥

यहाँ कुरूविन्द प्रस्तरों में बने हुए गुफा मन्दिरों में सिंह मन्दगति से भ्रमण करते हैं और वे जिधर निकलते हैं उधर उनके तीक्ष्ण चंगुल चूर-चूर हुए पत्थरों पर दिखाई पड़ते हैं ॥ ६१८ ॥

यहाँ उन नदियों के तटों पर पत्थरों के चूर्ण बिखरे हुए हैं जिनमें थोड़ी-थोड़ी नन्हीं मछलियाँ दिखाई देती हैं तथा उनकी अन्तस्तरंगों पर फेन की छाया स्पष्ट लक्षित होती है ॥ ६१९ ॥

पर्वतों की तराई में उन सघन धव तरूओं से घिरे हुए ग्राम बसे हैं जिनकी जड़ें चतुर्दिक् फैली हैं और उनकी घनी छाया में ग्राम कुटीर उद्योग से लगते हैं ॥ ६२० ॥

यहाँ पर्वतीय वनों के बाहरी भाग में उन शिखरों के अवरोध सूर्य की किरणें मन्द हो जाती हैं और वे वन दूर से देखने पर दिन में भी धूम्र से ढँके हुए से प्रतीत होते हैं ॥ ६२१ ॥

चिबुक उठाये हुए तथा घनी मुख रेखा विस्तृत किये हुए अपने पैरों पर टेक लगाये प्रसुप्त सिंहों की स्थिति अतीव रोचक प्रतीत होती है विशेषतः जब उनके चंगुलों की तीक्ष्ण नख पंजों से बाहर आ जाती हों ॥ ६२२ ॥

इह सुइरेण पसम्मइ कप्फाड-परंपरा-पडिक्खलिओ ।
अहिताडिअ-कंसुग्गार-झंझणा-पडिरवाहोओ ॥ ६२३ ॥

इह दीसइ विमलाअंत-मणि-सिला-संड-संधिउज्जोअं ।
परिदलिअ-दाडिमी-कुसुम-दल-सिहाअंबिरं गअणं ॥ ६२४ ॥

इह दूर-ट्ठिअ-सिहरा वित्थारासण्ण-पाअड-णिअंबा ।
दीसंति अग्ग-मइला कमेण मूलुज्जला गिरिणो ॥ ६२५ ॥

इह ताओ खंडिउव्वाअ-पाअवालग्ग-वल्लि-कलिलाओ ।
सवरुक्खअ-कंदुद्देस-विवर-विसमाओ भूमीओ ॥ ६२६ ॥

इह वाहेहिँ वराहाण बाण-विहआणमणुसरिज्जंति ।
अग्गग्ग-समुज्जल-रुहिर-बिंदु-मुद्दाओ पअवीओ ॥ ६२७ ॥

कांस्य के परस्पर भिड़ने से जो खनखनाहट की ध्वनि होती है उसे पुनः शान्त होने में पर्याप्त समय लग जाता है क्योंकि वह ध्वनि गुफाओं में प्रवेश करके पुनः प्रतिध्वनि में बदल जाती है ।। ६२३ ।।

मणि शिलाओं के ढेर के ढेर से निकलती हुई चमक से यहाँ का आकाश खिले हुए दाडिमी कुसुम की भाँति लाल हो जाता है ।। ६२४ ।।

यहाँ के ऊँचे-ऊँचे पर्वतों की चोटियाँ तो मेघों से मलिन दिखाई देती हैं पर उनका अधोभाग उज्ज्वल दीखता है ।। ६२५ ।।

यहाँ वे क्षेत्र भी हैं जिनके तरूओं पर घनी लतायें विद्यमान हैं और उन तरूओं के कट जाने पर वे भूमि पर सूख रहीं हैं तथा यहाँ की भूमि भी शबरों द्वारा कन्दमूल के खोद लेने से ऊबड़-खाबड़ हो गई है ।। ६२६ ।।

यहाँ व्याध लोग वाराहों के भागने का मार्ग इस युक्ति से ढूंढ़ पाते हैं कि उनके बाणों से विद्ध बराह के शरीर से निकलती हुई रक्त की बूंदें आगे-आगे भूमि पर पड़ी दिखाई देती हैं ।। ६२७ ।।

मणि-वित्थार-परिट्ठिअ-वसुहा-पअडाअमाण-पेरंतो ।
लक्खिज्जइ सेस-फणा-अडो व्व अह णिम्मलो जलही ॥ ६२८ ॥

णिविड-दल-णाल-परिजडिल-दीहरुद्दंड-पिंड-खज्जूरा ।
एआओ जलहिणो तड-तमाल-णीला वणालीओ ॥ ६२९ ॥

गोसे विअसंति मराल-चंचु-परिचुंबिआओ सरसीसु ।
इह कमलिणीओ महुअर-पुलिंद-विणिवेस-पल्लीओ ॥ ६३० ॥

एह इहं जलणिहिमुत्तरेण उअ-महिहरे णह-विसारी ।
सामीरं रअमणुवत्तिऊण गंधो वण-लआणं ॥ ६३१ ॥

पाडलिअ-भू-रओ णिहसणेण पूआण परिमल-कसाओ ।
कविलिअ-णियंसणो इह जणस्स संज्झाअइ रओहो ॥ ६३२ ॥

इसके अनन्तर निर्मल तथा उज्ज्वल समुद्र दिखाई पड़ता है जिसके तट का भूभाग नाना रत्नों एवं मणियों से भरा हुआ इतना विलक्षण लगता है मानो शेषनाग ने अपना वृत्ताकार फण फैला रखा हो ॥ ६२८ ॥

यहाँ सागर तट पर खजूर के वन की पंक्तियाँ दिख रही हैं, जो अत्यन्त लम्बे तथा घनी पंक्तियों वाले हैं तथा नीचे की भूमि तमाल-पत्रों से नीली हो रही है ॥ ६२९ ॥

यहाँ पर ऐसे सरोवर भी हैं जिनमें खिले हुए कमलों को प्रभात में हँस अपनी चोंच से चूम रहे हैं और कमलिनियों के पत्र दलों में भ्रमर निबास कर रहे हैं ॥ ६३० ॥

इस सागर की उत्तरदिशा में स्थित पर्वत से वन लताओं की सुगन्ध अत्यन्त वायुवेग से आकाश मण्डल में फैलती हुई यहाँ आ रही है ॥ ६३१ ॥

यहाँ सुपाड़ी के तरूओं के लगातार विघर्षण से रजकण भी लालवर्णी हो उठे हैं और उनकी गन्ध से सुवासित यहाँ के निवासियों की भूरी वेष-भूषा देखकर गोधूलि-बेला का भ्रम हो जाता है ॥ ६३२ ॥

इह पवण-भिण्ण-ताली-रस-च्छडा-पिच्छिले परिक्खलिआ ।
कइणो महुर-सुअंधे लिहंति हत्थे गिरि-अडीसु ॥ ६३३ ॥
रंखोलिर-परिणअ-गब्भ-सार-संभिडण-मुहल-फल-कोसा ।
इह पवणो णच्चावेइ णालिएर-वणालीओ ॥ ६३४ ॥
मुहलंदोलिअ-ताडी-पल्लव-संवेल्लिआ इह वहंति ।
बंधण-दलंत-तणराअ-फल-चडकारिणो पवणा ॥ ६३५ ॥
अह केलासो वोलेइ अम्मि हिम-कण-किलामिअ-च्छायं ।
संभरिअ-मअण-विणिवाअ-खेअ-विहुरं व ससि-बिंबं ॥ ६३६ ॥
इह हर-जडाहिसंजमण-गंठि-णिविडिअ-गलेण वासुइणा ।
उप्फुल्ल-फणा-धरिआ मुच्चंति समीरणुग्गारा ॥ ६३७ ॥

वायु के प्रचण्ड वेग के कारण टूटे हुए ताल वृक्षों के फलों के रस से सने हाथों को बन्दर (पर्वतों के अधोभाग में) मधु के स्वाद के कारण चाट रहे हैं ॥ ६३३ ॥

यहाँ वायु के संवेग में नारियल के कुँज नृत्य कर रहे हैं । उनके फल परस्पर दोलित होने से टक्कर खाकर अत्यन्त तीव्र ध्वनि कर रहे हैं क्योंकि वे लगभग पक चुके हैं ॥ ६३४ ॥

वायुवेग के कारण यहाँ के ताड़ी-फल संवेलित हो उठे हैं और आन्दोलित होने से उनमें चटक-चटक की ध्वनि उत्पन्न हो रही है जिससे अच्छे किस्म की घासों के फल भी उस वायु के झोंके में फट जाते हैं ॥ ६३५ ॥

और अब कैलास पर्वत भी अतिक्रामित हो रहा है जहाँ चन्द्रमा हिमाच्छादित होने के कारण इस प्रकार मन्द दिखलाई देता है मानो कामदेव के पतन का स्मरण करके वह अत्यन्त खेद का अनुभव कर रहा है ॥ ३३६ ॥

यहीं पर वासुकी नाग के फणों से उस समय की निकली हुई उष्ण श्वास सम्पूर्ण वायुमण्डल को परिव्याप्त कर रही है । जिस समय उन्हें शिवजी के जटाजूट में लपेटा गया और जटा की गाँठ से उन विचारे वासुकि का कण्ठ भी बँध गया जिससे उनकी श्वसन-क्रिया में अवरोध उत्पन्न हो गया था ॥ ६३७ ॥

इह णेअ णिसासु वि णिव्वडंति आमोअ-पेल्लिअ-भुअंगा ।
रअण-च्छवि-संवलिआ कडएसु महोसही-विडवा ॥ ६३८ ॥

इह मणि-अडाण दीसइ उव्वत्तिअ-वरहि-पिच्छ-विच्छाओ ।
णीहार-पड-परिक्खलिअ-णिग्गमो किरण-विच्छड्डो ॥ ६३९ ॥

इह फुरइ पंडु-भावो वासागम-भंग-गहिअ-सिहराण ।
अणवरअ-विसज्जिअ-विज्जु-रुहिर-धाराण व घणाण ॥ ६४० ॥

इह सिद्ध-सुंदरीणं थणाण णव-णह-वआण णिव्वडइ ।
आअंब-राइ-लंछिअ-विइत्त-भुअवत्त-लाअण्णं ॥ ६४१ ॥

इह मुणिवराण णिक्कंप-णियम-पडिबंध-संधिआलोआ ।
झाण-विरमम्मि जाअंति णवर मलिणा गिरि-गुहाओ ॥ ६४२ ॥

इस क्षेत्र में रातो में संजीवनी आदि वन औषधियाँ रत्न की प्रभा की भाँति चमकती रहती हैं जिससे भयंकर सर्प स्वतः दूर चले जाते हैं ॥ ६३८ ॥

यहाँ मणियों की प्रभा मयूरों के उल्टे पंखों की प्रभा की भाँति धूमिल दीखती है क्योंकि उनके ऊपर ओस तथा कोहरे की परतें पड़ जाती हैं ॥ ६३९ ॥

यहाँ उन मेघ समूहों के ऊपर पीला रंग चमक उठता है जो इस समय वर्षा आगमन देखकर पर्वत चोटियों पर विराजमान हैं और वह चमक ऐसी प्रतीत होती है मानो उन मेघों का विद्युत् रूधिर निरन्तर निकल रहा है ॥ ६४० ॥

यहाँ सिद्ध सुन्दरियों के स्तनों पर लगे हुए नव-नख-क्षत इस प्रकार का आकर्षण प्रस्तुत करते हैं मानो भूर्जपत्र पर लाल रंग में रेखाचित्र बना दिया गया हो ॥ ६४१ ॥

यहाँ की गुफाएँ मुनियों के नियय-संयम-तप के आलोक तथा उनके ध्यान योग के तेज से प्रकाशमान रहती हैं परन्तु उनकी समाधि समाप्त हो जाती है तो वहाँ अँधेरा हो जाता है ॥ ६४२ ॥

इह मुक्क-पल्ललुम्मुह-पसण्ण-महिसावलोइआ होंति ।
सेल-सिहरंतरिज्जंत-रवि-अरा दिअस-परिणामा ॥ ६४३ ॥

छाया-णिव्वाविअ-सद्दलाण भद्दं दिणावसाणाण ।
णअर-विणिअत्त-गोवी-परिगीअ-वणंत-मग्गाण ॥ ६४४ ॥

इह पल्ली-धूमुब्भेअ-धूसरिज्जंत-कुंज-रमणिज्जा ।
होंति गिरि-अडअ-दंडा णिसागमारंभ-गंभीरा ॥ ६४५ ॥

उअय-च्छविं मुअंतो पुराण-करि-दंत-पिंगल-मऊहो ।
इह सोहइ सिहरासत्त-मंडलो जामिणी-णाहो ॥ ६४६ ॥

धाराहिसित्त-णव-कंदलाण इह ता चलंति मालाओ ।
जरढ-कलविंक-गल-मंडलाहिलीणा जलहराण ॥ ६४७ ॥

सूर्यास्त के समय देखा जाता है कि भैंसें अपना मुंह ऊपर उठाने में अतीव आनन्द भरी मुद्रा में सरोवरों से निकल कर बाहर आ जाती हैं और सूर्य पर्वतों के पीछे छिप जाते हैं ॥ ६४३ ॥

सायंकाल का समय तो अत्यन्त आनन्दमय हो जाता है जब घास से भरे क्षेत्र छाया के कारण शीतल हो उठते हैं और वन प्रान्त के पथों पर नगर से आती गोपी-वृन्द के सुमधुर गीत सुनाई पड़ते हैं ॥ ६४४ ॥

यहाँ पर्वत शिखरों पर रमणीय कुंज नीचे से उठते धुएँ से पीले पड़ गये हैं और इस प्रकार धूसरित लग रहे हैं मानो रात्रि का आरम्भ हो गया है ॥ ६४५ ॥

चन्द्रमा की शुभ्र कान्ति पुराने गजदन्त की भाँति धूमिल दिख रही है फिर भी पर्वत शिखर पर उनका मण्डल अतीव आकर्षक लग रहा है ॥ ६४६ ॥

यहाँ पर नये तरूओं के ऊपर मेघमाला से वर्षा की बौछारें पड़ रही हैं जो इस प्रकार गहरे नीले लग रहे हैं मानो वृद्ध कलविङ्क पक्षी के गोल कण्ठ हों ॥ ६४७ ॥

इह सो तरुअल-वसुआअ-सलिल-संभिण्ण-केसरामोओ ।
परिणअ-किण्ण-सुरा-अंध-गाढ-महुरो विणिम्महइ ॥ ६४८ ॥
पढमासारे इह तत्त-भू-णिवेसाइँ वण-कुरंगेहिं ।
दर-घडिअ-मुहं पिज्जंति अग्ग-सिसिराइँ तोयाइं ॥ ६४९ ॥
इह वेल्लंत-दुमुज्झिअ-भिण्ण-वओ-अंड-कलल-सीअरिणो ।
वाअंति मेह-सीअल-धूलि-लवुत्थंघिणो पवणा ॥ ६५० ॥
एए विराअ-गोमय-हरिअंतर-बुब्बुआ परिवहंति ।
सद्दल-संदाणिअ-सहर-चित्तला पूर-वित्थारा ॥ ६५१ ॥
इह धारा-विच्छोलिअ-फलट्ठि-णिग्गअ-कसाय-गंधाण ।
विरल-भमराण घोलइ लच्छी जंबू-तरुअलाण ॥ ६५२ ॥

वकुल पुष्प की सुगन्ध निकलकर तरूओं के तले पहुँचकर सूख जाती है परन्तु वर्षा की बौछारों से पुनः इस प्रकार की सुगन्ध फैलने लगने लगती है मानो किण्व के बीजों से तैयार की गई पुरानी मदिरा महक रही हो ॥ ६४८ ॥

प्रथम वर्षा के समय जल की निचली पर्तें संतप्त रहती हैं इसलिए वन कुरंग थोड़ा सा मुंह सटाकर ऊपर का शीतल जल पीते हैं ॥ ६४९ ॥

यहाँ मेघों द्वारा शीतल की गई तथा धूलिकणों से युक्त वायु निरन्तर बहती है और पक्षियों के जो अण्डे वृक्षों के हिलने से भूमि पर गिर पड़ते हैं, उनके मध्यभाग पर छिड़काव करती रहती है ॥ ६५० ॥

गोबर के मध्य विलीन हरे-हरे बुलबुले बाढ़ में बहते रहते हैं और दलदली भूमि में, घासों में फँसी हुई मछलियाँ अत्यन्त आकर्षक लगती हैं ॥ ६५१ ॥

यहाँ जम्बू तरूओं के तले धरती की श्री सुन्दरता उस समय स्पष्ट दिखाई देती है जब वर्षा के कारण जम्बूफल धुलकर कसैली गन्ध से भर जाते हैं जिससे भौंरे कदाचित ही उन पर आते हैं ॥ ६५२ ॥

उक्कंदलाण घोलइ इह सेरिह-दलिअ-केसर-वणाण ।
गंधो उब्बुद्ध-कलंब-सीअलो सेल-कडआण ॥ ६५३ ॥

इह सलिल-किलिण्णाअंब-विरस-मालूर-सार-सुरहीण ।
जलअ-समयम्मि रण्णाणिलाण णिव्वडइ सोहग्गं ॥ ६५४ ॥

णव-धारा-पडिबज्झंत-रेणु-परिसामला थली-मग्गा ।
धूसर-हरिण-खुर-च्छेअ-कब्बुरा इह विराअंति ॥ ६५५ ॥
अवमेहाओ वि मइल-चंदिमा होंति सोम्म-पवणाओ ।
सलिलंध-गअण-दर-णिव्वडंत-ताराओ रअणीओ ॥ ६५६ ॥

इह सा उम्मुद्दिअ-सिंदुवार-मअरंद-वंध-सुहआण ।
सरअ-दिअसाण विअसइ लच्छी उग्गंध-कमलाण ॥ ६५७ ॥

यहाँ उन पर्वत की उपत्यकाओं में खिले हुए कदम्बतरूओं से शीतल तथा सुगन्धित वायु आया करती है जिन पर कदली वन विराज रहा है और भैंसों के द्वारा केसर के कुंज निरन्तर कुचले जाते हैं ॥ ६५३ ॥

यहाँ वर्षा ऋतु में वन को वायु अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होती है जिसमें जल में भीगे हुए लालवर्णी, स्वादरहित विल्व-फल की गन्ध भरी रहती है ॥ ६५४ ॥

वर्षा के नये धारा-प्रपातों में मिली हुई मिट्टी से स्थल मार्ग-श्यामवर्णी हो गया है और उस पर हरिणों के भूरे रंग के खुर चिह्न अत्यन्त रोचक प्रतीत होते हैं ॥ ६५५ ॥

यद्यपि आकाश मेघरहित होता है तथापि यहाँ रातों में चन्द्रमा तथा सौम्य वायु मलिन दिखाई पड़ते हैं और तारे तो बड़ी कठिनाई से दृष्टिगोचर होते हैं क्योंकि पृथ्वी पर विद्यमान जल की परतों के अन्धकार से ये धूमिल हो जाते हैं ॥ ६५६ ॥

और अब शरद ऋतु में दिन की छबि चारो ओर फैलती है जिसमें सिन्धुवार कुसुम तथा कमलों के पराग और मधु की सुगन्ध पूर्णरूप से व्याप्त रहती है ॥ ६५७ ॥

इअ सअल-दिसा-अड-विअय-मिलिअ-महि-मंडलेहिँ सच्चविआ।
सेणा-भडेहिँ से सुहअ-संणिवेसा वणुद्देसा ॥ ६५८ ॥

अवि अ।

एए विरत्त-सुरचाव-विरस-विरलाहिलक्खिअ-च्छाया।
महिस-खुर-च्छेअ-विहाविअ-प्पहा मणि-अडुद्देसा ॥ ६५९ ॥

इच्छा-परिअत्त-लआ-विआण-उद्देस-पीडिअ-दुमाण।
छाया सच्चिअ अण्ण व्व रण्ण-फरुसा उववणाण ॥ ६६० ॥

विब्भमवईण भिज्जंतमलअ-परिगूढ-केसरं जाण।
ताणंचिअ विअलइ इह लआण फल-पेल्लिअं कुसुमं ॥ ६६१ ॥

इस प्रकार महाराज यशोवर्मा की सेना के महारथियों ने वन-प्रदेशों की सुषमा का अवलोकन करते हुए पृथ्वीपर नाना देश-देशान्तरों पर विजय प्राप्त कर ली ॥ ६५८ ॥

[इसके अनन्तर कवि ने ३० कुलकों में विजित शत्रुओं के देशों तथा नगरों की अस्त-व्यस्त दशा का वर्णन किया है।]

(शत्रुओं से) मणिमण्डित क्षेत्र इस समय अपनी उज्ज्वलता तथा छवि इस प्रकार खो चुके हैं जैसे इन्द्रधनुष अपनी कान्ति गँवा चुका हो और उनका गौरव इस प्रकार क्षीण हो गया है मानो महिषों ने अपने सीगों से सब कुछ ध्वस्त कर दिया हो ॥ ६५९ ॥

सुन्दर उद्यान इस समय ऊबड़-खाबड़ होकर अरण्य की भाँति दिख रहे हैं और आक्रमणों के कारण धूल-धूसरित तरूओं पर लताओं की मनमानी वृद्धि से उनकी सम्पूर्ण श्री लुप्त हो गई है ॥ ६६० ॥

लता-कुसुम, जिनकी कलियाँ सुन्दरियों के जूड़े की शोभा बढ़ाया करतो थीं, इस समय मुरझाने लगे हैं और उनमें फलों के विकास से वे भूमि पर गिरते जा रहे हैं ॥ ६६१ ॥

ओसरिअ-सिहर-बंधा तहट्टिओवत्त-भित्ति-पब्भारा ।
भवणोच्छंगा तेच्चेअ विजल-वावीणिहा जाआ ॥ ६६२ ॥

जाआ ताओच्चिअ तह-महग्घ-मणि-रासि-सबलिअ-क्खंभा ।
भमिर-भुअंग-फणा-रअणमेत्त-विहवाआ वीहीओ ॥ ६६३ ॥

इह किर तंआ पुर-संणिवेस-पिहु-पंसु-रासि-परिवेसं ।
वरिसासु पएस-पआस-खुत्त-मणि-विद्दुमं णअरं ॥ ६६४ ॥

णीरेणु-भाव-णिव्वडिअ-साल-सुर-सअण-तोरण-विडंका ।
दूरे वि पुर-णिवेसा इह आसण्ण व्व दीसंति ॥ ६६५ ॥

पविलीण-कुसूल-ट्ठाण-फरुस-बुस-पंसु-थउडिउद्देसा ।
इह भू-दविणण्णेसण-विइण्ण-विवरा घरोवासा ॥ ६६६ ॥

राज-प्रासादों के अन्तःपुरों की छतें इस समय ध्वस्त हो चुकी हैं कि उनकी बाहरी दीवालों के अवशेष मात्र इस प्रकार लग रहे हैं मानो जलरहित कूप हों ॥ ६६२ ॥

वे राजकीय हट्ट जो किसी समय रत्नमणि से जगमगाया करते थे अब स्वच्छन्दरूप से विचरण करते हुए सूर्यों को मणियों से गौरवान्वित हो रहें हैं ॥ ६६३ ॥

वस्तुतः यहाँ वर्षाकाल में उस नगर के चारो ओर मिट्टी के ढेर वृत्ताकार से दिखने लगते हैं तथा उनमें मणि-मूंगे उन विभिन्न स्थानों पर चमकते दिख पड़ते हैं जहाँ वे गड़े हुए थे ॥ ६६४ ॥

वे स्थान जहाँ नगरों की संस्थापना हुई थी, यद्यपि पर्याप्त दूरी पर थे, इस समय अत्यन्त समीप दिख रहे हैं उनके गुम्बज तथा देबालयों के मेहराव और दुर्ग की दीवालें धूल रहित होने के कारण स्पष्ट दिखने लगे हैं ॥ ६६५ ॥

भवनों के अन्दर के खाली स्थानों में अन्नादि के अभाव में ऊँचे-नीचे गड्ढे दिख रहे हैं तथा आस-पास धूल-मिट्टी के ढेर और फर्श पर बड़े-बड़े गहरे छेदों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि के नीचे गड़े धन की खोज में ऐसा किया गया है ॥ ६६६ ॥

इह काल-रूढ-सीरागमाइँ जाआइँ बहल-हरिआइं ।
भू-गुण-विसट्ट-मंदार-बद्ध-गहणाइँ छेत्ताइं ॥ ६६७ ॥

इह कारहीसु कळं उण्णंति व भूसु सावसाआसु ।
आरामंति विणिम्महिअ-कमल-गंधाओ व दिसाओ ॥ ६६८ ॥

साहासु बंध-परिसेस-रज्जु-वोच्छेअ-विरल-जर-दब्भा ।
दोला-मग्गा उववणिग्गमेसु एए तरुअलाण ॥ ६६९ ॥

अवसण्ण-पुराण-णरिंद-कित्तण-ट्ठाण-सोण-चुण्णाओ ।
इह जर-भुअंग-संभाविआओ पेरंत-भूमीओ ॥ ६७० ॥

इह णिज्जिअ-कुंदोसीर-सार-सहआर-पाडल-रसाइं ।

बहुत पहले जुते हुए खेत की शिरायें (हल के निशान) अब भर गयीं हैं और उनमें घास उग आयी है। जमीन के स्वाभाविक गुण के कारण उनमें मन्दार आदि के जंगल भी उग आये हैं ।।६६७।।

सरोवरों के सूख जाने से उनके तल में कमलों के स्थान पर करभ पौधेभर गये हैं, अस्तु, इन स्थानों पर स्त्रियों के स्थानों पर दिग्वधुएँ अँगूठे (पंजे) के बल पर खड़ी होकर सूर्योदय की प्रतीक्षा करती हैं और दिशाएँ भी कमल पराग खोकर इस समय शून्यवत् हो रही हैं ।। ६६८ ।।

यहाँ उद्यानों में तरूशाखाओं से बँधे हुए जो झूले लटक रहे हैं, इस समय उनकी रस्सियाँ तो टूट गई हैं, मात्र उन रस्सियों की गाँठें बची हैं जिनका दर्भ विरल और जीर्ण हो गया है ।। ६६९ ।।

यहाँ नगरों के बहिर्भाग में, जहाँ भूतपूर्व सम्राटों के गौरव सम्बन्धी स्मारकादि निर्मित थे, अब ध्वंसावशेष मात्र रह गये हैं और उन अवशेषों के लाल चूर्ण इस समय भुजंगों की भाँति दिख रहे हैं ।। ६७० ।।

यहाँ कमल तथा करवीर से भरी हुई बावलियों का जल ग्रीष्म काल में अत्यन्त रोचक लगता है जो सब प्रकार से कुन्द उशीर

कमल-करवीर-वावीसु गिम्ह-तोयाइँ अग्घंति ॥ ६७१ ॥
इह विअड-मूलबंधा घडिअ-सिला-संचया परिसरेसु ।
असमत्त-णिवेसच्चिअ जरं गआ सु-पुरिसारंभा ॥ ६७२ ॥
दुग्गम-भाव-ट्ठिअ-णालि-घडिअ-घंटेसु तोरणग्गेसु ।
इह अज्ज वि उद्देसा संभाविअ-भूरि-विहव व्व ॥ ६७३ ॥
आ-सिहर-परिट्ठिअ-भित्ति-संचया गलिअ-दारु-पडिबंधा ।
इह दूमंति व अब्भंतराअवा भवण-वित्थारा ॥ ६७४ ॥
जण-विणिहट्ठायस-कलुस-हीण-पाहाण-देहली-बंधा ।
अगरु-दल-लहुअ-जर-दार-दारु-सअला इह णिवेसा ॥ ६७५ ॥

के सौरभ तथा गुलाबी आम के रस की सुगन्ध को भी मात कर रहा है ॥ ६७१ ॥

यहाँ कुशल शिल्पियों द्वारा अपूर्ण निर्माण कार्य भो दिख रहा है जो सुदृढ़ नींवयुक्त तथा शिलादिकों से परिपुष्ट होते हुए भी इस ससय शासक के अभाव में जर्जर तथा खण्डहर से लग रहे हैं ॥ ६७२ ॥

यहाँ एक नगरी का कुछ अंश निर्मित हो चुका है और उसके ऊँचे-ऊँचे तोरण घण्टा गुम्बज देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि यह नगरी वैभव सम्पन्न थी ॥ ६७३ ॥

यहाँ वे आवासीय भवन भी हैं जिनकी इस समय मात्र ऊँची-ऊँची दीवालें खड़ी हैं और उनको सहारा देने वाली काष्ठ-बल्लियाँ धाराशायी हो चुकी हैं उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों उनके अन्तःकरण अत्यन्त ताप के कारण झुलस गए हैं ॥ ६७४ ॥

यहाँ निवास-भवनों की देहलीज पाषाण शिलाओं से बनाई गई है और उन पाषाण खंडों को लोहे की छड़ों से बाँधा गया है जो कलुषहीन हैं क्योंकि लोग निरन्तर उन्हें साफ करते हैं और घिसते रहने से उनमें चमक है। उन भवनों के द्वार सुगन्धित अगरू काष्ठ से निर्मित है तथा पुराने होने के कारण हल्के होकर टूट गये हैं और अब तो उनके अंशमात्र ही शेष हैं ॥ ६७५ ॥

इह विहडिअ-पिंडी-बंध-संधि-परिलंबि-बाल-णिम्मोआ ।
आयाम-परिट्ठिअ-बंक-विअड-लिंगा थलाहोआ ॥ ६७६ ॥
इह चिंचिणीण घेत्तूण करअलोलुंप-पिंडिअं पहिओ ।
कवलेइ जरढ-कलविंक-पक्ख-परिकब्बुरं कुसुमं ॥ ६७७ ॥
दीसंति पढम-पीढा णिबिडारुण-लग्ग-पंक-लेवाओ ।
इह विहडिअ-भित्ति-च्छेअ-णिग्गआ जज्जरिट्टाओ ॥ ६७८ ॥
इह लवणुग्गम-परिहीण-भित्ति-वलयत्तणेण दीसंति ।
अहिअ-विअडाआ पूरण-समुण्णआ कूव-कोसीओ ॥ ६७९ ॥
पीणत्तण-दर-परिणाम-भंग-परिकसण-मणि-कवालाओ ।
आहोअं अज्ज वि इह कहेंति गहिराआ रत्थाओ ॥ ६८० ॥

यहाँ स्थलों पर ऊँचे-ऊँचे टीले बनाए गये हैं जिनकी अस्तकाष्ठ पिण्डियों के जोड़ों पर साँप के केंचुल लटक रहे हैं और ध्यान से देखने पर उनकी लम्बाई पर जमी हुई कीचड़ की परतों के चिह्न स्पष्ट होते हैं ॥ ६७६ ॥

यहाँ पथिक, वृद्धा गौरैया के पंख जैसे भूरे-भूरे इमली के पुष्प तोड़कर और अपनी हथेली पर ढेर का ढेर मींजकर बड़े चाव से अपना ग्रास बनाता है ॥ ६७७ ॥

यहाँ लालरंग की मिट्टी की मोटी परत युक्त और नीचे नींव की दीवाल से निकली हुई तथा इधर-उधर गिरी पड़ी ईंटें दिखाई पड़ रही हैं ॥ ६७८ ॥

दीवाल पर जमी हुई रेह (नमकयुक्त) कारण भित्ति वलय के क्षत हो जाने से यहाँ के कूप जलाधिक्य से अत्यन्त समुन्नत दिखाई पड़ते हैं ॥ ६७९ ॥

सुन्दर तथा सुदृढ़ बने हुए राजमार्ग इस समय अंग-भंग हो चुके हैं तथा मणि-माणिक्यादि रत्नों के टुकड़े अपनी मलिनता का प्रदर्शन करते हुए भी वे यह सिद्ध कर रहे हैं कि वे कितने विशाल थे ॥ ६८० ॥

इह कालेण समीकअ-तलाअ-सुरमंदिराआॅ दीसंति ।
दर-णिण्णुण्णअ-संठाणमेत्त-विसमाआॅ भूमीओ ॥ ६८१ ॥

घर-गोलअ-दारोसरिअ-मूल-पडिबद्ध-चुण्ण-रेहाओ ।
एआआॅ पाडलावंडु-कुप्परा जुण्ण-भित्तीओ ॥ ६८२ ॥

इह गंभीराअंति व अहिआलोआइँ जालअ-विहंगा ।
छायासु वि दर-पाविअ-खंभ-च्छायाइँ भवणाइं ॥ ६८३ ॥

दिअसे वि भूअ-संभावणाएँ उक्कंटयंति अंगाइं ।
णीसद्दाआॅ वि इह झत्ति घडिअ-सद्दाआॅ वडहीओ ॥ ६८४ ॥

इह दूमंति व फल-पत्त-लोह-पविरिक्क-ताल-खज्जूरा ।

यहाँ सरोवर तथा मन्दिर दोनों भूमिगत हो चुके हैं और उनके ऊपर की भूमि बराबर होते हुए भी कालान्तर में ऊबड़-खाबड़ हो गई और अब तो मात्र कुछ-कुछ चिह्न ही ऊँचाई-निचाई में दिख रहे हैं ॥ ६८१ ॥

यहीं वे जीर्ण-शीर्ण गिरी हुई दीवालें भी हैं जिनकी नींव में उनके चूर्ण की रेखा तीव्रगति से गिरती दिख रही है जो उन वृत्ताकार भवनों के द्वारों से इंटों की लाल-पीली पर्तों से निकल रही है ॥ ६८२ ॥

यहाँ भवनों का दृश्य अत्यन्त भयंकर तथा गम्भीर स्थिति युक्त है और गवाक्षों के ध्वस्त होने तथा गिरे हुए स्तम्भों की लुप्त छाया के कारण इन भवनों के अन्तर्भाग अधिक प्रकाशमान हैं ॥ ६८३ ॥

किसी प्रकार का शब्द न होने पर भी यहाँ के वलभी ध्वनि न होने पर भी आवाज के आभास मात्र से दिन में ही भूत के भय से रोंगटे खड़े हो जाते हैं ॥ ६८४ ॥

भवनों के वहिर्भाग की स्थिति देखकर अत्यन्त क्षोभ होता है क्योंकि इस समय ताड़-खजूर के तरू नग्न से खड़े दिख रहे हैं और लोगों को अच्छे नहीं लगते उनके फलों का रंचमात्र भी लोभ नहीं है तथा कूपों में लगे पानी खींचने के चक्रों के लोहे की छड़े लुप्त

अवलोह-पलोट्ट-जरारहट्ट-दंडा घरोवासा ॥ ६८५ ॥
चिण्होवलक्खिआ विहुआरंभोहुर-णरिंद-दीसंता ।
इह अज्ज वि संति महा-णिहाण-मग्गा परिसरेसु ॥ ६८६ ॥
अघडंत-धूम-रअ-णिग्गमाओ पल्हत्थ-भवण-विरलाओ ।
इह होंति गाढ-तिमिरा चिरेण रअणीसु रत्थाओ ॥ ६८७ ॥
इह तस्स चिरं सेवागएहिँ विहडिअ-समिद्धि-बंधेहिं ।
णिअ-णअर-संणिवेसा वेरि-णरिंदेहिँ सच्चविआ ॥ ६८८ ॥
किं च जाअं ।
पेच्छह लद्ध-च्छायं इमीऍ पडिवण्ण-दप्पणं वअणं ।

हो चुकी हैं एवं उनमें लगी काष्ठ की तीलियाँ टूटकर बिखर गई हैं ॥ ६८५ ॥

यहाँ आज भी नगर के वहिर्भाग के उन राजपथों की ओर नत मस्तक नृपगण लज्जा से दृष्टिपात करने हैं जो उनके बहुमूल्य राज्यकोष की ओर गये हैं। उन्हें यह अनुभव करने लज्जा आ रही है कि वे अपने प्रयास में असफल रहे ॥ ६८६ ॥

यहाँ के राजमार्ग लगभग सारी रात अन्धकार में ही रहते हैं और कहीं से कोई धूम्र अथवा धूल आने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि सारे भवन इन्हीं राजमार्गों पर गिर पड़े हैं ॥ ६८७ ॥

अपने नगरों की यह दुर्दशा शत्रु राजागण अपनी आँखों से देख रहे हैं जो अब ऐश्वर्य समृद्धि छोड़ कर चिरकाल से राजा (यशोवर्मा) की सेवा से लग गये हैं ॥ ६८८ ॥

[इसके अनन्तर ६ कुलक पदों में कवि ने सैनिकों की पत्नियों के आमोद-प्रमोद का वर्णन किया है जब वे सैनिक विजय का अभियान पूरा करके धर लौटे।]

भला, इस युवती का मुखमण्डल देखो जिसने अपनी चमक-दमक पुनः प्राप्त कर ली है और अब दर्पण के समक्ष खड़ी है। उसका

कमलं व समुह-रवि-बिंब-चुंबिअं फुरइ णलिणीए ॥ ६८९ ॥

उव्वहइ दइअ-म्गहिआहरोट्ठ-झिज्जंत-रोस-पडिराअं ।
पाणोसरंत-मइरं व फलिअ-चसअं इमा वअणं ॥ ६९० ॥

कंठोसरिएक्क-थणावसत्त-पिअ-बाहु-घोलिर-करग्गा ।
सोहइ इमा पअत्तिअ-तुंबी-वीणा-विणोअ व्व ॥ ६९१ ॥

दइअ-गहिआलआवलि-कलिअ णडालं मुहं वहइ ।
बहुल-णिसा दर-हीरंत-पढम-कलमिंदु-बिंबं व ॥ ६९२ ॥

वअण-णयण-प्पहा-णिज्जिआण णूणं इमीएँ एआण ।
सम-दुक्खाण व जाओ समागमो चंद-हरिणाण ॥ ६९३ ॥

मुख इस समय कमल की कान्ति-सा ऐसा लग रहा है मानों सम्मुख खड़े सूर्यमण्डल द्वारा उसका चुम्बन लिया जा रहा है ॥ ६८९ ॥

अधरोष्ठ का ग्रहण जब पति ने अपने होष्ठ से कर लिया तो कामिनी का रोष प्रतिकार धीरे-धीरे उसी प्रकार घटने लगा जैसे कि स्फरिक के चषक को मुख से लगा लेने के बाद उसमें भरी हुई मदिरा धीरे-धीरे कम हो जाती है ॥ ६९० ॥

कितना आकर्षक वह दृश्य है जब उसके कण्ठ से खिसकने वाले पति की हथेली को वह अपनी उँगलियों से अपने स्तन पर सहला रही है ऐसा लगता है कि वह तुम्बी आली वीणा के तारों को बजा रही है ॥ ६९१ ॥

इस सुन्दरी के मुखमण्डल पर उसकी अलकों की छाया पड़ रही है और उसके प्रेमी ने उसकी अलकावलि को अपने हाथों से पकड़ रक्खा है, इस प्रकार उसका मुखमण्डल इस भाँति दिख रहा है मानों कृष्णपक्ष की द्वितीया की रात्रि का अन्धकार हो जिसमें चन्द्रमा का बिम्ब थोड़ा सा कटा रहता है ॥ ६९२ ॥

चन्द्रमा के साथ हिरण का संयोग उचित ही है क्योंकि लगभग दोनों ही इस सुन्दरी से मात खा चुके हैं, जैसे, इस ललना के मुख की चारुता चन्द्रमा तथा उसके नयनों का लावण्य हिरण को परास्त कर रहा है ॥ ६९३ ॥

इह ओआरिअ-चावम्मि जम्मि पाऊस-विलसिअव्वेसु ।
णिव्वण्णेइ परिअणो सेणा-ललणाण लीलाओ ॥ ६९४ ॥
किं च ।
जस्स पहार-धुआणण-रिउ-गअ-गंडत्थलुच्छलंताण ।
तिअस-परिमुक्क-कुसुमेसु घडइ पणओ महुअराण ॥ ६९५ ॥
तस्स मगहाहिवइणो इमाण रमणीण विहसिउज्जोआ ।
तुह बहल-जस-च्छवि-पेल्लिअ व्व ण णरिंद दीसंति ॥ ६९६ ॥
एआण फुरिअ-सेवा-चामर-पम्ह-पडिमेसु दीसंति ।
अंतो भय-पीआओ व्व बाह-धारा कवोलेसु ॥ ६९७ ॥

इस प्रकार सेवकों ने सैनिकों की पत्नियों के साथ हुई लीला का वर्णन किया है जिन्होंने वर्षा ऋतु में नाना प्रकार से स्त्री-सुख प्राप्त किया क्योंकि इस समय महाराज यशोवर्मा के आदेशानुसार कन्धे से धनुष उतारकर वे सैनिक विश्राम कर रहे हैं ॥ ६९४ ॥

[आगे के ४२ पदों में चारणों द्वारा महाराज के गौरवगान की चर्चा की है क्योंकि वे इस समय देश-देशान्तरों पर विजय प्राप्प करके अपनी राजधानी कान्यकुब्ज में विराजमान हैं ।]

राजा के प्रचण्ड प्रहार का प्रभाव भी सराहनी है क्योंकि उनको विजय पर प्रमुदित देवगण जब महाराज के ऊपर पुष्पवर्षा करते हैं उत समय वे भ्रमर जो अभो तक हाथियों के मस्तक पर मद का रसास्वादन कर रहे थे, अब उनके मस्तक पर राजा का भोषण प्रहार देखकर उन्हीं पुष्पों का मधुरस पीने के लिए वहाँ से भाग रहे हैं ॥ ६९५ ॥

हे महाराज ! आप के यश-गौरव की प्रभा ने मगध शासक की रमणियों के मुक्त-हास को दूर भगा दिया ॥ ६९६ ॥

इस समय इनके कपोलों पर अभी तक बहती अश्रुधारा नहीं दिखाई दे रही है क्योंकि अब तो ये आपकी सेवा में लगी हुई चँवर डुला रही हैं और लगता है भय के कारण ढुलकते आँसुओं को कपोलों ने सोख लिया है ॥ ६९७ ॥

धुअ-मअ-पंक-कणुक्कर-णिहेण जाणं कवोल-कुहराहि ।
कुंभ-ट्ठिअ-मुत्ता-किरण-पेल्लिअं णीइ तिमिरं व ॥ ६९८ ॥
ते तुज्झ जय-गइंदा णरिंद विद्दविअ-वेरि-वग्गस्स ।
णवर गिरि-कडअ-पडिपेल्लणेण तेअं विणोअंति ॥ ६९९ ॥

अह वा ।

टंक-मुहाहअ-कढिणट्ठि-मुक्क-धूम-च्छलेण उव्वमइ ।
तदिअस-पहा-परिपीअ-तिमिर-पडलं व कर-जालं ॥ ७०० ॥
वोलेंति णिअ-पमाणाणुरूअ-पडिबद्ध-वासर-क्खंडा ।
टंक-च्छेओच्छलिआ सरीर-सअलाण संघाआ ॥ ७०१ ॥
दीसइ घडणुम्मिलंत-विमल-दसण-प्पहा-परिक्खित्तं ।

उन हाथियों के कपोलों पर उनके निरन्तर बहते हुए मद-पंक से जो कालिमा रहती है वह उसी से धुलकर इस प्रकार स्वच्छ हो जाती है मानो उनके मस्तक की गजमुक्ता की किरणें प्रकाश फैला रही है ॥ ६९८ ॥

हे महाराज ! आपके वे विजय-गज जिन्होंने वैरियों का विनाश कर डाला था, इस समय अपने अपार बल-विक्रम से प्रेरित होकर पर्वतों की तलहटी से टक्कर लेते हुए विनोद कर रहे हैं। [आगे ५ पदों में सूर्य और उनकी प्रेयसी अवर्च के प्रणय का वर्णन है] ॥ ६९९ ॥

इस समय वे सूर्य, जिनकी सहस्र किरणें त्वस्ट्रा की तीक्ष्ण छेनी से सूर्य की अस्थियों को काटने से धुवाँ उगल रही थीं प्रतिदिन अपनी चमक से निगले हुए अन्धकार की मोटी पर्त निकाल रहे हैं ॥ ७०० ॥

छेनी के प्रत्येक संघात से सूर्य के शरीर से जो चिनगारियाँ निकलती हैं उससे दिवस का अंश उसी अनुपात में संकुचित होता जा रहा है ॥ ७०१ ॥

छेनी-प्रहार के समय सूर्य के दाँतों की चमक से युक्त मुख-मण्डल

तद्दिअसिंदु-पवेसावलग्ग-जोण्हं व मुह-विंबं ॥ ७०२ ॥

त्रिअलंति कअ-रणक्कार-टंक-वोच्छिण्ण-काय-णिव्वडिआ ।
दिण्ण-सुहं आसुर-संगर-द्धिआ पहरण-च्छेआ ॥ ७०३ ॥

इअ सो वि तद्धि-घडणा-विउणुज्जल-मंडलो दिअस-णाहो ।
तुज्झ पआव-च्छायं परिप्फुरंतो ण पूरेइ ॥ ७०४ ॥

तुह दूरावज्जिअ-सेहरालि-वलएहिँ कीरइ पणामो ।
ओहुर-णडाल-विअलंत-भिउडि-भंगेहिँ व परेहिं ॥ ७०५ ॥

सच्चं तुमम्मि दिट्ठे ण संति तुम्हारिसत्ति पडिहाइ ।
णवर तुह दंसणंचिअ ठवेइ कालस्स माहप्पं ॥ ७०६ ॥

विसमत्तणं वि विहिणो ण तवेइ तुमम्मि णाह संभरिए ।

इस प्रकार प्रतीत होता है मानो चन्द्रप्रभा उनके मुख में प्रतिदिन प्रविष्ट हो रही है ।। ७०२ ।।

छेनी से काटे गये सूर्य के शरीर का अंग तथा निकलती हुई टंकार ध्वनि से जो शस्त्र निर्मित हो रहे थे उन्हें देखकर वे अत्यन्त हर्षित हो रहे हैं क्योंकि उन्हें पता है कि ये शस्त्र देवों के पास रहेंगे और इनसे असुरों का संहार होगा ।। ७०३ ।।

इस प्रकार वे दिवसपति, जिनका प्रकाश त्वस्ट्रा द्वारा छेनी से बार-बार संघात करने से द्विगुणित हो चुका है, इस समय महाराज यशोवर्मा के प्रताप के समक्ष मन्द दिख रहे हैं ।। ७०४ ।।

तुम्हारे भृकुटि वलय के चढ़ाने से जो भृकुटि रूपी भ्रमर वहाँ से भागे या वहाँ से हटे वे शत्रुओं पर छा गये और उन्होंने अपनी भृकुटि झुकाकर तुम्हारे चरणों में प्रणाम किया ।। ७०५ ।।

यह सत्य है कि जब आपका दर्शन होता है तो ऐसा लगता है कि आपके सदृश इस संसार में कोई नहीं है। आपका शुभदर्शन ही आपके गौरवशालीयुग का प्रतीक है ।। ७०६ ।।

हे राजन् ! आपके स्मरण मात्र से ही दुर्भाग्य किसी प्रकार की

आसण्ण-पाउसो पल्लवेइ गिम्हो वि वण-राइं ॥ ७०७ ॥
जाण णिअच्चेअ गुणा किं भण्णउ ताण णिग्गुणा जे वि ।
ते वि गुणे तुह अवलंबिऊण गुणिणो व्व णंदंति ॥ ७०८ ॥
संणिज्झेणं सिरीएँ तुज्झ दाहिण-भुआवलंबाए ।
अणवरअमणिद्विअमेस कणअ-वरिसं करो मुअइ ॥ ७०९ ॥
साहीण-मुह-सहस्सो किं व ण ता वासुई पसंसेइ ।
जइ तरइ चिंतिउमलं गुणे तु एक्केण हिअएण ॥ ७१० ॥
विहिणा जाण णडालेसु विलिहिअं किं पि विसम-परिणामं ।
ते तुज्झ पाअ-वडण-च्छलेण वसुहाहिव फुसंति ॥ ७११ ॥
अहिसारणम्मि तं रिउ-सिरीएँ णिसिआसि-घडिअ-पडिबिंबो ।

क्षति नहीं कर सकता क्योंकि ग्रीष्म भी वर्षा ऋतु की समीपता से समस्त वन-तरूओं को पल्लवित-पुष्पित कर देता है ॥ ७०७ ॥

जो अपने ही गुण से सम्पन्न होते हैं उनका क्या कहना, जो निर्गुणी हैं वे भी आपके गुणों का अवलम्बन करके आह्लादित होते हैं ॥ ७०८ ॥

इसका एकमात्र कारण यह है कि आप लक्ष्मीवान् हैं और वह आपकी दाहिनी भुजा पर निवास करती हैं इसीलिए आपके इस हाथ से निरन्तर असीम स्वर्ण वृष्टि होती रहती है ॥ ७०९ ॥

वासुकि नाग अपनी सहस्र जिह्वा से भी आपकी कीर्ति का गान नहीं कर पाते हैं तो इसका भी यही कारण है कि वे सहस्र जिह्वा हैं। वे यशोगान तभी कर सकते हैं जब उनके एक हृदय में आपके गुणों की कल्पना समा जाए ॥ ७१० ॥

विधि ने जिनके ललाट पर विषम परिणाम अंकित कर दिया था वे भी मानो तुम्हारे चरणों पर गिर कर उस अंकन को मिटा लेते हैं ॥ ७११ ॥

हे राजन् ! जिस समय आप वीरोत्साह भाव में अचानक युद्ध हेतु अपने शत्रुओं की राजलक्ष्मी का वरण करने के लिए अर्धरात्रि

णीलंसुअ-संवीओ व्व सहसि सहसाहब-णिसीहे ॥ ७१२ ॥
सामण्णाइँ वि णामक्खराइँ ठविआइँ तइ विवेअम्मि ।
कित्तणमेत्तेण वि जेण फुरसि तं णवर हिअअम्मि ॥ ७१३ ॥
तुह धारा-लग्ग-समोसरंत-करि-मोत्तिअत्तणा खग्गो ।
आढत्तोवल-वरिसंबु-वाह-लीलं विडंबेइ ॥ ७१४ ॥
अणुराओ त्ति परिअणो कोव-हुआस-प्पह त्ति पडिवक्खा ।
आणा-पआण मुद्दासु तुज्झ विंदंति सिंदूरं ॥ ७१५ ॥
वामेअर-भुअ-भवणा कह णु सिरी वसउ तुज्झ खग्गम्मि ।
मुणिअं दीसइ इह संठिआएँ से तम्मि पडिबिंबं ॥ ७१६ ॥
ण वि तह लोअस्स गुणा णिअ-उक्करिसेण पाअडा होंति ।

में पहुँचते हैं उस समय लापकी ही तलवार से आपका नीलाभ प्रतिबिम्ब अत्यन्त मनोहर दिखाई पड़ता है ॥ ७१२ ॥

आपके नाम के वर्ण, यद्यपि नितान्त सामान्य हैं तथा आपके माता-पिता द्वारा अत्यन्त विचारपूर्वक निर्धारित किये गये हैं, किन्तु आपके नाम की चर्चामात्र उनके हृदयों में परम सन्तोष उत्पन्न कर देती है ॥ ७१३ ॥

आपका खड्ग, जिसकी तीक्ष्ण धार में हाथियों के मस्तक से निकली सुई मुक्ता चमक रही है, इस प्रकार दिख रहा है मानो वर्षा के साथ-साथ ओले गिर रहे हों ॥ ७१४ ॥

आपके सैनिक अधिकारियों की मुद्राओं के लिए लाल तथा प्रकाश युक्त सिन्दूर को आपके परिजनगण तो आनन्द पूर्वक ग्रहण करते हैं जब कि आपके रिपुगण इसे आपके कोप का प्रतीक मानते हैं ॥ ७१५ ॥

आपकी दाहिनी भुजा पर निवास करने वाली श्री आपके खड्ग में निवास क्यों, करे, पता चल गया कि खड्ग में श्री नहीं वरन् उसका प्रतिबिम्ब हो (श्री तो भुजा में है) ॥ ७१६ ॥

हे प्रभो ! आपके अनुचरों की गुणवृद्धि इसलिए नहीं है कि

तुह संमाणग्घविआ वच्चंति जहा पहु पसिद्धिं ॥ ७१७ ॥
ण हु पढमंचिअ पअ-वीढ-घडिअ-मउलीहिं कारिओ तं सि ।
भिउडी-भंगायासं अवराह-भएण व रिऊहिं ॥ ७१८ ॥
तुह पहु सवत्त-सीमंतिणीण अच्छिन्न-बाह-धाराहिं ।
दीसंति समूलाओ व लोला लंबालअ-लआओ ॥ ७१९ ॥
जाणं ण पुरिसआरो जुवइसमा तेसु कह सिरी रमउ ।
ठिअभावमित्थमहिला महिलाओ कहंपि कामेंति ॥ ७२० ॥
झीणा एक्के तु असिम्मि सरणमण्णे गआ तुमं चेअ ।
सेसा वि रिऊ जलहिं कहिं पि किर के वि पडिवण्णा ॥ ७२१ ॥
वच्चंति अहो उड्ढं अइंति मूलंकुर व्व पुहईए ।

रिपुगण उन्हें गुणी मान बैठे हैं वरन् ऐसा इसलिए है कि वे आपके द्वारा दिये गये सम्मान से यशस्वी हो गये हैं ।। ७१७ ।।

आपकी भृकुटी इसलिए टेढ़ी नहीं हो रही है कि इस समय झुण्ड के झुण्ड शत्रुगण आपके चरणों में अवनत हैं वरन् इसका कारण उन शत्रुओं का पहले किया हुआ अपराध है ।। ७१८ ।।

हे प्रभो ! आपके शत्रुओं की आँखों से आँसुओं की अविरल धारा वह रही है और अलकें इस प्रकार बिखर गई हैं जैसे कोई लता छितरा गई है ।। ७१९ ।।

भला, युवती के समान लक्ष्मी उन लोगों के साथ किस प्रकार आनन्द का अनुभव कर सकती है जिनमें पौरुष का लोप हो चुका हो ? वस्तुतः स्त्रियाँ ऐसे लोगों के साथ बड़ी कठिनाई से रूक पाती हैं ।। ७२० ।।

आपके कुछ शत्रु आपके खड्ग से बधे गये और दूसरे बिचारे आपकी शरण में आ गये । शेष शत्रुओं में से कुछ तो समुद्र की ओर भागे और कुछ को पता नहीं कहाँ शरण मिली ? ।। ७२१ ।।

एक ही कुटुम्ब के कुछ लोग तो उसी प्रकार उन्नति के शिखर पर अहुँचते हैं तथा कुछ अवनति के गर्त में गिरते हैं जिस प्रकार

बीआहि व एक्कत्तो कुलाहि पुरिसा समुप्पण्णा ॥ ७२२ ॥
तरलत्तण-वअणिज्जं लच्छीऍ तुमाएँ णवर ओप्पुसिअं ।
तीऍ वि पहुत्तणं वो पहु-दोस-विवज्जिअं दिण्णं ॥ ७२३ ॥
विवरीअं व तइ इमं विवेअ-सारम्मि दीसइ णरिंद ।
भीओ दोसाण तुमं ते उण णट्ठा तुमाहिंतो ॥ ७२४ ॥
सअलेसुं चेअ दिसाअडेसु दीसंति देव पडिलग्गा ।
धोअ व्व दिसा-गअं-सीअरेहिँ विमला गुणा तुज्झ ॥ ७२५ ॥
भुवण-गरुएहिँ ते तुह हीरंति गुणेहिँ तं पुणो ताण ।
हीरसि गुण-लेसेण वि सुअणो सुअणाण अहिओ सि ॥ ७२६ ॥
दिअ-भूमिसु दाण-जलुल्लिआइँ कालम्मि जाइँ उत्ताइं ।
ताइँ तुह णाह रोहंति संपअं विहव-बीआइं ॥ ७२७ ॥

एक ही वीज के अंकुर ऊपर की ओर बढ़ते हैं परन्तु उसकी जड़ें पृथ्वी में धँसती जाती हैं ॥ ७२२ ॥

लक्ष्मी के ऊपर लगे हुए प्रतिबन्ध को आपने हटा दिया है इसीलिए उसने भी निरंकुशता का ध्यान न रखते हुए आपको ही सारा प्रभुत्व तथा सार्वभौमत्व सौंप दिया ॥ ७२३ ॥

हे नरेन्द्र ! आपके विवेक तत्त्व में यह तथ्य-विपर्ययसा दिखता है कि आप उन्हीं दोषों से डरते हैं, जो आपके द्वारा ही नष्ट किये जा चुके हैं ॥ ७२४ ॥

दशों दिशाओं में परिव्याप्त आपके गुण दिग्गजों के सीकरों से अत्यन्त निर्मल दिख रहे हैं ॥ ७२५ ॥

वे सुजन आपके उन गुणों से ही आपकी ओर आकर्षित हो रहे हैं जो इस समय संसार में अद्वितीय हैं और आप उन सुजनों में गुण का अंशमात्र देखकर ही उनकी ओर खिच जाते हैं। इस प्रकार आप सुजनों में श्रेष्ठतर एवं सत्पुरूष हैं ॥ ७२६ ॥

हे राजन् ! गौरव के वे बीज जो उचित समय पर ब्राह्मणों के क्षेत्र में दानादि के रूप में बोये तथा सींचे गये थे, इस समय वे बढ़ गये हैं और उत्तम फल दे रहे हैं ॥ ७२७ ॥

पणईसु गुरु-मणोरह-संपत्ति-समुत्तुणेसु संकंतो ।
मण्णे तुह तेण पहुत्तणे वि ण मओ पडिप्फुरइ ॥ ७२८ ॥

लहिऊण तुमाहिंतो देंतेहिँ इओ तओ णरवईहिं ।
साहाहिँ व दाण-दुमो णरिंद तुह वड्ढिओ दूरं ॥ ७२९ ॥

तुह रिउ-गअ-कुंभ-वखुत्त-णिसिअ-तोमर-णिहित्त-विवरेहिं ।
विरएंति सुहं मुत्ताहलेहिँ रमणीआ हारलआ ॥ ७३० ॥

अवि अ ।

परिघोलइ सिढिलिअ-जालसुत्त-संताण-संठिओ हत्थो ।
पेढाल-थणहराअड्ढि-कक्खडे वीडअ-ट्ठाणे ॥ ७३१ ॥

आपके प्रियजनों के मनोरथ आपके द्वारा पूर्णकर दिये गये। इससे उनमें अहंकार आ गया है और उनके मस्तक ऊँचे हो गये किन्तु मेरे विचार से आपके अन्दर लेशमात्र भी मद का प्रभाव नहीं पड़ा। यद्यपि इस समय आप सार्वभौम सत्ताधारी हो चुके हैं ॥ ७२८ ॥

आपसे (दान) प्राप्त कर आपके अधीनस्थ राजाओं ने दूत-स्ततः दान दिये। इस तरह हे नरेन्द्र ! आपका दानद्रुम शाखाकों से दूर-दूर तक वर्द्धित हो गया ॥ ७२६ ॥

मत्तगजों के मस्तक से आपके खड्ग द्वारा जो मुक्ता निकली थी उससे सुफीका हार लता बना लेती हैं ॥ ७३० ॥

[आगे के ६ पदों में कवि ने उन स्त्रियों के अपने स्तन से वस्त्र उतार कर महाराजा यशोवर्मा की शैया पर जाने की तत्परता का विवरण प्रस्तुत किया है।]

उस पारदर्शी वस्त्र में लगी हुई ढीली डोरी की लम्बाई का ध्यान करके सर्वप्रथम उस स्त्रियों के हाथ उस गाँठ पर पड़ते हैं जो स्तनों के पीन (विशाल) होने के कारण दृढ़ और कठोर हो गई है ॥ ७३१ ॥

वेल्लहलंगुलि-कर-कमल-मुक्कलिज्जंत-जालिआ-वलया ।
कुच्छि-च्छेआ छज्जंति सिढिल-दर-दिट्ठ-भंगंगा ॥ ७३२ ॥
गाढ-कवाडअ-दुक्खुच्चुडंत-णहराइ-लंछणो लहइ ।
दर-मेहुज्झिअ-हरिणंक-बिंब-सोहं थणुच्छंगो ॥ ७३३ ॥
कंठ-णिरोहुव्वण-वित्थरंत-णीसास-तुलिअ-णासउडं ।
अग्घइ विसंठुलुव्वेल्ल-वल्लरी-चिहुर-पब्भारो ॥ ७३४ ॥
मणिवलयाउल-बाहग्ग-मोअणुप्पण्ण-करअलायासं ।
रेहइ लज्जा-पडिरुद्ध-थणहरं भुअलआ-जुअलं ॥ ७३५ ॥
इह गरुअ-वइअरुत्तरिअ-कंचुओ कुणइ पहु पओसम्मि ।

उनके कुक्षि का वह अंश, जिस पर वह पारदर्शी वस्त्र स्तनों के साथ लगा है, इस समय खुला हुआ है और जिस पर उनकी कमल-सी कोमल उँगलियाँ फिराई जा रही हैं अत्यन्त मनोमोहक लगता है तथा त्रिवली कुछ-कुछ दिखाई पड़ रही हैं ॥ ७३२ ॥

उनके गोल विस्तृत उरोज, जिनपर नखक्षत के पंक्ति बद्ध चिह्न अंकित हैं, कसे वस्त्रों के उतारने में दुःख का अनुभव करते हुए भी इस प्रकार आकर्षक लग रहे हैं मानों पूर्ण चन्द्रमण्डल से कोई मेघ खण्ड हटाया गया हो ॥ ७३३ ॥

लता के सदृश छितराई हुई उनकी अलकें इस समय अत्यन्त आकर्षक लगती हैं और ग्रीवा से उस स्तन वस्त्र को कठिनाई से उतारते समय कण्ठोच्छ्वास के साथ-साथ उनके नासा-पुट भी फड़कने लगे हैं ॥ ७३४ ॥

उनकी वे दोनों भुज-लताएँ, जो बड़ी कठिनाई से स्तनावरण उतारने में लगी हैं और जिनमें मणिखचित बाजूबन्द के आभूषण विद्यमान हैं, अत्यन्त रोचक प्रतीत होती हैं तथा अब खुले हुए विपुल स्तनों के कारण लाज से उन्हें ढँकने का प्रयास कर रही हैं ॥ ७३५ ॥

इस प्रकार अत्यन्त रोचक ढंग से स्तगों के वस्त्र उतारने के पश्चात् आपकी प्रेमिकाएँ अपने पारदर्शी पतले वस्त्रों में सजी हुई

सेज्जारुहणं तुह लडह-वेस-सुहिओ पिआ-सत्थो ॥ ७३६ ॥

इअ बंदि-णंविअ-जयं गाहिपुरारूढ-सेण्ण-विण्णासो ।
जाओ सो लडह-विलासमेत्त-वीसंत-वावारो ॥ ७३७ ॥

अवि अ ।

संभाविअ-चित्त-विआर-कारणामरिस-तंबिर-च्छायं ।
तह्झाण-णिमिल्लंचेअ होइ फुरिआहरं वअणं ॥ ७३८ ॥

उम्मिल्लइ थोअ-त्थोअ-रोस-रज्जंत-दारुणावंगा ।
मासलिअ-सवण-भुअइंद-रअण-कंद-प्पहा दिट्ठी ॥ ७३९ ॥

सामाअइ सेअलवाहिउत्त-विणिअत्त-भूइ-लावण्णो ।
अविहाविअ-कंठ-च्छवि-वोच्छेओ वच्छ-परिणाहो ॥ ७४० ॥

आपकी विलास शैया पर आने के लिए तैयार हो गई हैं ॥ ७३६ ॥

इस प्रकार महाराज यशोवर्मा की दिग्विजय पर चारणों द्वारा हर्षपूर्वक यशोगान तथा सैनिकों सहित गाधिपुर (कान्यकुब्ज) को ओर प्रस्थान के अनन्तर महाराज ने अन्य सभी कार्यक्रमों को स्थगित करके सबको विश्राम तथा प्रणय-विलास अवकाश दे दिया ।।७३७।।

[आगे के ५ पदों में कवि ने शिव द्वारा कामदेव को भस्म किये जाने का वर्णन किया है ।]

उस समय अपने चित्त-विकार कारण की सम्भावना मात्र से ही भगवान् शिव का मुखमण्डल अमर्ष से ताम्रवर्णी हो उठा तथा ध्यानावस्थित होते हुए भी उनके अधर काँपने लगे ॥ ७३८ ॥

उनने नेत्र कुछ-कुछ खुल गये और थोड़े-थोड़े कोप के कारण वे नेत्र रक्तवर्णी-से भयंकर हो उठे। उन नेत्रों की चमक उनके कानों तक वासुकि नाग की मणि की भाँति फैल गई ॥ ७३९ ॥

उनका विशाल वक्षःस्थल श्यामवर्णी हो गया क्योंकि उस पर लगी हुई श्वेतभस्म लुप्त हो चली थी। वक्ष के श्याम हो जाने से उनके कण्ठ की नीलिमा से उसका समन्वय हो गया ॥ ७४० ॥

विहडइ हव्ववह-सिहा-कडप्प-पेल्लिअ-पुडं णडालम्मि ।
कह-कहवि णिविड-भिउडी-विहंग-संपिंडिअं णयणं ॥ ७४१ ॥

इअ तिणयण-रोसाणल-विलुत्त-देहो वि कुसुम-कोअंडो ।
जासु णिसण्णो अज्ज वि अउंठ-बाणोच्चिअ जयम्मि ॥ ७४२ ॥

आलुलिअ-वेणि-लेहं भमिअं तारं च भुअलआ-जुअलं ।
णेवच्छं जाण विलास-कंपिअच्छाइँ अ मुहाइं ॥ ७४३ ॥

ताण रमणीण णअ-बाहु-विसलआमङ्क-कंठ-परिणाहो ।
उव्वहइ सो विलासी णिआह-णेवच्छ-विच्छित्तिं ॥ ७४४ ॥

तेण स पल्लव-भंगं चूडामणि-भावमतरुणं ताण ।
णिज्जइ कुसुमं आ-सुरहि-केसरं णव-कलंबाण ॥ ७४५ ॥

बड़ी कठिनाई से अनलयुक्त उनका तृतीय नेत्र पूर्णरूप से खुल पाया। उनकी पलकों के अन्दर से अग्निज्वाला पर दबाव पड़ा और उसी समय उनकी भृकुटि का ऊपर से दबाव डाला ॥ ७४१ ॥

इन स्त्रियों पर आज भी पुष्पधन्वा कामदेव विजयी होता है, उन पर उसके बाणों का सफल प्रयोग चलता है और यद्यपि इस समय वह अनङ्ग है क्योंकि वह शिव जी के कोप से खुले तृतीय नेत्र की अग्निज्वाला में स्वाहा हो चुका है ॥ ७४२ ॥

इन स्त्रियों की वक्र-वेणी, प्रकाशयुक्त गौरवर्णी भुजलता तथा मुखमण्डल पर लगी सुगन्ध एवं उनके चञ्चल नयन आज भी आकर्षण के केन्द्र हैं ॥ ७४३ ॥

उस प्रतापी राजा की उन्नत ग्रीवा के चारो ओर इन सुन्दरियों की कमलवत् कोमल भुजायें लिपटी हुई हैं और राजा यशोवर्मा निदाघ ग्रीष्म-कालीन वस्त्रों में विलास कर रहा है ॥ ७४४ ॥

उस राजा द्वारा नवकदम्ब तरूओं के पूर्ण खिले हुए सुगन्धित कुसुमों से उन रमणियों के लिए चूड़ामणि बनायी जा रही है ॥ ७४५ ॥

आ-मेह-समय-सुहआ संभिण्णोव्वण-केअअ-सुअंधा ।
सीअरिणो से हिअअं हरंति रअणी-मुह-समीरा ॥ ७४६ ॥

कुमुआवबोह-महुरा विरलागअ-मेह-खंडिअ-मिअंका ।
अग्घंति णिसा असमत्त-गलिअ-सलिलागमा तस्स ॥ ७४७ ॥

णीसासा खण-विरहे फुरंति रमणीण सुरहिणो तस्स ।
कड्ढिअ-हिअअ-ट्ठिअ-कुसुम-बाण-मअंरद-लेस व्व ॥ ७४८ ॥

सो दीसइ उहय-दिसा-पहाविआणंद-वाह-सलिलेहिं ।
ताण परिरंभ-पसरंत-भुअलएहिं व अच्छीहिं ॥ ७४९ ॥

सन्ध्या कालीन समीर जो कि मेघों के घिर जाने तक बहुत अच्छा लगता है जो केतक की सुगन्ध से भरा हुआ होता है और जो सीकरों से शीतल होता है, हृदय को हर लेता है ॥ ७४६ ॥

राजा यशोवर्मा के लिए रातें अत्यन्त रूचिकर प्रतीत हो रही हैं जबकि उस चन्द्रमा के साथ कुमुदिनी खिलखिला रही है जो मेघावरण के कारण कभी ढंक जाता है जो कभी खुल जाता है तथा वर्षा की बौछारों का तो कहीं अन्त ही नहीं दिखता है ॥ ७४७ ॥

मात्र एक क्षण के भी वियोग में उन कामिनियों की सुगन्धित निःश्वास उनके हृदय से फूटकर निकल पड़ती है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो हृदय लगे हुए कामदेव के पुष्प बाण का मकरन्द निसृत हो रहा हो ॥ ७४८ ॥

वह उनके उन उत्सुक नयनों से अपलक देखा जा रहा है जो उसके लिए दोनों दिशाओं में हर्षाश्रु भरे हुए दौड़ते हैं। ऐसा लगता है कि उसके आलिगन हेतु उन नयनों की कोमल भुजाएँ बढ़ रही हैं ॥ ७४९ ॥

[आगे के २३ कुलक पदों में कवि ने उन कामिनियों के राजा के अत्यन्त समीप होने का चित्रण किया है ।]

अवि अ ।
फलिहच्छोअर-दीसंत-पट्ठि-वेणी-सिहाओ व सहंति ।
सहसा वलि-भंग-तरंगिणीहिँ जा रोम-लेहाहिं ॥ ७५० ॥
ससिमिव णवोइअं विहसिएण अहर-प्पहाणुविद्धेण ।
सासामोअ-मिलंतालि-लंछणं जा पआसेंति ॥ ७५१ ॥
जा कण्ण-किसल-करअल-मिलंत-चल-तारआहिँ दिट्ठीहिं ।
कंदुअ-कीलं व स-सेस-बाल-भावा पआसेंति ॥ ७५२ ॥
जा ललिअ-लआ-लीलं वेलंबंति सिअ-दंत-कुसुमाओ ।
सइसा महुअर-जालाअमाण-णीलंबरावरणा ॥ ७५३ ॥

वे स्त्रियाँ, जिनके उदर पर तीन पंक्तियों में विभक्त रोमावलियाँ विद्यमान हैं, अत्यन्त मनोमोहक प्रतीत हो रही हैं जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों उनकी पीठ पर लटकती हुई केश की वेणी उदरस्थल के पारदर्शी होने के कारण प्रत्यक्ष हो रही हैं ॥ ७५० ॥

जिनकी स्मिति में उनके गुलाबी अधरों की प्रभा ऐसे स्पष्ट हो जाती है मानों नवोदित चन्द्र का गुलाबी प्रकाश हो तथा उनकी सुगन्धित श्वास से आकर्षित भ्रमर ही उसका काला धब्बा हो ॥ ७५१ ॥

उनके कानों में मृदुल किसलय युक्त कर्णाभूषण उनके गुलाबी करतल की भाँति दिखते हैं और नाचती हुई उनकी नयन पुतलियाँ कभी पीछे तो कभी कर्णाभरण की ओर जाती हुई इस प्रकार लग रही हैं मानों वे रमणियाँ अपने अवशिष्ट बालभाव में कन्दुक-क्रीडा कर रही हैं ॥ ७५२ ॥

नीलावरण में वे कामिनियाँ मधुकर समूह की भाँति दिखाई पड़ती हैं। उनकी ललित लीला लताओं के समान प्रतीत होती है और उनकी उज्ज्वल दन्तपंक्ति लतापुष्प की शोभा को प्राप्त हो रही हैं ॥ ७५३ ॥

जाआ सइ-दिण्ण-सण्णेज्झ-मअण-पूआअरा सरीरेसु ।
सरस-णह-मंजरि-मअं रत्तासोअं पिव लिहंति ॥ ७५४ ॥
जाआ पसंग-परिग्गहिअ-हारि-हरिअंसुआ पआसेंति ।
रंभा-गब्भत्तणमणह-परिअरं ऊरुदंडाण ॥ ७५५ ॥

लीलोणअ-मुह-अंदाण खंडिआहर-णिहेण थणवट्ठे ।
हिअअं जाण पाअड-वम्मह-बाण-व्वणं फुरइ ॥ ७५६ ॥
थण-मज्झ-च्छवि-तारं कुप्पासंतरमणंग-णासम्मि ।
उद्धं व लोअणं तिणयणस्स बंदीकअं जाहि ॥ ७५७ ॥
णह-रेहा जाण थणेसु सहइ रोमंच-खंडिअ-णिवेसा ।
खण-विरह-भीरुणो सीवणि व्व फुडिअस्स हिअअस्स ॥ ७५८ ॥

ये सुन्दरियाँ, जो कामदेव को सदा सादर पूजती हैं और उसे सदैव अपने समीप ही रखती हैं, अपने शरीर पर रक्ताशोक तरू का चित्र नखक्षत द्वारा पूर्ण छवि के साथ खींजती हैं ॥ ७५४ ॥

अत्यन्त आकर्षक पारदर्शी प्रकाशयुक्त हरित वस्त्रों में विशेष प्रेम प्रदर्शन के अवसर पर सजी हुई उन स्त्रियों के जघन भाग लहराते हुए पत्तों से युक्त निर्मल केले के स्तम्भ की भाँति दिखते हैं ॥ ५५५ ॥

प्रणय-लीला के समय झुका हुआ उनका मुखचन्द्र तथा अधर एवं स्तनों पर पड़े दन्त-नख-चिह्न इस प्रकार प्रतीत होते हैं मानों उनके हृदय में स्थित कामदेव के वाणों का घात हो ॥ ७५६ ॥

उनकी कञ्चुकी का मध्यभाग दोनों स्तनों के बीच के स्थल से इस प्रकार शोभायमान हो रहा है मानों शिव जी का तृतीय नेत्र इन स्त्रियों के काल में उलझा पड़ा हो जिनके कारण इनके इष्टदेव काम का विनाश हुआ था ॥ ७५७ ॥

जिनके स्तनों पर लगे हुए नख-क्षत के चिह्न रोमाञ्च के कारण खण्डित हो चुके हैं, इस समय वियोग के एक क्षण में वे हृदय पर दबी हुई सिलाई वाले जोड़ की भाँति लग रहे हैं ॥ ७५८ ॥

चक्क-जुएण व वम्मह-रहस्स पिअहुत्त-गामिणो जाओ ।
थण-मंडलेण परिरंभ-लंभ-विअडेण सोहंति ॥ ७५९ ॥

पेच्छंति जाओ चलणे चंपअ-कलिओवआरमुज्झंते ।
कण्णुप्पल-पहर-भया गहिए व्व पईव-मालाहिं ॥ ७६० ॥

दंसण-णिवीअमीसा-वस-कूणिअ-णयण-पम्ह-भावेण ।
जा पंजरिअंपिव पिअं धरेंति अवसरण-संकाए ॥ ७६१ ॥

अहर-प्पहा-दरारुण-दसण-मऊहेहिं थण-विसारीहिं ।
वम्मह-वण-बंधेहिं व जाओ सरुहिरेहिं सोहंति ॥ ७६२ ॥

दीह-पिहुलत्तणेणं हत्थ-दढावेढणेक्क-जोग्गाओ ।

जो उन गोल स्तनयुग्म से अतीव लावण्यवती दिखतीं हैं जो अपने प्रेमी का गाढ़ालिंगन पाने के लिए आगे की ओर उभरे हुए हैं। इस प्रकार वे दोनों स्तन उनके प्रेमी के पास पहुँचने बाले कामदेव के रथ के पहिया-से दिखते हैं ॥ ७५९ ॥

वे स्त्रियाँ चम्पक कलियों से उपचरित अपने चरणों को मुग्ध भाव से देखती हैं मानों कि कर्णोत्पल के प्रहार के भय में दीपमाला उनके चरणों पर आ गिरी हो। (रतिकाल में नायिका में क्रीडवश दीपमाला को अपने कर्णोत्पल से बुझा देती हैं) ॥ ७६० ॥

उनके अपलक नयनों ने प्रिय के दर्शन का पान करके ईर्ष्यावश उसे जैसे पिंजड़े में इसलिए बन्द कर रखा है कि कहीं ऐसा न हो कि वह चला जाये ॥ ७६१ ॥

उनकी दन्तपंक्ति की चमक अधरों की लाली के प्रकाश से कुछ-कुछ लाल हो गई है और उनके उन्नत उरोजों तक जिसकी प्रभा फैली है, उससे वे अत्यन्त मोहक लगती हैं। और प्रतीत होता है मानों मदन के पुष्पवाणों से विद्ध होने के कारण उस पर लगी पट्टी रक्त से सन गई है ॥ ७६२ ॥

उन कामिनियों के स्थूल तथा लम्बे केश के जूड़े सरलता पूर्वक

जाण कअग्गह-तण्हं देंति बला वेणि-मालाओ ॥ ७६३ ॥

अवरद्ध-रमण-पडिमं पि जा ण्हवंति व्व गंडवासम्मि ।
अण्ण-ललणा-पसंगावकलुसिअं बाह-सलिलेण ॥ ७६४ ॥

सइ संघट्ट-समुज्जल-कोडि कणअ-रसणं विमोएंति ।
पिअ-मुह-णिहित्त-विअसंत-लोअणा जाआ समयम्मि ॥ ७६५ ॥

जा रोसुकंपिअ-कण्ण-कुसुम-रअ-पुंज-पूरिअ-जणीओ ।
अवचुण्णेंति व दर-रूढ-संठिए वम्मह-प्पहरे ॥ ७६६ ॥

कंपाआ वहंति थणत्थ-हत्थ-रणिरंगुलीय-हाराओ ।

हाथों में आ सकते हैं, अस्तु, वे प्रेमियों की कचग्रहण की उत्कट इच्छा को प्रेरणा देते हैं ॥ ७६३ ॥

जिस समय अविश्वासी प्रेमी उन स्त्रियों के पास आता है उस समय उनके नयनों से अश्रु की जो अविरल धारा बहती है वह न केवल उनके विस्तृत कपोज को धोती है वरन् उस अपराधी की प्रतिमा को भी इस प्रकार विचार स्वच्छ बना देती हैं ताकि पर स्त्री के सम्पर्क से उससे लगा हुआ कलुष धुल जाए ॥ ७६४ ॥

जो उचित समय पर सदा धारण किये हुए उज्ज्वल स्वर्ण नीवी वस्त्र की गाँठें खोलती हैं। उस समय उनके प्रफुल्ल लोचन अपने प्रिय के मुखमण्डल पर टिके रहते हैं ॥ ७६५ ॥

उनके कानों में सजे हुए कुसुमों की रज जिस समय उनके स्तनों पर गिरती है उस समय मारे रोष के वे उसे अपने हाथों से इधर-उधर हटाती हैं जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों कामदेव के वाण प्रहार से क्षत-विक्षत अंगों के उपचार हेतु वे चूर्ण छिड़क रही हैं ॥ ७६६ ॥

प्रणयोल्लास में कम्पन के कारण उनके विस्तृत स्तनों पर विराजमान हार तथा अंगूठी मुखारित होकर मधुर ध्वनि उत्पन्न करते हैं जिसे देखकर आश्चर्य होता है कि विना अपने स्थान से

अंगं थामेच्चिअ मुहल-मेहला-णेउरं जाओ ॥ ७६७ ॥

चित्त-मणि-कण्णऊराहिविद्ध-विविहोवराअ-पम्हेहिं ।
वण्णअ-तूलिहेहिं व लिहंति जा रमणमच्छीहिं ॥ ७६८ ॥

एक्क-दिसा-पडिलक्खिअ-विमल-दसा चलण-णह-मऊहेहिं ।
जा लावण्ण-पडीओ व्व सहंति परिमास-मउईओ ॥ ७६९ ॥

पिअहुत्तं जाण विलास-लोल-लीला-फुरंत-पम्हाइं ।
उड्डेंति व तरलिअ-पक्ख-संपुडग्गाइं अच्छीइं ॥ ७७० ॥

आसण्ण-पिअअमाहर-घडंत-फुड-दसण-किरण-भावेण ।
जा मुह-रसासवं पिब पिअंति लीला-मुणालेहिं ॥ ७७१ ॥

हिले-डुले अथवा चले-फिरे ही उनकी करधनो तथा नूपुर जैसे इस समय ध्वनि उत्पन्न कर रहे हैं ।। ७६७ ।।

जो कर्णाभूषणों के रत्नादि के विविध रंगों की किरणों के मिश्रण से अपने नयनों में नाना राग-रंग भर कर, ऐसा प्रतीत होता है, अपने प्रेमी का तूलिका से चित्र उरेह रही हैं ।। ७६८ ।।

जो अपने चरणों के अंगूठों की चमकती किरणों के कारण अपने शरीर का समुज्ज्वल अंश एक दिशा में करके इस प्रकार मोहक लगती हैं मानों उन चरणों के प्रकाश का मृदुल स्पर्श युक्त सुन्दर मंचीय पट हो ।। ७६९ ।।

अत्यन्त सुन्दर विलास लीला में स्फुरणशील उनके नयन अपने प्रिय के मुखमण्डल पर टिके हुए इस प्रकार दिखते हैं मानों अत्यन्त तरलता के कारण उनकी नयन पुतलियाँ उड़ रही हैं ।। ७७० ।।

अपने समीपस्थ प्रियतम के अधर पर उनके स्वच्छ तथा श्वेत रश्मियुक्त दन्त मिलकर ऐसा दृश्य उपस्थित करते हैं मानों वे अपने प्रिय के मुख रसामृत का अपने कमलमुख से पान कर रही हैं ।। ७७१ ।।

बालासु तासु णव-दिट्ठिराअ-हीरंत-हिअअ-तरलाइं ।
अणुवज्झंताइँ व से गुणेहिँ सोहंति ललिआइं ॥ ७७२ ॥
परिरंभण-चक्कलिअं सामा-थणमंडलं उरे तस्स ।
पावइ लीला-अछअ-णिहित्त-णलिणी-दल-च्छायं ॥ ७७३ ॥
सेस-गुण-णिरहिलासा रूवंचिअ से पिअंति तरुणीओ ।
को वा अण्णेसइ दमणअस्स दल-सुरहिणो कुसुमं ॥ ७७४ ॥
वाम-कर-पेल्लिओणमिअ-मेहला-णिविडिअंसुए तस्स ।
वीसमइ विलासवईण जहण-विंबे खणं दिट्ठी ॥ ७७५ ॥
हसिअं च भामिअच्छं मुहं च णव-बउल-पंडुर-कवोलं ।
जहणमणिब्भच्छिअ-मेहलं च जीअं विलासाण ॥ ७७६ ॥

इन युवतियों के साथ महाराज यशोवर्मा की विलास तथा नव-अनुराग से समुल्लसित हृदय का रोमांच, जो उन बालाओं के लोल-लोचनों में उसके गुणों के रूप में उतरता है, अत्यन्त रोचक प्रतीत होता है ॥ ७७२ ॥

आलिंगन के समय यशोवर्मा के वक्षःस्थल पर उन रमणियों के गोल स्तन चक्र की भाँति प्रतीत होते हुए ऐसे लगते हैं मानों नलिनी-पत्र की लावण्यता सुन्दर ढंग से आर्द्र में स्थापित की गयी हो ॥ ७७३ ॥

महाराज के अन्य गुणों की कामना त्याग कर ये युवतियाँ इस समय केवल उसकी रूप माधुरी का ही पान कर रही हैं। सच है, भला कौन ऐसा होगा जो दमनक की पत्तियों की सुरभि छोड़कर उसके पौधे के पीछे पड़ेगा ? ॥ ७७४ ॥

महाराज की दृष्टि एक क्षण के लिए उन रमणियों के गोल-जघन स्थलों पर पड़ी जिन पर विद्यमान मेखला राजा के वामहस्त से दबाने के कारण कस उठी थी ॥ ७७५ ॥

कामिनी का हास, चपल दृष्टि तथा नववकुल पुष्प की भाँति पीत कपोल एवं लटकती मेखलायुक्त जघन विलास के जीवन कहे गये हैं ॥ ७७६ ॥

अवि अ ।
अणुकुंडलमा विवइण्ण-सरस-कवरी-विलंविअंसम्मि ।
सीसम्मि कोसुमो फुरइ चारु-चूणामणि-णिवेसो ॥ ७७७ ॥

उप्पुसिआहर-पेरंत-पिंजर-द्दविअ-कुंकुमं हरइ ।
णह-विलिहिअ-कसणुम्मिल्लमाण-भुमअं मुहंबुरुहं ॥ ७७८ ॥

परिगंडत्थलमासवणलंवि मअ-णाहि-पंक-लेहम्मि ।
अग्घइ अवंग-मग्गम्मि सरसमासोअमुत्तंसं ॥ ७७९ ॥

अंतो मणिदाम-च्छवि-विच्छुरिअच्छंसुअं सुहावेइ ।
थणवट्टमुवरि-विक्खित्त-सबल-कुसुम-च्छडाहरणं ॥ ७८० ॥

इअ दर-चक्खिअ-मइराणुविद्ध-तंबोल-परिमलो हरइ ।

किसी बाला के सिर पर पुष्पों का चूड़ामणि उस समय लावण्य का केन्द्र बन जाता है जब स्नान के अनन्तर उसके गीले केश तथा अलकें बिखरी हों और कर्णभूषण कन्धे तक झूल रहे हों ॥ ७७७ ॥

कामिनी का मुख कमल उस समय आकर्षक लगता है जब उसके अधर से तो कुँकुम पुँछ गया हो परन्तु अञ्चल में लगा हुआ हो और नख द्वारा भौहों पर काली रेखा खिंची हो ॥ ७७८ ॥

नव अशोक पुष्प का कर्णाभरण, जो अपांग से लोल कपोलों तक लटक रहा हो, अतीव आकर्षक प्रतीत होता है क्योंकि नयन की कोरों के उस मार्ग पर रहता है जो मृगमद से रेखांकित है ॥ ७७६ ॥

किसी भी युवती के विपुल स्तन उस स्थिति में आनन्द उत्पन्न कर देते हैं जब उनके ऊपर श्वेत वसन शोभा पाता हो जिसके अन्तर्भाग में रत्नों को प्रभायुक्त कण्ठहार लटक रहा हो और साथ ही साथ काले-सफेद पुष्पों का सजा हुआ हार भी शोभा पा रहा हो ॥ ७८० ॥

इस प्रकार सुन्दरियों का समूह, जो कुछ-कुछ मदिरा में डुबाये

अणुमज्जणमाहरणावलंबणो से पिआ-सत्थो ॥ ७८१ ॥

किं च जाअं ।

सोम्माहेसु णिसम्मइ दिट्ठी राउज्जलेसु रमणीण ।
सारस-वावी-परिपंडुरेसु से दसण-वासेसु ॥ ७८२ ॥

उब्भिज्जइ जड-भावावरोह-दढ-मअण-संणिवेसम्मि ।
अहरम्मि सरस-बउलाहिवाडला राय-विच्छित्ती ॥ ७८३ ॥

पढमं छण-मग्गिअ-वइअरेसु संचरइ मंडणुच्छाहो ।
गहिअ-हिमावंडुर-मरुअएसु पारत्ति-दामेसु ॥ ७८४ ॥

परिकविस-बिंदु-मालावसेस-मअणाहि-दंतुरे फुरइ ।
वअणम्मि मअंकारंभ-पेलवा कुंकुम-च्छाया ॥ ७८५ ॥

गये ताम्बूल की सुगन्ध बिखेरता है, अपने प्रेमी राजा को मोहित कर रहा है ॥ ७८१ ॥

उसके नेत्र सुन्दरी बालाओं के उन ओष्ठों पर टिक जाते हैं जो अत्यन्त रागानुराग के साथ वापी के साथ सारस को भाँति पीत-श्वेतवर्णी-से दिखते हैं ॥ ७८२ ॥

उन रमणियों के अधरों पर सरसवकुल पुष्प की भाँति गुलाबी रंग की पर्त लगी है जिस पर मोम की मोटी पर्त शीत के दुष्प्रभाव से बचने के लिए जमी है ॥ ७८३ ॥

प्रथम-मिलन के अवसर पर उन ललनाओं में मण्डन का उत्साह इतना अधिक होता है कि वे जो पुष्पहार धारण करती हैं वह परात्ति पुष्पों से बनता है और उसमें खिले हुए मरूबक कुसुम की प्रभा झलकती है तथा वे दोनों मिलकर पीत-श्वेत की छवि उत्पन्न कर देते हैं ॥ ७८४ ॥

उदय होने हुए चन्द्र की चिकनी-मृदुल कान्ति के समान कुमकुम की छाया उनके मुखमण्डल पर प्रभा बिखेरतो है। साथ हो भूरे रंग की मृगमद रेखा नाभि तक फैलती दृष्टिगोचर होतो है ॥७८५॥

संगलइ मरुवअ-च्छेअ-सबल-विणिउत्त-दमणअ-दलासु ।
लावण्णं मलिअ-ट्ठिअ-पिसंग-कुंदासु कबरीसु ॥ ७८६ ॥

इअ रअणी-भंगुग्गअ-पिअंगु-पडिवण्ण-सेहरो हरइ ।
सिसिरम्मि मलिअ-मणहर-पसाहणो से पिआ-सत्थो ॥ ७८७ ॥

अवि अ ।

फल-णिग्गम-पडिपेल्लिअ-परिसिढिलालग्ग-मउल-चुण्णाइं ।
चूआण झणक्कारेइ मारुओ मंजरि-मुहाइं ॥ ७८८ ॥

चित्तालक्खिअ-मउलुग्गमाण सायं णिवेसिअ-जलाणं ।
गंधमणामोअं सत्तलाण कालो विरल्लेइ ॥ ७८९ ॥

आवाइ माहवीणं विच्छाय-परिट्ठिएक्क-कुसुमासु ।

उनके जूड़े में सजे हुए दमनक-पत्र अतीव मोहक प्रतीत होते हैं जिस पर मरूवक कुसुम की प्रभा झलकती है साथ ही कुछ भूरे रंग के कुछ पुष्प उस पर शेष हैं जो इस समय मसल गये है ॥ ७८६ ॥

इस प्रकार शीतकाल में उनका सौन्दर्य अतीव अनुरंजक प्रतीत होता है क्योंकि खिले हुए प्रियंगु सुमन से सजाये गये जूड़े की छवि रात्रि के अन्त में, जो पहले अत्यन्त आकर्षक थी, मर्दन के कारण फीकी पड़ गयी है ॥ ७८७ ॥

आम्रमंजरी की सुगन्ध से भरी वायु चूर्णयुक्त होने से झंकार ध्वनि करती हुई बहती है। मंजरी की कलियाँ ढीली पड़ने लगी हैं क्योंकि उनके भीतर से तिकोले निकलकर बाहर आ रहे हैं ॥ ७८८ ॥

सायंकाल सप्तल कुसुम की गन्धहीन सुरभि फैलती है जब जल की फुहारों में उसको लघु कलिकाएँ निकलने लगती हैं जिसे सतर्क रहने पर ही देखा जा सकता है ॥ ७८९ ॥

खिले हुए माधवी पुष्प की स्वच्छ सुरभि, एकाध मुर्झाए सुमन

णिम्मल-सोरहं मंजरीसु फल-गंठि-जडिलासु ॥ ७९० ॥
इअ से दिणेसु महु-सिरि-परिणाम-सुहेसु उववण-णिवेसा ।
णंदंति पणइणी-परिअणस्स णअरोवरोहेसु ॥ ७९१ ॥

किं च ।
पेरंत-हरिअ-कोमल-खज्जूर-दलुज्जलं कवोलाण ।
णयणंत-गलिअ-वाहंजणाण णिव्वडइ लावण्णं ॥ ७९२ ॥
दर-मउलण-मज्झोणअ-तणु-रेहाअंत-धवल-भाआइं ।
एंति णव-ससिअलाहं अंतोताराइं अच्छीइं ॥ ७९३ ॥
थोअमिव खाम-गंडत्तणेण परिलक्खिओण्णअ-णिवेसो ।
परिवाअइ कक्केअण-पराअ-कणउज्जलो अहरो ॥ ७९४ ॥

को छोड़कर धीरे-धीरे समाप्त प्राय हो जाती है क्योंकि उसके पुष्पों में फल की गाँठें पड़ जाती हैं ।। ७९० ।।

इस प्रकार अपनी प्रेयसियों के साथ राजा अपने नगर के वाह्योद्यान में इन दिनों आमोद-प्रमोद मनाता है जबकि उसका गौरव वसन्त श्री के समान विकसित हो चुका है ।। ७९१ ।।

[आगे के ५ पदों में कवि ने नवयुवतियों के मोहक सौन्दर्य का वर्णन प्रस्तुत किया है]

उन युवतियों के कपोल खजूर की उन मृदुल पत्तियों के समान प्रभायुक्त है जो किनारे-किनारे हरी हैं और पूर्ण विकसित हैं तथा उन पर नयनाश्रु के साथ ढुलके अंजन की रेखाएँ दिख रही हैं ।। ७९२ ।।

काली पुतलियों तथा कुछ-कुछ बन्द करने पर उनके नेत्रों का श्वेतभाग मध्यांश को दबाते समय नवीन चन्द्रमा की छबि को प्राप्त करते हैं ।। ७९३ ।।

उनके अधर कुछ-कुछ शुष्क हैं और उनकी आकृति कपोलों की दुर्बलता के कारण प्रत्यक्ष हो रही है, इस प्रकार वे कर्केतन पराग कणों के चूर्ण की भाँति शोभा पा रहे हैं ।। ७९४ ।।

दोब्बल्ल-पंडुराण उम्हारुणिअ-णव-केसर-गुणाण ।
विरलत्तणं व थोवं उवेइ मुद्धाण थणआण ॥ ७९५ ॥

इह तस्स पढम-मअणाणुबंध-पडिबद्ध-मुद्धभावासु ।
दिट्ठी णिहुअ-विलासालसासु वीसमइ बालासु ॥ ७९६ ॥

अह तस्स थिर-भुअक्खंभ-णिमिअ-णीसेस-भुवणभारस्स ।
आसि कइराअ-इंधो बप्पइराओ त्ति पणइ-लवो ॥ ७९७ ॥

अप्पा एत्तिअमेत्तेण णवर विरसो वि जस्स पडिहाइ ।
सिरि-कमलाउह-चलणेहिँ कह वि जं गहिअ-बहुमाणो ॥७९८॥

भवभूइ-जलहि-णिग्गअ-कव्वामअ-रस-कणा इव फुरंति ।
जस्स विसेसा अज्जवि विअडेसु कहा-णिवेसेसु ॥ ७९९ ॥

उन युवतियों के स्तन थोड़े-थोड़े वकुल पुष्प की भाँति पीन तथा सूर्य के ताप से लाल होकर भी इस समय दुर्बलता के कारण पीत-श्वेत-से दिख रहे हैं ।। ७९५ ।।

इस प्रकार राजा यशोवर्मा के लोचन उन नवयुवतियों पर टिक गए जो प्रथम बार मुग्ध होकर निरन्तर अपनी भोग-कामना की पूर्ति में लगी रहीं और उसके साथ निश्चिन्त होकर विलास करती रहीं ।। ७९६ ।।

फिर उस राजा ने, जिसकी स्तम्भ सदृश भुजाओं पर निखिल विश्व का भार टिका था, वाक्पतिराज को 'कबिराज' की पदवी से अलंकृत किया जबकि यह कवि उसके कृपा-सिन्धु का मात्र एक बूंद था ।। ७९७ ।।

यद्यपि उसकी आत्मा इतने से ही तृप्त थी तथापि उसे कमलायुध (नामक महाकवि) द्वारा बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ ।।७९८।।

जिसकी विशिष्ट काव्य रचना आज भी उसके काव्य प्रबन्धों में शोभा पा रही है और वह काव्यरसामृत भवभूति के काव्यसिन्धु के अन्थन से निकला है ।। ७९९ ।।

भासम्मि जलण-मित्ते कुंतीदेवे अ जस्स रहुआरे ।
सोबंधवे अ बंधम्मि हारिअंद अ आणंदो ॥ ८०० ॥
आलेक्खिअं च सरसं च परिस-लोणं च सारवंतं च ।
थिरमुज्जलं च छाया-घणं च गी-विलसिअं च ॥ ८०१ ॥
आगम-वाआ छंदण्णुआ अ ते भरह-गोअम-प्पमुहा ।
णंदंति जमेवंहास-कारिणो सार-कइणो अ ॥ ८०२ ॥
किं च ।
भरिअ-सवण-ट्ठिअं भूरि-कइ-गुणोवास-कंखिणो जस्स ।
सुभणिअमहो णअंति व विम्हय-चलिएहिँ सीसेहिं ॥ ८०३ ॥
तो सो गोट्ठी-परिसंठिएहिँ सप्पुरिस-संकहावसरे ।
भणिओ विम्हय-विअसंत-णयण-वत्तं विअड्ढेहिं ॥ ८०४ ॥

जो भास, ज्वलनमित्र, कुन्तीदेव, रघुवंशकार कालिदास, सुबन्धु तथा हरिश्चन्द्र के साहित्य में अत्यन्त आनन्द प्राप्त करता है ॥ ८०० ॥

जिसका प्रौढ प्रबंध अत्यन्त सरस, मर्मस्पर्शी, सारगर्भित, सुदृढ़ उज्ज्वल भावगाम्भीर्य तथा वाणी विलास के आनन्द स्रोत सदृश है ॥ ८०१ ॥

शास्त्रों के वे मर्मज्ञ, जो व्याकरण के ज्ञाता, छन्दों ज्ञान में पटु, नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि, न्यायशास्त्र प्रणेता गौतम, महाभारत तथा पुराणों के रचयिता तथा तत्त्ववेत्ता कविगण उसे निरन्तर प्रेरणा देते रहते हैं ॥ ८०२ ॥

जिसके श्रोतागण उससे उच्चतर काव्य प्रतिभा प्रदर्शन की आशा तो करते हैं किन्तु सहसा उसका काव्य चमत्कार देखकर दंग रह जाते हैं और जो कुछ श्रवण किया उसे स्मृति में स्थापित कर रखा है ॥ ८०३ ॥

ऐसे कवि से विद्वद्गण ज्ञानियों के समक्ष राजसभा में विस्फारित नेत्रों से विस्मय के साथ हमारे महाराज यशोवर्मा के विषय में बोलने का आग्रह किया करते हैं ॥ ८०४ ॥

धारेइ जलहरोहुर-वसुंधराबंधबंधुरं सेसो ।
कहवि विणिउंचिअ-ट्ठिअ-विसट्ट-कंठं फणा-वलयं ॥ ८०५ ॥
दीसंति जअ-विणासुल्लसंत-घण-धूमकेउ-दंड व्व ।
जल-मज्जंत-दिसागअ-खणुद्ध-धरिआ करक्खंभा ॥ ८०६ ॥
उल्लसिअ-वीइ-वलयंतराल-परिअत्तमाण-रवि-बिंबा ।
होंति सवाडव-जलण व्व गअण-मग्गे वि मअरहरा ॥ ८०७ ॥
विअलंत-विज्जु-वलया पलयंबुवह-णिवहा णिविज्जंति ।
तद्दिअस-पीअ-सलिला साणुसएणं व सलिलेण ॥ ८०८ ॥
जल-भवण-समालंबिअ-सयणस्स मुरारिणो समुद्देण ।
दिज्जइ महा-पईवो व्व वीइ-संवेल्लिओ सूरो ॥ ८०९ ॥
जाआ वण्णासाआ अण्णोण्णं चिअ केवि संवलंताण ।

शेषनाग अपने उन सहस्रों फणों का केन्द्र धारण करते हैं जो उस पृथ्वी के विपुल भार से दबे हैं जिस पर जल का भार पड़ा है, इसीलिए उनका कण्ठ सूजकर संकुचित हो गया है ॥ ८०५ ॥

जल में निमग्न दिग्गज जब कभी क्षण मात्र के लिए अपनी शक्तिशाली स्तम्भसदृश सूँढ़ ऊपर उठाते हैं तो ऐसा लगता है मानो विश्वविनाश हेतु घना धूमकेतु प्रकट हो गया हो ॥ ८०६ ॥

अपने अन्तराल में आकाशपथ से उतरे हुए सूर्यमंडल को धारण किये हुए सागर ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वे वड़वानल को अन्दर ही अन्दर भड़का रहे हैं ॥ ८०७ ॥

विद्युत-उगलते हुए घने मेघ इस समय प्रतिकारवश जल निगल रहे हैं क्योंकि वे अतीत में प्रतिदिन जल पिया करते थे ॥ ८०८ ॥

लहरों से संवेलित सूर्य इस प्रकार दिख रहे हैं मानो क्षीर सिन्धुशायी भगवान् विष्णु के भवन की सेवार्थ महाप्रदीप का कार्य कर रहे हैं ॥ ८०९ ॥

एक दूसरे से मिलकर सागर के जल का वर्ण तथा स्वाद

छीर-सुराउव्व-विआर-विसमिआ सअल-जलहीण ॥ ८१० ॥
मज्जइ सिहरारूढारुहंत-पुंजइअ-मुहल-सुर-लोओ ।
कुहर-भरण-कमोसीअसाण-जल-कलअलो मेरू ॥ ८११ ॥
चलणंत-णिवडिअं संभमेण पलयंबु-णिब्भरे भुवणे ।
आरुहइ रअअ-णावं व तिणयणो मउलि-ससि-लेहं ॥ ८१२ ॥
णाउल-भावो जोआणुबंध-संजमिअ-सास-पसरस्स ।
पव्वालिआणणस्स वि सयंभुणो साअर-जलेण ॥ ८१३ ॥
इअ पलय-जलप्फालिअ-चलंत-सुर-सेल-विहल-विबुहम्मि ।
अणहमवलंबणं ति-हुवणस्स जो जाअइ मुरारी ॥ ८१४ ॥

नितान्त भिन्न हो गया है और इस प्रकार विचित्र तथा विशिष्ट प्रतीत हो रहा है मानो सुरा और दूध का मिश्रण हो ॥ ८१० ॥

सुमेरू पर्वत इस समय जलमग्न है और देवगण एकत्रित होकर शोर मचा रहे हैं, उनमें से कुछ तो शिखरारूढ़ हो चुके हैं और कुछ इस समय चढ़ रहे हैं जबकि जल प्लावन का स्वर अब शनैः शनैः शान्त हो रहा है क्योंकि अधिकाँश जल तो कन्दराओं में भर गया है ॥ ८११ ॥

त्रिलोचन शिव जैसे रजत नौका के माध्यम से अर्धचन्द्र पर आरूढ़ हो रहे हैं क्योंकि चन्द्रमा सारे संसार के जल-प्लावन के भ्रम में इस समय धीरे-धीरे शिव जी के शीश से उतरकर उनके चरणों पर आ गया है ॥ ८१२ ॥

स्वयंभू ब्रह्मा ने रंचमात्र भी आकुलता का अनुभव नहीं किया यद्यपि उनके मुखमण्डल के ऊपर से सागर का जल बह रहा था और वे अपनी योगसाधना से अपनी श्वास पर नियंत्रण किये हुए थे ॥ ८१३ ॥

जब सभी देवगण आकुल होकर उस सुर शैल पर शरण लिए हुए थे जो इस समय जल-प्लावन से डगमगा रहा था उस समय भी त्रिभुवन के लिए भगवान् विष्णु ही एकमात्र अवलम्ब थे ॥ ८१४ ॥

जस्स मह-धूम-लेहा रविणा स-मऊह-दाविअ-दलेण ।
अग्ग-घडिएण दीसइ कविसेक्क-फल व्व ताल-लआ ॥ ८१५ ॥

तस्स इर इमो सुव्वइ विग्गह-तुंगाहिहाण-पडिवण्णो ।
भुवणम्मि महासुर-वंस-वेरिणो अंस-णीसंदो ॥ ८१६ ॥

अह वा ।

ओसरइ समुप्पअणा रहस-घडंतंग-पेल्लण-विलोलं ।
तक्खण-विहडिअ-वंभंड-सअल-जालं व घण-वडलं ॥ ८१७ ॥

विहडंत-घण-विमुक्का परिअत्त-विमाण-वंचिआ कह वि ।
णिवडंति गलिअ-णिअ-पिञ्छ-विब्भमा तडिगुण-च्छेआ ॥८१८॥

भमिअं रय-विहुओअहि-समुच्छलंतेहिँ पक्ख-सेलेहिँ ।

ऐसे समय में भी महाराज यशोवर्मा के यज्ञ की धूमलेखा उन सूर्यदेव के सहयोग से उच्चतम हो रही थी जिनकी किरणें भूमितल पर विराजमान थीं । इस प्रकार वह राजा ताल तरू के एक मात्र लाल फल की भाँति प्रतीत होता था ॥ ८१५ ॥

ये हमारे महाराज जो सारे संसार में अपने उपनाम 'विग्रहतुङ्ग' से प्रसिद्ध हो गये थे अब दैत्यकुल के विनाशकर्त्ता भगवान् विष्णु के अंश माने जा रहे हैं ॥ ८१६ ॥

पक्षिराज गरूड़ की ऊँची उड़ान ने गगन में विचरते हुए मेघों को खण्ड-खण्ड कर दिया है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो सारा ब्रह्माण्ड छिन्न-भिन्न हो गया है ॥ ८१७ ॥

मेघों के तितर-वितर होने से विद्युत् के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं और विष्णु का विमान दिग्भ्रमित हो गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि गरूड़ के सुन्दर पंख उनके शरीर से विद्युत् के रूप में गिर रहे हैं ॥ ८१८ ॥

आकाश में पंखधारी पर्वतों की जो उड़ान हो रही थी वह गरूड़ की तेल चाल से उत्पन्न सागर विक्षोभ से वायु में बहक

साहेज्ज-संगएहिं महा-विहंगेहिँ व णहम्मि ॥ ८१९ ॥
दीसइ वेउग्घाडिअ साअर मूल-रअण-प्पहाअंबो ।
पढमोवइआरुण-पेल्लिओ व्व मग्गो सुवण्णस्स ॥ ८२० ॥
सोहंति अमरिसुग्गम-विउण-विसाणल-सिहं विहंभंता ।
दर-खंडिअ-मुह-घोलंत-गरुल-वक्ख व्व भुअइंदा ॥ ८२१ ॥
मूल-फणा-मंडल-तहणिसण्ण-णिक्कंप-धरिअ-महिवेढं ।
सहइ ठिअं इअर-फणाहिउत्त-गरुलं अणंतस्स ॥ ८२२ ॥
विहडंति णह-णिवाआ विहंग-णाहस्स कुलिस-कढिणा वि ।
मंदर-णिहंस-किण-णिट्ठुरम्मि वच्छम्मि वासुइणो ॥ ८२३ ॥
णिअ-सुंकारोसारिअ-ण-पडंत-विहंग-णाह-संसग्गा ।

गई। ऐसा लग रहा है मानो पर्वतों के रूप में वे वृहत्काय पक्षी गरूड़ के साथ-साथ उड़ रहे हैं ॥ ८१९ ॥

सागर तल में स्थित उन रत्नों को अत्यन्त चमक से सूर्य का पथ लाल हो गया जो गरूड़ की तीव्र गति से खुलकर चमकने लगे थे, लगता है सूर्य के आगे-आगे अरूण की यह उड़ान है ॥८२०॥

नागराज अत्यन्त मनोमोहक लगते हैं जो आक्रोश में आकर विष-ज्वाला का वमन कर रहें हैं। वह ज्वाला गरूड़ के पक्ष जैसी दिखती है जिसे वे अपने मुख का ग्रास बना चुके हैं ॥ ८२१ ॥

शेषनाग, जिनके ऊपर भूमण्डल निष्कम्प रूप से स्थित है, पूर्ववत् उसे अपने मुख्य फण पर धारण किये हुए हैं जबकि अन्य फणों से गरूड़ पर आक्रमण भी करते जा रहे हैं ॥ ८२२ ॥

पक्षिराज गरूड़ द्वारा किया गया नख-प्रहार यद्यपि बज्र की भाँति कठोर था तथापि नागराज वासुकि का वक्ष:स्थल जो मन्दराचल के धर्षण से कठोर हो चुआब पर था, वह प्रहार सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो रहा था ॥ ८२३ ॥

फणधारी सर्प पक्षिराज गरूड़ के उस संसर्ग से विह्वलता का अनुभव करके प्रतिकार रूप में फूत्कार करने लगे जो इस समय

फणिणो विहल-मुह-च्छोह-विउण-रोसं विमुंरेंति ॥ ८२४ ॥
संभम-चलंत-दिग्गअ-घोलाविअ-सास-मुहल-करदंडं ।
सेसङ्क-भुअअ-कुल-णामिअं व ओसरइ पाआलं ॥ ८२५ ॥

इअ एस विहुअ-विसहर-समूह-संभाविउब्भड-जसेण ।
वुब्भइ विणआ-तणएण स-विणयं कण्ह-भावम्मि ॥ ८२६ ॥

अवि अ ।
संभम-भमंत-विज्जाहरासि-केसर-करंविअं फुरइ ।
उप्पाउद्ध-ट्ठिअ-चिहुर-दंड-चण्डं व गअण-अलं ॥ ८२७ ॥
उव्वहइ बिंब-घडिअं तारा-णिअरं ससी विडप्पस्स ।
णिद्दय-कवलण-खुडिअ-ट्ठिअं व दाढा-कणुक्केरं ॥ ८२८ ॥

उनपर कोई प्रभाव नहीं डाल सका वरन् आक्रामक उत्तेजना की निष्फलता के कारण उनका रोष दुगुना हो गया ॥ ८२४ ॥

संभ्रम के कारण अपनी सूंड़ों को ऊपर उठाये चिग्घाड़ते दिग्गज जिस समय इधर-उधर भागने लगे उस समय सारे सर्प भय-वश शेषनाग की पीठ पर बैठकर पाताल की ओर खिसकने लगे ॥ ८२५ ॥

इस प्रकार विष्णु के अवतार महाराज यशोवर्मा उन विनता-नन्दन गरूड़ द्वारा ससम्मान ले जाये गये जिन्होंने असंख्य विषधर सर्पों को डराकर गौरव प्राप्त किया था ॥ ८२६ ॥

[आगे के ६ कुलकों में शत्रुओं के ऊपर क्रोधावेश में राजा की भृकुटि-भंगिमा का वर्णन किया गया है ।]

विद्याधरों के द्वारा संभ्रमवश खड्ग घुमाने से आकाश चमकता है और भयावह-सा दिखता है, ऐसा प्रतीत होता है संभावित दुर्घटना के कारण आकाश की रामावलि खड़ी हो गई है ॥ ८२७ ॥

चन्द्रमा अपने बिम्ब के ऊपर तारा निकर को धारण किये हुए है ऐसा प्रतीत होता है कि निर्दयता पूर्वक कबलन के क्रम में खण्डित होकर राहु के दाँत ही उस पर लगे हुए हों ॥ ८२८ ॥

रोस-धुअ-चलण-तेलोक्क-लच्छि-विच्छूढ-णेउर-च्छायं ।
विवराह-केउ-भिण्णं रवि-बिंबं विअलइ णहम्मि ॥ ८२९ ॥
अत्थक्क-फुडण-विअलंत-कलल कलिलं व बाल-बंभंडं ।
रवि-बिंबं दीसइ किरण-मुक्क-कीलाल-जंबालं ॥ ८३० ॥
तद्दिअस-मुह-ट्ठिअ-लोह-कवल-कसण-प्पहा-विहिण्णं व ।
हेसंति रहस-णिव्वूढ-धूम-कलुसं जय-तुरंगा ॥ ८३१ ॥
इअ तइआ खण-णिव्वडिअ-भू-लआ-भंग-भंगुरावंगे ।
जाए इमम्मि भुवणेसु दारुणा आसि उप्पाआ ॥ ८३२ ॥
किं च ।
सरहस-संचार-तरंगिओरु-तरलाविओ सुहावेइ ।

सूर्यमण्डल कृष्णवर्णी केतु द्वारा भिद जाने पर आकाश में बने विवर की भाँति दिखाई पड़ता है और त्रिभुवन की महादेवी लक्ष्मी द्वारा रोष में किये गये चरण प्रहार से गिरे नूपुर की छाया सदृश प्रतीत होता है ॥ ८२९ ॥

किरणों के माध्यम से निरन्तर वहते हुए रक्त के कारण सूर्यमण्डल इस प्रकार व्यथित दिख रहा है मानो अकस्मात् फूट जाने से बाल-ब्रह्मा की उत्पत्ति करने वाला हिरण्य-अण्ड मध्यभाग में स्थित रस उगल रहा है ॥ ८३० ॥

विजयी घोड़े हिनहिनाने लगें और उनके नथुनों से काली चमक से युक्त काला धुवाँ श्वास के रूप में इस प्रकार निकल रहा था मानो प्रतिदिन लौह की लगाम उनके मुख में लगी रहने से यह कलुषता निकल रही है ॥ ८३१ ॥

इस प्रकार महाराज यशोवर्मा की वक्रदृष्टि तथा उस समय क्षणमात्र के लिए लता की भाँति भृकुटि की भंगिमा से सारे संसार में भयावह स्थिति उत्पन्न हो गई ॥ ८३२ ॥

[आगे के ५ पदों में राजा द्वारा की गई अपनी कामिनियों के साथ प्रणय-लीला का वर्णन किया है।]

उस कामिनी ने अपने कण्ठ में पुष्पहार धारण कर रक्खा है

आरसणा-गुण-पडिबद्ध-कुंडलो कुसुम-पालंबो ॥ ८३३ ॥

घोलइ पडिलग्ग-पियंगु-मंजरी-जाल-गरुइअद्धंतो ।
असमंजस-लासायास-पसिढिलो कुंतल-कलावो ॥ ८३४ ॥

सहइ थणवट्ट-संठिअ-पिट्ठाअअ-पंसु-पिंजर-च्छायं ।
अहिराम-माहवी-मउल-दंतुरं दमणआहरणं ॥ ८३५ ॥

पडवास-पंसु-धूसर-दर-गरुआअंत-पम्ह-परिसिढिला ।
घोलइ महु-मअ-परिणाम-विरल-परिवाडला दिट्ठी ॥ ८३६ ॥

इअ मअणूसव-विअसंत-वहल-कीला-रसो सुहावेइ ।
एअस्स पणइ-भवणेसु णव-विलासो पिआ-सत्थो ॥ ८३७ ॥

उसका कुंडल से लटकती लड़ी उस पुष्पहार के साथ उसके वक्ष तक फैली है और उसके जघन भाग तक लटकता हार राजा को अत्यन्त आनन्दित कर रहा है ॥ ८३३ ॥

कामिनी के केश कुन्तल, जिनका निचला भाग अर्धांश प्रियंगु-मञ्जरी से बँधा होने के कारण बोझिल हो गया है, चारो ओर लहरें ले रहा है और अनवरत नृत्य से प्रायः शिथिल और ढीला हो चला है ॥ ८३४ ॥

दमनक मञ्जरी से राजा हुआ आभरण, स्तनों पर गुलाबी तथा उच्चकोटि का सुगन्धित चूर्ण लगा होने के कारण माधवी की कलियों के सहयोग से अत्यन्त आकर्षक लगता है ॥ ८३५ ॥

सुगन्धित पांसु से धूसरित फलतः भूरी तथा परिशिथिल पलको युक्त नयन कुछ मन्द तथा रक्तवर्णी से ऐसे लगते हैं मानो उन पर मदिरा का प्रभाव पड़ गया हो ॥ ८३६ ॥

इस प्रकार यशोवर्मा की प्रेयसियाँ प्रणय भवनों में उसे प्रेम-क्रीडारस का सुख देती हैं और उनकी प्रणय क्रीडामदनोत्सव के अवसर पर नये-नये विलासों से और अधिक सुख देती है ॥ ८३७ ॥

अवि अ ।

लहु-विसय-भाव-पडिसिद्ध-पसर-संभावणा पडिक्खलिआ ।
जस्स समत्ता वि गुणा चिरमसमत्त व्व दीसंति ॥ ८३८ ॥

अह वा

वसुहा-सयण-पहुप्पंत-रेणु-परिभोअ-विहुरिअ-कवोलं ।
वयणं हेमंत-मिअंक-धूसरं सारवेंतीहिं ॥ ८३९ ॥

असमारण-मूलुब्भिज्जमाण-पम्हग्ग-मडहिअ-णडाले ।
अलए णीसास-णिवेस-जज्जरे संजमंतेहिं ॥ ८४० ॥

जह-तह-पुसिअंसु-कणावलंब-मंथरिअ-पम्ह-परिवेसं ।
देंतीहिँ अहिणवाणंद-बाह-सोम्मुम्मुहिं दिट्ठिं ॥ ८४१ ॥

यहाँ तक कि जो मनुष्य पूर्ण है और उसमें सभी गुण विद्यमान हैं वह भी महाराज यशोवर्मा की तुलना में अपूर्ण और अकुशल ही जान पड़ता है क्योंकि एक तो उसका कार्यक्षेत्र सीमित है दूसरे उसको कार्यक्षेत्र में उतरने तथा उसकी मान्यता का अवसर ही नहीं मिल पाता है ॥ ८३८ ॥

भूमिशयन के कारण उसके शत्रुओं की स्त्रियों के कपोल धूल-धूसरित हो उठे है तथा मुखमण्डल पर हेमन्त-कालिक चन्द्र के कलंक की भाँति लगी धूल लगी है ॥ ८३९ ॥

राजा यशोवर्मा के शत्रुओं की स्त्रियाँ अपने केशों को एक जर्जर धागे से बाँधे हुए हैं तथा लगातार निःश्वास से उनके उन छितराए हुए केशों ने ललाटस्थल को संकुचित कर रखा है क्योंकि अब वे केश विन्यास त्याग चुकी हैं ॥ ८४० ॥

जिस किसी प्रकार अपनी शिथिल पलकों वाली आँखों के अश्रु पोंछकर अब वे अभिनव आनन्दाश्रु भरे साम्य नयनों से महाराज यशोवर्मा को देख रही हैं ॥ ८४१ ॥

अक्खित्त-चुडुप्पुद्देस-समहिआअंबमुव्वहंतीहिं ।
अझसुरमहरं वेलक्ख-सुण्ण-दिण्णंगुली-किसलं ॥ ८४२ ॥

इअ एस हिअअ-णिम्माअ-वम्महं खण-खलंत-विअणाहिं ।
रहसमुम्मुहीहिँ दीसइ पडिवक्ख-णरिंद-बंदीहिं ॥ ८४३ ॥

इअ उण्णएण इमिणा जह णिट्ठविओ पुरा मगह-णाहो ।
तह सीसंतं एए तुमाओ णीसेसमिच्छंति ॥ ८४४ ॥

अह विहसिऊण सणिअं सो जंपइ णिव्वडंत-सब्भावं ।
कइयव-विमुहाइंच्चिअ होंति विसुद्धाण हिअआइं ॥ ८४५ ॥

धीरेहिँ हिअअ-णिहिआ कह वि गमेज्जंति सोअ-संवेआ ।
अंगाइँ पहरिसो उण गरुआण वि किं पि तरलेइ ॥ ८४६ ॥

उनके अधरों से उस समय ताम्बूल की लाली लुप्त हो चुकी है फिर भी वे अधिक गुलाबी रंग के दिख रहे हैं और उन अधरों पर लगे दन्तक्षत का लोप होने पर भी उनकी उँगलियाँ उन पर फिर रही हैं और वे शून्य हृदय-सी लगती हैं ॥ ८४२ ॥

इस प्रकार वे वन्दी ललनाएँ अपने हृदय में कामदेव का स्मरण करके अपनी वेदना को क्षणमात्र के लिए भुलाकर अत्यन्त उत्सुकता के साथ महाराज यशोवर्मा को निहार रही हैं ॥ ८४३ ॥

इस प्रकार तुमसे उस निःशेष कथा को लोग सुनना चाहते हैं कि किस प्रकार इन सम्मुन्नत यशोवर्मा ने मगधनाथ का नाश किया था ॥ ८४४ ॥

तब मुस्कराते हुए अत्यन्त सद्भाव तथा शुद्ध स्वभाव से महाराज ने कहा कि पवित्र हृदय वाले किसी भी धूर्तता के विरुद्ध होते हैं ॥ ८४५ ॥

धीर-गम्भीर हृदय वाले किसी न किसी प्रकार शोक-संवेग को सहन ही कर लेते हैं और अतिशय आनन्द तो महान् पुरुषों के शरीर को भी रोमांचित कर देता है ॥ ८४६ ॥

कंठेच्चिअ परिघोलइ पुणरुत्तं पहरिसाउल-क्खलिआ ।
अपहुप्पंति व्व महं वाआ पहुणो पसंसासु ॥ ८४७ ॥

अवि अ ।

अंतोव्वासं विअडाअमाण-फण-मंडलो समुव्वहइ ।
पच्छाच्छेप्प-च्छल-णित-दीह-देहत्तणा सेसो ॥ ८४८ ॥

छीराअंत-णह-च्छवि-चलण-विणिम्मिअ-पओहर-चउक्को ।
गूढ-मुहो कुम्मोच्चेअ लहइ आवीण-संठाणं ॥ ८४९ ॥

पढमुत्थंघण-घोलाविउद्ध-घोणाउडेण पडिवण्णं ।
उत्तुंड-तण्णअत्तणमइरा वेउण्ठ-क्कोलेण ॥ ८५० ॥

उस हर्षातिरेक का पुनः पुनः वर्णन करते समय मेरा भी कण्ठ अवरुद्ध हो जाता है और अपने प्रभु की प्रशंसा करने में मेरी वाणी भी असमर्थ-सी हो गई है ॥ ८४७ ॥

[राजा यशोबर्मा असाधारण नृपति थे और वे उस राजा पृथु से जिन्होंने पृथ्वी को गाय का रूप देकर उससे विविध विभूतियों का दोहन कर लिया था ये भी महान् थे। आगे उसी पौराणिक के वृत्त का विवरण है]

अपने वृत्ताकार फण-मण्डल से शेषनाग उस रिक्त स्थान की पूर्ति करते हैं जो पृथ्वी के गो रूप धारण कर लेने से खाली हो गया था और उनकी दीर्घ देह पृथ्वी को सँभालने के लिए उसको पूँछ के रूप में पीछे की ओर बढ़ गयी है ॥ ८४८ ॥

अपना मुख शरीर में छिपाए गाय के निर्माण हेतु अपने चरणों तथा देह से उसके शरीर की रचना कर डाली जिसके चरणों के नख दुग्ध के समान उज्ज्वल थे ॥ ७४९ ॥

तत्क्षण विष्णु-अवतार उस वाराह ने अपना मुख ऊपर उठाकर बछड़े का रूप धारण कर लिया जिसका थुथुन प्रथम वार वायु में ऊपर उठने से टेढ़ा हो गया था ॥ ८५० ॥

देह-परिवाडि-पीडा-हुंकार-तरंगिओ विणिक्खमइ ।
धूमाअंतो पाआल-बहल-तम-संचओच्चेअ ॥ ८५१ ॥

पाआलोअर-मग्गम्मि भिण्ण-विणिवेस-सिढिल-गलिएण ।
वुब्भइ सुमेरुणा तरुण-रोअणा-सार-सारेच्छं ॥ ८५२ ॥

खण-परिअत्त-सहावत्तणेण दर-णिग्गअंकुर-सिहो व्व ।
वअणुद्देसो लीला-कवलिअ-तण-दंतुरो होइ ॥ ८५३ ॥

तक्खण-पीवर-पसरंत-दुद्ध-धारा-णिहेण मूलम्मि ।
सकुलो व्व विहाविज्जइ भारुव्वहणाअरा सेसो ॥ ८५४ ॥

इअ जेण संभमारंभ-गहिअ-गो-भाव-विब्भमुब्भंता ।
पुहई पुहई-वइणा विलंछिआ णिअअ-णामेण ॥ ८५५ ॥

पाताल लोक का घना एवं संचित अन्धकार धुएँ के रूप में बाहर आ गया जो पृथ्वो रूपी धेनु के शारीरिक कष्ट से रंभाने की लहर-सा दिख रहा था ॥ ८५१ ॥

सुमेरू पर्वत अपनी नींव से समूल उखड़कर पाताल लोक के पथ पर छितराने लगा और अब गाय के मस्तक पर लगे पीले गोरोचन की भाँति दिख रहा है ॥ ८५२ ॥

इस समय पृथ्वी का स्वरूप बदलकर गो रूप हो गया है और अब उगी हुई घास से उसका भरा हुआ मुख इस प्रकार घास के उसी क्षेत्र जैसा लग रहा है जो पहले से अंकुरित हो चुकी है ॥८५३॥

नीचे पड़े हुए शेषनाग इस समय अत्यन्त सुदृढ़ प्रतीत हो रहे हैं और उस पृथ्वी रूपी धेनु का भारी बोझ अभी भी उनके ऊपर पड़ा है जिसके स्तनों से इन समय दूध की धाराएँ बह रही हैं ॥ ८५४ ॥

जिन भूपति पृथु के द्वारा पृथ्वी की रक्षा की गई और उसे गाय का सौम्य स्वरूप प्रदान किया गया उसका नामकरण उन्हीं पृथु के नाम से ही पृथ्वी किया गया ॥ ८५५ ॥

तेण वि इमस्स तुलणा ण सहइ सुहअंति कस्स वा विरसा ।
सच्चरिअ-वंचिआणं सेसाण सिरी-समुल्लासा ॥ ८५६ ॥

किं च ।

जाण अलंकारसमो विहवो मइलेइ ते वि वड्ढंतो ।
विच्छाइए मिअंकं तुसार-वरिसो अणुगुणो वि ॥ ८५७ ॥

मोह-सलाहाहिँ तहा पहुणो पिसुणेहिं वेलविज्जंति ।
जह णिव्वडिएसु वि णिअ-गुणेसु ते किंपि चिंतेंति ॥ ८५८ ॥

सुलहं हि गुणाहाणं सगुणाहाराण णणु णरिंदाण ।
अण्णेसिअव्व-मग्गा कत्तो वि गुणा दहिद्दाण ॥ ८५९ ॥

तं खलु सिरीएँ रहस्सं जं सुचरिअ-मग्गणेक्क-हिअओ वि ।

अस्तु उन पृथु के साथ महाराज यशोवर्मा की तुलना ठीक नहीं है क्योंकि यशोवर्मा की कीर्तिगाथा उन शक्तिशाली नरेशों ने भी गायी है जिन्हे उसने अपने पराक्रम से निःशेष कर दिया ॥ ८५६ ॥

अतिशय वैभव उन्हें भी मलिन बना देता है जो वैभव रूपी अलंकार को धारण करते हैं। तदनुरूप होते हुए भी तुषार वर्षा चन्द्रमा को कान्ति को मलिन बना देती है ॥ ८५७ ॥

व्यर्थ की चाटुकारिता प्रभुओं के मानसिक विचारों को परिवर्तित कर देती है और उनमें मिथ्या धारणा, उत्पन्न होने लगती है यद्यपि उनमें क्या गुण हैं, प्रायः सर्वविदित होता है ॥८५८॥

राजा गण उन गुणीजनों को सहज ही अपने सान्निध्य में रख कर इस दृष्टिकोण से आश्रय देते हैं कि वे भी उनके गुणों को अपने अन्दर समाहित कर सकें किन्तु दरिद्रों के लिए उन्हें उन उपायों की खोज करनी पड़ती है जिनके द्वारा वे गुणों को स्वीकार कर सकें ॥ ८५९ ॥

समृद्धि शाली व्यक्ति दूसरों में उत्तम आदर्श व्यवहार दिखने

अप्पाणसोसरंतं गुणेहिँ लोओ ण लक्खेइ ॥ ८६० ॥

ण सहंति सील-सारं दोसे विचिणंति णच्चिअ विवेआ ।
दोसम्मि गुणाआरे णवरं पहुणो णिसम्मंति ॥ ८६१ ॥

लोएहिँ अगहिअंचिअ सीलमविहव-ट्ठिअं पसण्णं पि ।
सोसमुवेइ तहिंचिअ कुसुमं व फलग्ग-पडिलग्गं ॥ ८६२ ॥

णिच्चं धण-दार-रहस्स-रक्खणे संकिणो वि अच्छरिअं ।
आसण्ण-णीअ-वग्गा जं तहवि णराहिवा होंति ॥ ८६३ ॥

पेच्छह विवरीअमिमं बहुआ मइरा मएइ ण हु थोवा ।
लच्छी उण थोवा जह मएइ ण तहा इर बहूआ ॥ ८६४ ॥

के लिए अत्यन्त उत्सुक रहता है यद्यपि वह स्वयं आदर्श गुणों से संवलित हो सकता है ॥ ८६० ॥

आदर्श चरित्र के सार को भी वे (सत्ताधारी) नहीं सहते हैं (ध्यान नहीं देते हैं) और विवेक के कारण दोषों का अन्वेषण भी नहीं करते वे तो केवल ऐसे दोषों को देखते हैं जो गुण के रूप में उद्घोषित होते हैं ॥ ८६१ ॥

दरिद्र मनुष्य का उत्तम चरित्र भी इसी प्रकार व्यर्थ तथा अनजाना रह जाता है जैसे किसी फल के अग्रभाग पर पड़ा हुआ सूखा सुमन तिरस्कृत-सा हो जाता है ॥ ८६२ ॥

यह भी कितने आश्चर्य की बात है कि जो राजा गण शंकालु होते हैं और अपने धन-स्त्री की रहस्य-रक्षा के प्रति अत्यन्त सतर्क दिखते हैं वही नितान्त क्षुद्र सेवकों को उनकी परिचर्या के लिए नियुक्त करते हैं ॥ ८६३ ॥

यह विपरीतता देखिये कि अधिक मात्रा में पान की गई मदिरा उन्मत्त बना देती है परन्तु थोड़ी मदिरा नहीं जबकि थोड़े धन से मनुष्य जिस प्रकार प्रमाद करता है उस प्रकार प्रभूत धन से नहीं ॥ ८६४ ॥

जे णिव्वडिअ-गुणा वि हु सिरिं गआ ते वि णिग्गुणा होंति ।
ते उण गुणाण दूरे अगुणच्चिअ जे गआ लच्छि ॥ ८६५ ॥

एक्के लहुअ-सहावा गुणेहिँ लहिउं महंति धण-रिद्धिं ।
अण्णे विसुद्ध-चरिआ विहवाहि गुणे विमग्गंति ॥ ८६६ ॥

परिवार-दुज्जणाइं पहु-पिसुणाइं पि होंति गेहाइं ।
उहअ-खलाइं तहच्चिअ कमेण विसमाइँ मण्णेत्था ॥ ८६७ ॥

एत्तिअमेत्तेण गुणे णणु पडिवज्जंति णिव्विवेआ वि ।
जेत्तिअमेत्तेण पहू गरुआण परम्मुहा होंति ॥ ८६८ ॥

तह अयसिणो गुणेहिं जाआ सुअणा जणम्मि सअलम्मि ।
दोसाअरणं पि ण गाग्वाय जह संपअं ताण ॥ ८६९ ॥

गुणी लोग भी धनी बनते ही निर्गुणी हो जाते हैं और जो गुणों से दूर थे वे धन प्राप्ति के अनन्तर निर्गुणी रहते ही हैं ॥ ८६५ ॥

ओछे स्वभाव के लोग गुण के माध्यम से धन प्राप्ति का प्रयास करते हैं और कुछ उत्तम स्वभाव वाले धन के द्वारा गुण प्राप्त करना चाहते हैं ॥ ८६६ ॥

ऐसे भी गृह देखे गये हैं जहाँ सेवक हो दुष्ट हैं अथवा स्वामी ही दुर्जन हैं अथवा ऐसे भी गृह हैं जहाँ सेवक-स्वामी दोनों ही खल प्रवृत्ति वाले हैं उसी क्रम से ऐसे घरों को विषम व्यवहार वाला मानना चाहिए ॥ ८६७ ॥

विवेकहीन को भी उस अनुपात में गुणों की प्राप्ति होती है जिस अनुपात में कि प्रभु (सत्ताधारी व्यक्ति) गुरूजनों (गुणवानों) के प्रति पराङ्मुख होते हैं ॥ ८६८ ॥

सभी प्रकार के गुणों के रहते हुए भी ऐसे सुजन उन लोगों के मध्य असफल देखे गये हैं जो कुटिल हैं और उन्हीं के कारण उन सुजनों के गुण-गौरव लुप्त हो जाते हैं ॥ ८६९ ॥

गहिआ गुणत्तणेणं फलंति दोसा फुडं णरिंदेसु ।
दोसच्चिअ गुण-संभावणाएँ जइ ताण जाअंति ॥ ८७० ॥

मूढे जणम्मि अ-मुणिअ-गुण-सार-विवेअ-चइअरुव्विग्गा ।
किं अण्णं सप्पुरिसा गामाओ वणं पवज्जंति ॥ ८७१ ॥

दुक्खेहिँ दोहिँ सुअणा अहिऊरिज्जंति दिअसिअंचेअ ।
सुपुरिस-काले अ ण जं जं जाआ णीअ-काले अ ॥ ८७२ ॥

सुमईण सुचरिआण अ देंता आलोअणं पसंगं च ।
पहुणो जं णिअअ-फलं तं ताण फलं ति मण्णंति ॥ ८७३ ॥

अण्णो व्वि णाम विहवी सुहाइँ लीलासहाइँ णिव्विसइ ।

यहाँ तक कि बुरे लक्षणों में भी गुणों का फल राजाओं के लिए लाभदायक सिद्ध होता है जबकि वे तो यह समझ ही नहीं सकते हैं कि इन लक्षणों में कौन सी बुराई है क्योंकि वे लक्षण अच्छे ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं ॥ ८७० ॥

मूर्खों के साथ व्यवहार में घटनाओं की कटुता का अनुभव होता है जिसमें उनकी गुणवत्ता की पहचान ही नहीं हो पाती है और इसी से सुजन अपनी जन्मभूमि त्यागकर वन में निवास करने लगते हैं ॥ ८७१ ॥

इस प्रकार सुजनों का सारा जीवन इन्हीं दो प्रकार के दुःखों में व्यतीत हो जाता है। एक तो यह कि वे ऐसे युग में नहीं पैदा हुए जब लोग समृद्धि शाली होते रहे, दूसरे वे तब पैदा हुए जब दुष्ट तथा कुटिल शासक शासन कर रहे हैं ॥ ८७२ ॥

बुद्धिमानों तथा सच्चरित्रवान् को अपने सम्पर्क में लाकर तथा उन्हें साक्षात्कार का सुअवसर देकर ये सत्ताधारी ऐसा अनुभव करते हैं कि उन्होंने उन पर कृपा की है जब कि लाभ उनका अपना ही है ॥ ८७३ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य धनी व्यक्ति धनोपभोग का आनन्द तथा

असमंजस-करणेच्चेअ णवर णिव्वडइ पहुभावो ।। ८७४ ।।
अंदोलंताण खणं गरूआण अणाअरे पहु-कअम्मि ।
हिअअं खल-बहुमाणावलोअणे णवर णिव्वाइ ।। ८७५ ।।
पत्थिव घरेसु गुणिणो वि णाम जइ केवि सावसास व्व ।
जण-सामण्णं तं ताण किंपि अण्णंचिअ णिमित्तं ।। ८७६ ।।
वच्चंति वेस-भावं जेहिंचिअ सज्जणा णरिंदाण ।
तेहिंचिअ बहुमाणं गुणेहिँ किं णाम मग्गंति ।। ८७७ ।।
को व्व ण परंमुहो णिग्गुणाण गुणिणो ण कं व दूमेंति ।
जो वा ण गुणी जो वा ण णिग्गुणो सो सुहं जिअइ ।। ८७८ ।।
जं सुअणेसु णिअत्तइ पहूण वडिवत्ति-णीसहं हिअअं ।

अच्छे ढंग से वैभवविलास का सुख-लाभ करता है तथा सत्तावान् असमञ्जस में ही रहते हैं ।। ८७४ ।।

सत्तावान् द्वारा अपमानित होने से क्षणमात्र के लिए आन्दोलित सुजनों का हृदय उन्हीं प्रभुओं द्वारा खलों को उच्चतम सम्मान दिये जाने को देखकर शान्त हो जाता है ।। ८७५ ।।

फिर भी यदि किसी समय कुछ गुणवानों को राज प्रासाद में स्थान प्राप्त हो जाता है तो निस्सन्देह इसके पीछे कोई न कोई उदर निमित्त होता है जिससे कि किसी समान्य व्यक्ति को भी वह अवसर मिल सकता था ।। ८७६ ।।

न जाने क्यों सुजन अपने उन्ही गुणों के लिए राजाओं से प्रशंसा की अपेक्षा रखते हैं जिनके कारण ही वे उनके द्वेष-पात्र भी बन जाते हैं ।। ८७७ ।।

कौन ऐसा है जो निर्गुणी की उपेक्षा नहीं करता अथवा गुण किसको पीड़ा नहीं देते ? सच तो यह है कि सुखी वही है जो न गुणी है न निर्गुणी ।। ८७८ ।।

वस्तुतः महान् तथा चरित्रवान् व्यक्तियों को दी गयी उच्च प्रतिष्ठा तथा सम्मान को न सहन करने के कारण ही सत्ताधारियों

तं खु इमं रअणाहरण-मोअणं गारव-भएण ॥ ८७९ ॥
अविवेअ-संकिणोच्चिअ णिग्गुणा पर-गुणे परसंसंति ।
लद्ध-गुणा उण पहुणो बाढं वामा पर-गुणेसु ॥ ८८० ॥
सव्वोच्चिअ स-गुणुक्करिस-लालसो वहइ मच्छरुच्छाहं ।
पे पिसुणा जे ण सहंति णिग्गुणा पर-गुणुग्गारे ॥ ८८१ ॥
सुअणत्तणेण घेप्पइ थोएणंचिअ परो सुचरिएण ।
दुक्ख-परिओसिअव्वो अप्पाणोच्चेअ लोअस्स ॥ ८८२ ॥
मोत्तुं गुणावलेवो तीरइ कह णु विणय-ट्ठिएहिं पि ।
मुक्कम्मि जम्मि सोच्चिअ विउणअरं फुरइ हिअअम्मि ॥८८३॥
दूमिज्जंता हिअएण किं पि चिंतेंति जइ ण जाणामि ।

का हृदय उनकी ओर से ऐसे ही निवृत्त हो जाता है जैसे कोई भारी भार के भय से आभूषण उतार देता है ॥ ८७९ ॥

अपने अविवेक तथा असामर्थ्य के प्रति शंका शील से ही निर्गुणी लोग गुणियों की प्रशंसा करते हैं किन्तु गुणी प्रभुगण स्वभावतः दूसरे के गुणों से प्रतिकूल रहते हैं ॥ ८८० ॥

अपने गुणोत्कर्ष के महत्त्वाकाँक्षी प्रायः सभी दूसरों के प्रति मात्सर्य पूर्ण उत्साह भाव रखते हैं परन्तु खल तथा कुटिल निर्गुणी तो दूसरों के गुणों को सहन ही नही कर सकते ॥ ८८१ ॥

अपने थोड़े से ही सद्व्यवहार से कोई भी लोक में सुजन माना जाता है, अपने आपको ही सन्तुष्ट तथा प्रसन्न करना किसी के लिए भी अत्यन्त दुरूह है ॥ ८८२ ॥

वास्तव में अपने उपयुक्त गुणों का गौरव-त्याग किसी भी विनयशील व्यक्ति के लिए कैसे सम्भव है ? और यदि उसका त्याग भी कर दिया जाये तो वह हृदय में दुगुने वेग से स्फुरित होने लगेगा ॥ ८८३ ॥

यह बात तो मैं नहीं जानता कि आघात पाकर भी सुजनों के हृदय की क्या स्थिति होती है पर इतना निश्चित है कि वे

किरियासु पुण पअट्टंति सज्जणा णावरद्धे वि ॥ ८८४ ॥

महिमं दोसाण गुणा दोसा वि हु देंति गुण-णिहाअस्स ।
दोसाण जे गुणा ते गुणाण जइ ता णमो ताण ॥ ८८५ ॥

सुअणाअंति खला वि हु सुअणा वि खलत्तणं दावेंति ।
एसोच्चिअ सीमंतो गुणाणं दूरं फुरंताण ॥ ८८६ ॥

संसेविऊण दोसे अप्पा तीरइ गुण-ट्ठिओ काउं ।
णिव्वडिअ-गुणाण पुणो दोसेसु मई ण संठाइ ॥ ८८७ ॥

मुट्ठु वि परिहीण-गुणो सुअणो अण्णेहिँ होइ सामण्णो ।
सहआरे गलिअ-रसे वि भूअ-कज्जं ठिअं चेअ ॥ ८८८ ॥

आघात पहुँचाने वाले के विरूद्ध प्रतिकार भाव में कोई कदम नहीं उठायेंगे ॥ ८८४ ॥

विरोधाभास तो यह है कि दोषों के समक्ष गुण अधिक से अधिक झुकते देखे गये हैं जबकि उन्हीं दोषों के कारण गुण की महत्ता तथा गौरव की स्थापना होती है। इस प्रकार जो लाभ दोषों से होता है वही गुणों से भी संभव है तो मैं गुणों को ही नमस्कार करता हूँ ॥ ८८५ ॥

यहाँ तक कि यदि दुष्टजन कृत्रिम रूप से सुजनों के साथ सद् व्यवहार का परिचय देते हैं तो सुजन भी दुष्टों के प्रति दिखावटी-खलत्व दर्शाते हैं। गुणों की स्फुरित होती हुई यही गम्भीर सीमा रेखा है ॥ ८८६ ॥

दोषों में संसक्त जीवन में भी गुणों की प्रतिष्ठापन सम्भध है दूसरी ओर अपने गुणों के प्रति बोध होने से किसी के मन में दोष एक क्षण के लिए भी स्थान नहीं पा सकता है ॥ ८८७ ॥

गुणों से हीन मनुष्य समाज में सामान्य लोगों के मध्य वैसे ही स्थान पाता है जैसे मंजरी तथा फल रसादि से रहित आम्रतरू केवल छाया का काम करता है ॥ ८८८ ॥

कलहोआइमयाइं णवरं महिलाण दप्पण-अलाइं ।
पुरिसाण दप्पणं चरिअ-धारिणो सज्जणच्चेअ ॥ ८८९ ॥

वअण-विमुक्कं पि खलो अण्णत्तो दारुणत्तणं वहइ ।
धारासु मुहुत्तिण्णं पि धरइ फरुसत्तणं दब्भो ॥ ८९० ॥

परिगअ-परगुण-सारत्तणेण विउणं विसूरमाणाण ।
होइ विवेओच्चिअ दुज्जणाण पिसुणत्तण-णिमित्तं ॥ ८९१ ॥

अह मोहो पर-गुण-लहुअआएँ जं किर गुणा पयट्टंति ।
अप्पाण-गारवंच्चिअ गुणाण गरुअत्तण-णिमित्तं ॥ ८९२ ॥

वुब्भंते जम्मि गुणुण्णआ वि लहुअत्तणं व पावेंति ।
कह णाम णिग्गुणच्चिअ तं वहंति माहप्पं ॥ ८९३ ॥

नारियों का दर्पण-तल चाँदी का बना होता है परन्तु पुरूषों का दर्पण तो सच्चरित्र सज्जन ही है ॥ ८८९ ॥

वचन को छोड़कर अन्यत्र भी खल दारूणता धारण किये रहते हैं जैसे कि नोंक को छोड़कर पार्श्व में भी दर्भ के परूषता होती है ॥ ८९० ॥

कारण हो जाता ही जब वे बुद्धि विवेक ही दुर्जनों के दुख का अपने दुर्गुणों के विपरीत जब वे दूसरों के उत्तम गुण देखते हैं तो जल-भुन जाते हैं और उनकी व्यथा दूनी हो जाती है ॥ ८९१ ॥

वस्तुतः यह मोह है कि दूसरों के गुणों की लघुता (निन्दा) से अपने गुणों की वृद्धि होती है आत्मगौरव ही गुणों के गुणत्व का निमित्त है ॥ ८९२ ॥

पता नहीं कैसे और क्यों नितान्त गुणहीन को अपनी महत्ता का अनुभव हुआ करता है जबकि महान् गुणों वाले भी इस प्रकार अपने माहात्म्य का अनुभव करते ही लघु हो जाते हैं ॥ ८९३ ॥

माहप्पे गुण-कज्जम्मि अगुण-कज्जे णिबद्ध-माहप्पा ।
विवरीअं उप्पत्ति गुणाण इच्छंति काउरिसा ॥ ८९४ ॥

गुण-संभवो मओ सुपुरिसाण संकमइ णेअ हिअअम्मि ।
तेण अगिव्वूढ-मअ व्व ताण गरुआ गुणा होंति ॥ ८९५ ॥

ता चेअ मच्छर-मलं जाव विवेओ फुडं ण विप्फुरइ ।
जलिअं च भअवआ हुअवहेण धूमो अ विणिअत्तो ॥ ८९६ ॥

तुंगावलोअणे होइ विम्हओ णीअ-दंसणे संका ।
जह पेच्छंताण गिरिं जहेअ अवडं णिअंताण ॥ ८९७ ॥

इच्छामि विमुक-गुणं पिसुणासंकाएँ काउमप्पाणं ।
विसहर-संखोहुक्खित्त-कुसुम-मालं व रअणीए ॥ ८९८ ॥

वस्तुतः गुणों से महत्ता आती है परन्तु कापुरूष तो निर्गुणी होते हुए भी तथाकथित माहात्म्य की आशा करते हैं जो सृष्टि के नियमों के सर्वथा प्रतिकूल है ॥ ८९४ ॥

गुण से उत्पन्न मद सत्पुरूषों के हृदय को कदापि प्रभावित नहीं कर पाता है, अतः उनके गुणों के गौरव पर कभी मद् नहीं चढ़ता है ॥ ८९५ ॥

वस्तुतः जब तक विवेक का उदय नहीं होता तभी तक मत्सर रूपी मल बना रहता है। भगवान् अग्नि देव के प्रकट होते ही धूम्र का क्षय हो जाता है ॥ ८९६ ॥

ऊँचाई की ओर दृष्टि डालने में आश्चर्य तथा गहराई की ओर देखने में :भय उत्पन्त होता है जैसे पर्वत की चोटी का तथा गहरे कुओं के देखने वालों को ॥ ८९७ ॥

कभी तो निराशा में मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपने गुणों का ही परित्याग कर दूँ क्योंकि मैं उन दुष्टों से भयभीत हूँ जो ईर्ष्यावश किसी भी सीमा तक आघात पहुँचा सकते हैं जैसे कालरात्रि में मनुष्य विषधर सर्प के भय से अपने कण्ठ में पड़े पुष्पहार को उतार फेंकता है ॥ ८९८ ॥

जणमणहिगीअगुणगारवं पि गुण-गव्विअं णिएऊण ।
भुवणारूढ-गुणाण वि अप्पा अंदोलइ गुणेसु ॥ ८९९ ॥
गुणिणो विहवारूढाण विहविणो गुरु-गुणाण ण हु किंपि ।
लहुअन्ति व अण्णोण्णं गिरीण जे मूल-सिहरेसु ॥ ९०० ॥
ण तहा महागुणेसु माहप्पधरा हवंति णरवइणो ।
साहंकारा जह पत्थिवेसु तेच्चेअ दीसंति ॥ ९०१ ॥
जह जह णग्घंति गुणा जह जह दोसा अ संपइ फलंति ।
अगुणाअरेण तह तह गुण-सुण्णं होहिइ जअं पि ॥ ९०२ ॥
किं व णरिंदेहिँ विवेअ-मुक्क-सअलाहिलास-णीसंगा ।
विहिणो वि धीर-पडिबद्ध-परिअरा होंति सप्पुरिसा ॥ ९०३ ॥

अत्यन्त गुणवान् होते हुए भी जिसके गुण-गौरव की प्रशंसा नहीं हो पाती है उस व्यक्ति की आत्मा अपने विश्वविदित गुणों के प्रति भी सशंकित रहती है ॥ ८९९ ॥

गुणी व्यक्ति की धनी के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति नहीं रहती है जबकि धनवान् उत्तमगुण वालों की रंचमात्र चिन्ता नहीं करते हैं वे एक दूसरे को तिनके के समान उसी प्रकार समझते हैं जैसे शिखर की चोटी पर बैठा हुआ धरा पर खड़े हुये को और धरा वाला शिखर वाले को समझता है ॥ ९०० ॥

राजा महागुणियों के प्रति उतने अभिमानी नहीं होते हैं जितने कि वे (समान या अधीनस्थ) राजाओं के प्रति देखे जाते हैं ॥९०१॥

जैसे-जैसे गुणों का मूल्यांकन नहीं होता है अथवा जैसे-जैसे दोषों की प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही विश्व गुण शून्य होता जाता है क्योंकि वे समादृत ही नहीं हो पाते हैं ॥ ९०२ ॥

अथवा इन विवेकहीन राजाओं को ही क्या कहा जाये जिनके राज्य में उन सत्पुरूषों के प्रति उनका किसी प्रकार का लगाव ही नहीं दिखता जो विचारे अपने उच्च विचारों तथा कामनाओं का परित्याग करके भाग्य के विरूद्ध संघर्ष हेतु कटिबद्ध हैं ॥ ९०३ ॥

धोआरंभे वि विहिम्मि आयसग्गे व्व खंडणमुवेंति ।
स-परिप्फंदेणंचिअ णीआ भमि-दारु-सअलं व ॥ ९०४ ॥
विण्णाणालोओच्चिअ कुमईण विसारअं पआसेइ ।
कसणाण मणीणं पिव तेअ-प्फुरणं सिअं चेअ ॥ ९०५ ॥
हिअअ-विअडत्तणेणं गरुआण ण णिव्वडंति बुद्धीओ ।
घोलंति महा-भवणेसु मंद-किरणच्चिअ पईवा ॥ ९०६ ॥
अच्चंत-विएएण वि गरुआण ण णिव्वडंति संकप्पा ।
विज्जुज्जोओ बहलत्तणेण मोहेइ अच्छीइं ॥ ९०७ ॥
जे गेण्हंति सयंचिअ लच्छि ण हु ते ण गारव-ट्ठाणं ।
ते उण केवि सयंचिअ दालिद्दं घेप्पए जेहिं ॥ ९०८ ॥

क्योंकि नीच तो दुर्भाग्य के समक्ष अपने कार्य-कलापों के मध्य उसी प्रकार खण्ड-खण्ड हो जाते हैं जैसे आरे की तीक्ष्णधार में काष्ठ टुकड़े-टुकड़े हो जाता है ॥ ९०४ ॥

ज्ञान का आलोक दुर्मति की कुचेष्टा को उसी प्रकार प्रकाशित कर देता है जैसे तेज के समक्ष मणि की कालिमा प्रकाश में आ जाती है ॥ ९०५ ॥

हृदय की विशालता के कारण महान् पुरुषों का ज्ञानालोक वाह्य-जगत् में उसी प्रकार अज्ञात रह जाता है जैसे विशाल प्रासाद में दीपशिखा ॥ ९०६ ॥

सत्पुरूषों का अत्यन्त तेज उसी प्रकार लोग नहीं देख पाते हैं जैसे अधिक विद्युत प्रकाश आँखों को चकाचौंध कर देता है उसे देखा नहीं जा सकता ॥ ९०७ ॥

यह बात नहीं कि जो लोग अपने गुणों के बल पर सम्पदा अर्जित करते हैं वे आदर के योग्य नहीं हैं बलिक बात यह है कि कुछ ही ऐसे हैं जिन्होंने दारिद्र्य को स्वेच्छा से अंगीकार किया है ॥ ९०८ ॥

पक्के पावंति ण तं अण्णे परओ व्व तीएँ दीसंति।
इअराण महग्घाणं च अंतरे णिवसइ पसंसा ॥ ९०९ ॥
मरणमहिणंदमाणाण अप्पणच्चेअ मुक्क-विहवाण।
कुणइ कुविओ कअंतो जइ विवरीअं सु-पुरिसाण ॥ ९१० ॥
उवअरणीभूअ-जआ ण हु णवर ण पाविआ पहु-ट्ठाणं।
उवअरणं पि ण जाआ गुण-गुरुणो काल-दोसेण ॥ ९११ ॥
छाया सा इर मण्णे अणंतरागामिणो कअ जुअस्स।
कलि-काल-भरम्मि वि किंपि जेण विमलं पडिप्फुरइ ॥ ९१२ ॥
विसइच्चेअ सरहसं जेसुं किं तेहिँ खंडिआसेहिं।
णिक्खमइ जेसु परिओस-णिब्भरो ताइँ गेहाइं ॥ ९१३ ॥

कुछ तो प्रशंसा के स्तर पर ही नहीं पहुँच पाते हैं जबकि कुछ ऐसे सत्पुरूप हैं जो प्रशंसा से ऊपर दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार प्रशंसा अल्पज्ञानी तथा महान् ज्ञानियों के मध्य निवास करती है॥ ९०९॥

कुपित यमराज भी यदि सत्पुरूषों के विरूद्ध हो जाएँ तो वे अपनी समस्त सम्पदाओं को त्यागकर सानन्द मृत्यु का वरण कर लेते हैं॥ ९१० ॥

वे महान् पुरूष जो इस संसार को माहात्म्य प्राप्ति का उपकरण की भाँति प्रयोग करते हैं किसी प्रकार का प्रभुपद नहीं पाते हैं बल्कि वे विचारे कलियुग दोष के कारण दूसरों के लिए भी उच्च पद प्राप्ति के उपकरण नहीं बन पाते हैं॥ ९११ ॥

मेरा विश्वास है कि कृतयुग की छाया ही इस कलियुग के रूप में दिखाई पड़ रही है क्योंकि इस घोर कलिकाल में भी अन्दर ही अन्दर कुछ पवित्रता प्रतिस्फुरित हो रही है॥ ९१२ ॥

उन भवनों से क्या सम्बन्ध ? जहाँ लोग शीघ्रता से सोत्साह प्रवेश करते हैं परन्तु उनकी आकाँक्षाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं अब तो वे ही भवन श्रेयष्कर हैं जहाँ से लोग सन्तुष्ट होकर निकलते हैं॥ ९१३ ॥

उज्झइ उआर-भावं दक्खिण्णं करुणअं च आमुअइ ।
काण वि समोसरंती छिप्पइ पुहवी वि पावेहिं ॥ ९१४ ॥

अंतोच्चिअ णिहुअं विहसिऊण अच्छंति विम्हिआ ताहे ।
इअर-सुलहं पि जाहे गरुआण ण किंपि संपडइ ॥ ९१५ ॥

दावेंति सज्जणाणं इच्छा-गरुअं परिग्गहं गरुआ ।
मअण-विणिवेस-दिट्ठं महा-मणीणं व पडिबिंबं ॥ ९१६ ॥

साहीण-सज्जणा वि हु णीअ-पसंगे रमंति काउरिसा ।
सा इर लीला जं काअ-धारणं सुलह-रअणाण ॥ ९१७ ॥

थाम-त्थाम-णिवेसिअ-सिरीण गरुआण कह णु दालिद्दं ।

लोग हृदय की उदारता तथा सहानुभूति के भावों का परित्याग कर चुके हैं। यहाँ तक कि धरती भी उन लोगों से दूर होकर संकुचित हो गई है जिनके पापों से वह कलुषता को प्राप्त हो रही है ॥ ९१४ ॥

वह वस्तु जो कभी साधारण जन को भी प्राप्त हो सकती थी, अब उन महान् पुरूषों की भी पहुँच के बाहर है जो इस विलक्षणता को देखकर मन ही मन गुप्तरूप से हँसते हैं और आश्चर्य चकित हो उठते हैं ॥ ९१५ ॥

महान् पुरूष किसी वस्तु को प्राप्त करने पर दूसरे सुजनों को इस आशय से दिखाते हैं कि उन्हें आशातीत सफलता मिली है मानो उन्होंने मोम के अन्दर रखे हुए महामणि का प्रतिबिम्ब देख लिया हो ॥ ९१६ ॥

दुष्ट लोगनीचों की संगति में सुख का अनुभव करते हैं जबकि सज्जन लोग अपने में ही मस्त रहते हैं। यह भी कलियुग की लीला है कि जो काँच धारण करने वाले थे उन्हें अब रत्न ही सुलभ हो गये हैं ॥ ९१७ ॥

उन सत्पुरूषों को दरिद्र कैसे कहा जा सकता है जो धन को स्थान-स्थान पर व्यय करते रहते हैं जबकि कृपण का धन एक बार

पक्का उण किविण-सिरी गआ अ मूलं च पम्हुसिअं ॥ ९१८ ॥
किविणाण अण्ण-विसए दाण-गुणे अहिसलाहमाणाण ।
णिअ-चाए उच्छाहो ण णाम कह वा ण लज्जा वि ॥ ९१९ ॥
परिहोअ-सहा णववहु व्व ताण णव-संगमालसा लच्छी ।
इअरा लहिऊण सिरिं ण काम-लीला-परा तेण ॥ ९२० ॥
अच्छंतिच्चिअ किविणा अछिवंता पास-गोअरं लच्छिं ।
परिहारवइं व पियं मइल-च्छायं णिअच्छंता ॥ ९२१ ॥
परमत्थ-पाविअ-गुणा गरुअं पि हु पलहुअं व मण्णंति ।
तेण सिरीएँ विरोहो पुणेहिँ णिक्कारणं ण उण ॥ ९२२ ॥
भुमआ-भंगाणत्ता वि सुवुरिसं जं ण तुरिअमल्लिअइ ।

जहाँ कहीं भी व्यय हो गया तो वह जड़-मूल से लुप्त हो जाता है ॥ ६१८ ॥

अन्यों की दानशीलता की प्रशंसा करते हुए कृपणों के मन में ऐसा उत्साह नहीं होता है कि वे अपने धन का त्याग (दान) करें और उनको लज्जा भी नहीं आती है। (कि अन्य जब दान कर रहे हैं तब वे बैठे हैं) ॥ ६१६ ॥

कृपण की लक्ष्मी तो उस नवविवाहिता युवती की भाँति है जिसका प्रथम बार उपभोग करने में वे हिचकते हैं यद्यपि वह उन्हें भोग का पूर्ण आनन्द प्रदान करने में समर्थ रहतीं है, इसीलिए दूसरे भी उसका सुलभ सान्निध्य पाकर भी उसकी प्रणयलीला का सुख नहीं प्राप्त कर सकते हैं ॥ ६२० ॥

कृपण जन अपने बगल में बैठी हुई लक्ष्मी का स्पर्श न करके दूर ही रहते हैं। वे उसे ऋतुमती अवस्था में मलिन समझकर मात्र देखते रहते हैं ॥ ६२१ ॥

जो लोग परमार्थ गुण सम्पन्न हैं वे लक्ष्मी को अत्यन्त तुच्छातितुच्छः मानते हैं इसलिए उनकी यह घृणा अथवा यह विरोध अकारण नहीं है ॥ ६२२ ॥

वह लक्ष्मी उस महान् पुरुष से मिलने के लिए आतुर नहीं

तं मण्णे धावंती रहसेण सिरी परिक्खलइ ॥ ९२३ ॥

णणु णासमणवलंबा एइच्चिअ सा वि सुवुरिसाभावे ।
देव्व-वसा तेण सिरीएँ होइ णासंसिओ विरहो ॥ ९२४ ॥

धम्म-पसूआ कह होउ भअवई वेस-सज्जणा लच्छी ।
ताओ अलच्छिओच्चिअ लच्छि-णिहा जा अणज्जेसु ॥ ९२५ ॥

जा विउला जाओ चिरं जा परिहोडज्जलाओ लच्छीओ ।
आआरधराणंचिअ ताओ ण उणो अ इअराण ॥ ९२६ ॥

अवणेइ देइ अ गुणे दोसे णूमेइ देइ अ पआसं ।
दीसइ एस विरुद्धो व्व को वि लच्छीएँ विण्णासो ॥ ९२७ ॥
समरे धारा-गोअरमुवेंति जे वइरि-मंडलग्गाण ।

होती है, यद्यपि वह उसे अपने इशारे पर नचाता है। इस प्रकार मैं समझता हूँ कि उसके पास प्रेम से दौड़ती हुई वह लक्ष्मी प्रायः स्खलिता हो जाती है ॥ ९२३ ॥

सत्पुरूषों के अभाव में निराश्रिता लक्ष्मी नष्ट हो जाती है। दुर्भाग्यवश लक्ष्मी की यह दुर्दशा सचमुच पीड़ादायिनी होती है ॥ ९२४ ॥

धर्म प्रसूता लक्ष्मी सज्जनों के प्रति द्वेषशीला कैसे हो सकती है वस्तुतः वह अलक्ष्मी है जो सज्जनों के प्रति द्वेषशीला होती है भले ही अनार्यों के लिए वह लक्ष्मी-सी दिखे ॥ ९२५ ॥

वे लक्ष्मियाँ, जो अधिक मात्रा में हैं और जिनका निरन्तर सुख-भोग चलता रहता है, केवल पवित्र जनों के पास जाती है कृपणों के पास नहीं ॥ ९२६ ॥

वह मनुष्यों के दुःख दूर करती है, उनमें गुणों का संचार करती है, उनकी त्रुटियों को छिपाकर लोगों की दृष्टि में उनका माहात्म्य उजागिर करती है। विलक्षणता का यह विन्यास प्रायः विलोम-सा ही लगता है, परन्तु यह लक्ष्मी के हो प्रसंग में देखा गया है ॥ ९२७ ॥

वे शूरवीर, जो रण-क्षेत्र में वैरियों की तीक्ष्ण खड्गधार का

ते तम्मि बला खलु णिवसिरीएँ लच्छीएँ छिप्पंति ॥ ९२८ ॥

अप्फोडणाहिघाअ-च्छलेण चिरमेक्क-भुअ-कआसंघा ।
विणिवारेंति व वीअं भुअं पि दप्पेण सप्पुरिसा ॥ ९२९ ॥

अण्णोण्णं लच्छिघुणाण णूण पिसुणा गुणच्चिअ ण लच्छी ।
लच्छी अहिलेइ गुणे लच्छि ण उणो गुणा जेण ॥ ९३० ॥

लच्छी-लआएँ मूलं गुणत्ति एअं परिट्ठिअंचेअ ।
जेण अहो गमणंचेअ ताण परिवड्ढणे तीए ॥ ९३१ ॥

अयसं दाऊण विसंठुलाण सज्झस-विसूरिअव्वाण ।
पढमंचिअ जीएँ पआइं महुमहेच्चेअ खलिआइं ॥ ९३२ ॥

सा चडुला कह णु गुणुज्जलेसु लच्छी अकूणिअं कुणउ ।

सामना करते हैं, लक्ष्मी की कृपा प्राप्त करते हैं और वह उनके साथ रहने के लिए विवश हो जाती है ॥ ९२८ ॥

सत्पुरूष, जो दीर्घकालीन अभ्यासवश केवल दाहिनी भुजा से ही सभी अनिष्टों का निवारण करते रहते हैं, अपने दर्प से दूसरी भुजा को पीछे ही रखते हैं ॥ ९२९ ॥

लक्ष्मी और गुण में मेरे विचार से गुण ही दुष्ट हैं लक्ष्मी नहीं। क्योंकि लक्ष्मी तो गुणों को समाहित कर लेती हैं जबकि गुण लक्ष्मी के प्रति द्वेष भाव रखते हैं ॥ ९३० ॥

लक्ष्मी रूपी लता के मूल कारण गुण ही होते हैं, यह तथ्य सर्वथा सुनिश्चित माना जाता है क्योंकि लक्ष्मी लता के समृद्धि शाली विकास के पीछे इन्हीं गुणों का योग देखा गया है ॥ ९३१ ॥

वह लक्ष्मी उस समय भी अशान्त तथा भयभीत होकर मधुदैत्य के संहारक भगवान् विष्णु के पार्श्व में ही सर्वप्रथम अपने चरण जमा पाई थी ॥ ९३२ ॥

वह वराकी-चपला लक्ष्मी किस प्रकार गुणियों के समक्ष अपनी

चिरआलोसिअ-पाआल-तिमिर-संवाहिअं दिट्ठिं ॥ ९३३ ॥

जीएँ समारंभेच्चिअ अच्छी पढम-ट्ठिआ त्ति विवलाइ ।
अण्णा तीएच्चिअ पत्थणाएँ कह णाम संघडइ ॥ ९३४ ॥

दुक्खाभावो ण सुहं ताइँ वि ण सुहाइँ जाइँ सोक्खाइं ।
मोत्तूण सुहाइँ सुहाइँ जाइँ ताइँच्चिअ सुहाइं ॥ ९३५ ॥

सुह-संग-गारवेच्चिअ हवंति दुक्खाइँ दारुणअराइं ।
आलोउक्करिसेच्चिअ च्छाया वहलत्तणमुवेइ ॥ ९३६ ॥

सुह-संगो सुह-विणिवत्तिएक्क-चित्ताण अविरअं फुरइ ।
अंगुलि-पिहिआण रवो अव्वोच्छिण्णो व्व कण्णाण ॥ ९३७ ॥

दूमिज्जंताइं वि सुहमुवेंति गरुआण णिअअ-दुक्खेहिं ।

आँखें खोल सकती है क्योंकि चिरकाल तक पाताल लोक के घोर अन्धकार में उसकी दृष्टि संकुचित हो चुकी है ६३३ ॥

जिन नये धनवानों के द्वारा आयोजित लक्ष्मी के प्रदर्शन के कारण उनकी हाल में आयी हुई लक्ष्मी पलायित हो जाती हैं तो पुनः प्रार्थना की जाने पर भी वह बिचारी उनके पास कैसे आये ॥ ६३४ ॥

दुःख का अभाव सुख नहीं है और साँसारिक आनन्द भी सुख नहीं देते हैं। वस्तुतः इन्द्रियसुखों से मुक्ति ही सुख कहा जाता है ॥ ६३५ ॥

सुख के प्रति आसक्ति ही दारूण दुःख बन जाता है क्योंकि घने आलोफ का उत्कर्ष ही घनी छाया बनती है ॥ ६३६ ॥

हृयद में सुख के विनिवर्त्तन के बाद भी उसके प्रति आसक्ति अन्दर-अन्दर स्फुरित होतो रहती है। जैसे कि उँगलो कान में डालने पर भी ध्वनि सुनाई पड़ती रहती है ॥ ६३७ ॥

अपने कष्टों से बारम्बार प्रताड़ित होते हुए भी सत्पुरूष उसो

रस-बंधेहिँ कईण व विइण्ण-करुणाइं हिअआइं ॥ ९३८ ॥

अण्णण्णाइँ उवेंता संसार-वहम्मि णिरवसाणम्मि ।
मण्णंति धीर-हिअआ वसइ-ट्ठाणाइँ व कुलाइं ॥ ९३९ ॥

ससिएहिंचिअ लोओ दुक्खं लहुएइ दुक्ख-जणिएहिं ।
आयास-कएहिँ करी आयासं सीअरेहिं व ॥ ९४० ॥

पहरिस-मिसेण बाहो जं बंधु-समागमे समुत्तरइ ।
वोच्छेअ-काअराइं तं णूण गलंति हिअआइं ॥ ९४१ ॥

मूढ सिढिलत्तणं ते सणेह-वासेण कह णु बद्धस्स ।
बाढं गाढअराअइ जो इर मोत्तुं तणंतस्स ॥ ९४२ ॥

होऊण वि हंत णिरंतराइँ दूरंतराइँ जाअंति ।

प्रकार सुख का अनुभव करते हैं जैसे कवि-हृदय रसवन्ध भावना में करूणा की अभिव्यञ्जना में ॥ ९३८ ॥

उच्चाशय तथा उदात्त हृदय पुरूष अपने कुल को मात्र अस्थायी विश्राम स्थल को भाँति समझते हैं जिसमें कि आत्मा की अनन्तता की भाँति एक के पश्चात् दूसरे आते ही रहते हैं ॥ ९३९ ॥

साधारण लोग अपनी व्यथा को कष्ट से उत्पन्न निःश्वासों से वैसे ही हल्की कर लेते हैं जैसे हाथी जल सीकर के फूत्कार से अपना श्रम दूर करते हैं ॥ ९४० ॥

प्रहर्ष के बहाने से जो बन्धु से समागम होने पर अश्रु गिरते हैं वे मानों वियोग के प्रति कातर हृदय का द्रव ही है ॥ ९४१ ॥

अरे मूर्ख ! भला कहीं स्नेह के सुदृढ़ बन्धन से भी मुक्ति मिली है वरन् होता यह है कि तुम जैसे-जैसे उस प्रेम बन्धन से छूटने का प्रयास करोगे वैसे-वैसे वह और दृढ़ होता जायेगा ॥ ९४२ ॥

सभी प्रजार का भेद-भाव तथा अन्य दूरियों के समाप्त होने पर लोगों में जो प्रेम मिलन होता है वह बहुत दूर रहने पर भी

उम्मोइअ-रसणंतोवमाइं घडिआइं लोअस्स ॥ ९४३ ॥
पढमं ण गुणा गुण-हेउणो परं ते तओ सह गुणेहिं ।
संपइ ताण गुणच्चेअ णवर हा ते उण ण संति ॥ ९४४ ॥
कालवसा णासमुवागअस्स सप्पुरिस-जस-सरीरस्स ।
अट्ठि-लवाअंति कहिं पि विरल-विरला गुणुग्गारा ॥ ९४५ ॥
थिर-वासणा-समुत्था दोसा बंधाय णीअ-चरिआण ।
सप्पुरिसाणं च गुणा मोहाय ण झत्ति विरमंति ॥ ९४६ ॥
एस विराओ हिअअं जं रमइ जहागएसु विहवेसु ।
णिब्भच्छणं तु लच्छीएँ णवर थिर-मच्छरो राओ ॥ ९४७ ॥

इस प्रकार निकट लगता है जैसे ढीले होने पर भी कटिसूत्र के दोनों सिरे एक-दूसरे से सटे रहते हैं ॥ ९४३ ॥

वस्तुतः जीवन के प्रथम चरण में न कोई गुण रहता है और न गुण के मूल हेतु ही दिखाई पड़ते हैं परन्तु कालान्तर में गुणों के साथ उनके हेतु भी प्रकट होने लगते हैं और फिर मात्र गुण ही शेष रह जाते हैं। खेद की बात है कि कुछ समय के पश्चात् वे भी समाप्त हो जाते हैं ॥ ९४४ ॥

काल के वशीभूत होने के कारण सत्पुरूषों का यशः शरीर भी नाश को प्राप्त हो जाता है और जैसे मृत्यु के पश्चात् मानव देह की अस्थियाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी रहती हैं उसी प्रकार उसके यश-गौरव की गुण-गाथा कभी-कभी लोगों के स्मृति पटल पर टकराती है ॥ ९४५ ॥

नीचों के मन में स्थायी रूप से उठने वाली कुत्सित वासनायें उनके आचरण के बन्धन का कार्य करती हैं परन्तु सत्पुरूषों के गुण लोभ-मोह में न पड़कर शीघ्र ही उनसे विरक्त हो जाते हैं ॥९४६॥

उनके हृदय का यही विरक्त भाव है कि वे वैभव की प्राप्ति पर उसमें रमते नहीं हैं। लक्ष्मी के प्रति उनकी इस विरक्ति तथा भर्त्सना से उन लोगों को बड़ी ईर्ष्या होती है जो वैभव के पीछे उन्मत्त हैं ॥ ९४७ ॥

सोच्चेअ किं ण राओ मोत्तूण बहु-च्छलाइँ गेहाइं ।
पुरिसा रमंति वद्धुज्झरेसु जं काणणंतेसु ॥ ९४८ ॥

किं व सरूव-वरोच्चिअ सेवा-णिंदा-वरो व्व अह मग्गो ।
जं महइ विंझ-वण-गोअराण लोओ पुलिंदाण ॥ ९४९ ॥

सरिआओ अणेअ-विहंगमाओ तल-णिम्मलाइँ अ वणाइं ।
माअंग-कलह-मुहला गिरिणो अ रइं विरह्लंति ॥ ९५० ॥

सीलेण जइ वि विमलो तह वि हु मा दुग्गअं जणं छिवसु ।
कालंतर-णिव्वडिअं वसइच्चिअ मंगुलं तम्मि ॥ ९५१ ॥

को तेसु दुग्गआणं गुणेसु अण्णो कआअरो होइ ।
अप्पा वि णाम णिव्वेअ-विमुहअं जेसु जावेइ ॥ ९५२ ॥

क्या इसे आनन्द की संज्ञा नहीं दी जा सकती कि लोग गृहस्थ जीवन के छल-प्रपञ्च-घात-प्रतिघात से अलग हट कर निर्जन वन में निर्झरों के समीप रमे रहते हैं ? ॥ ९४८ ॥

अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यह भी तो अपना-अपना स्वभाव हो है या जीवन का यह भो सेवा मार्ग है जब कि लोग विन्ध्यगिरि की गुफाओं में रहने वाले आदिवासियों की प्रशंसा करते देखे गये हैं ॥ ९४९ ॥

उन आदिवासियों को तो पर्वत से उतरती-कल्लोल करती नदियाँ, स्वच्छ धरातलयुक्त वन और चिग्घाड़ते मत्त गजों के कलह अत्यन्त आनन्द का अवसर प्रदान करते हैं ॥ ९५० ॥

यद्यपि इस समय उसका शील व्यवहार निर्मल है तथापि दुर्गति में पड़े होने के कारण उसे मत छुओ । क्योंकि पूर्वकृत अनिष्ट तो उसमें वर्तमान है ही तभी तो दरिद्र है ॥ ९५१ ॥

दुर्गति में पड़े हुए लोगों के गुणों का भला दूसरा कोई क्या आदर करे जबकि उनकी अपनी आत्मा ही उलकी इस दशा को देखकर विमुख रहती है ॥ ९५२ ॥

हरइ परिहीण-विहवस्स णूण णिअ-पणइणी वि अप्पाणं ।
सव्वंगमसंपुण्णस्स घडइ किं जामिणी ससिणो ॥ ९५३ ॥

हिअअ कहिं पि णिसम्मसु किंत्तिअमासाहओ किलिम्मिहिसि ।
दीणो वि वरं एक्कस्स ण उण सअलाएँ पुहवीए ॥ ९५४ ॥

अच्छउ ता विहलुद्धरणगारवं कत्थ तं अगरुएसु ।
अप्पाणअस्स वि पियं इअरा काउं ण पारंति ॥ ९५५ ॥

गाढ-मअ-मूढ-हिअआ लहिऊण धणं गुणं व जं किं पि ।
कह ते भरिहिंति परं अप्पा वि हु जाण पम्हुसइ ॥ ९५६ ॥

जह परिअथम्मि लोओ तह भुज्जंतो वि दुक्करं को वि ।
पाणि-सिसिराइं पाणम्मि अण्णहा होंति सलिलाइं ॥ ९५७ ॥

वस्तुतः जो मनुष्य अपनी सम्पदा खो बैठता है उसे उसकी अपनीं ही प्रेयसी त्याग देती है। रात्रि कभी खण्ड चन्द्र का साथ दे सकती ? ॥ ९५३ ॥

अरे हृदय ! कहीं तो शान्ति प्राप्त करो। इस प्रकार निराश होकर तुम कब तक स्वयं को कोसोगे ? अरे, विचार तो करो, यह कष्ट केवल एक के लिए ही नहीं है वरन सारे संसार के लिए है ॥ ९५४ ॥

विह्वलों के उद्धार की ये लम्बी-चौड़ी बातें बन्द करो। भला इस प्रकार के लघु हृदय वालों के लिए यह कैसे सम्भव है ? जबकि ये लोग स्वयं अपना कल्याण करने में सर्वथा असमर्थ हैं ॥ ९५५ ॥

जिन्होंने किसी प्रकार वैभव प्राप्त कर लिया है और कुछ गुणवान् भी हैं भला वे मूढहृदय दूसरों को क्या स्मरण करेंगे जबकि उन्हें अपनी ही सुध नहीं है ? ॥ ९५६ ॥

क्योंकि प्रथम परिचय तथा तदन्तर साथ हो जाने पर भी लोगों का व्यवहार उसी प्रकार दुष्कर दिखता है जैसे पाणिगत जल शीतल होते हुए भी वीते समय बदल जाता है ॥ ९५७ ॥

भूरि-गुणा विरलच्चिअ एक्क-गुणो वि हु जणो ण सव्वत्थ ।
णिद्दोसाण वि भद्दं पसंसिमो विरल-दोसं पि ॥ ९५८ ॥
सामण्ण-सुंदरीणं विब्भममावहइ अविणओच्चेअ ।
धूमोच्चिअ पज्जलिआहि बहुमओ सुरहि-दारूण ॥ ९५९ ॥
थोवागअ-दोसच्चिअ ववहार-वहम्मि होंति सप्पुरिसा ।
इहरा णीसामण्णेहिँ तेहिँ कह संगअं होइ ॥ ९६० ॥
उक्करिसोच्चेअ ण जाण ताण को वा गुणाण गुण-भावो ।
सो वा पर-सुचरिअ-लंघणेण ण गुणत्तणं तह वि ॥ ९६१ ॥
णवरं दोसा तेच्चेअ जे मअस्स वि जणस्स सुव्वंति ।
णज्जंति जिअंतस्स वि जे णवर गुणा वि तेच्चेअ ॥ ९६२ ॥

विविध गुणों वाले विरले ही होते हैं यहाँ तक कि एक ही अद्वितीय गुणवाला व्यक्ति भी सर्वत्र नहीं मिल सकता है। यदि कोई ऐसा भी दिखाई पड़ जाए जो निर्गुण होते हुए भी दोष रहित है तो इसे सौभाग्य की बात समझना चहिए। वस्तुतः हमें ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा करनी चाहिए जिसमें कदाचित् ही कोई दोष हो ॥ ९५८ ॥

सामान्य सुन्दरियों का अविनीत व्यवहार भ्रमोत्पादक होते हुए भी सुन्दर दिखता है जैसे धूप-गन्धादि की ज्वाला से उसका धूम ही अच्छा माना जाता है ॥ ९५९ ॥

व्यवहार क्षेत्र में थोड़ा-बहुत दोष भी लोगों को सत्पुरूष बना देता है अन्यथा सब तरह के गुणयुक्तों के साथ उनकी संगती कौन हो सकता है ? ॥ ९६० ॥

जिनका उत्कर्ष न हो सके उनके अन्दर गुणों के रहने का ही क्या उपयोग है ? लगता है उनमें इसलिए उत्कर्ष संभव नहीं कि उनके गुण औरों के उत्तम कार्यों से ढंक जाता है ॥ ९६१ ॥

वस्तुतः असली दोष तो वे हैं जो मनुष्य के मरने के बाद भी सुने जाते हैं और वे ही वास्तविक गुण हैं जो उसके जीवनकाल में ही सराहे जाते हैं ॥ ९६२ ॥

ववहारेच्चिअ छायं णिएह लोअस्स किं व हिअएण ।
तउग्गमो मणीण वि जो वाहिं सो ण भंगम्मि ॥ ९६३ ॥

सम-गुण-दोसा दोसेक्क-दंसिणो संति दोस-गुण-वामा ।
गुण-दोस-वेइणो णत्थि जे उ गेण्हंति गुणमेत्तं ॥ ९६४ ॥
दीसइ सामाअंतो व्व को वि हिअएण णिम्मलो तह वि ।
हरिअंचिअ चूअ-फलं गअं च परिणाम-परमत्थं ॥ ९६५ ॥
दीसंत-णिम्मलो जइ वि को वि कज्जेण णासमो तह वि ।
पिंगं पि केसरं कुंकुमस्स राएण सामण्णं ॥ ९६६ ॥
सच्चविआसअल-गुणं पि सज्जणं सुवुरिसा पसंसंति ।
पडिबंध-णूमिअद्धं को वा रअणं विआरेइ ॥ ९६७ ॥

खुलकर किये गये व्यवहार से ही लोगों की पहचान होती है उनके हृदय में क्या है ? इससे क्या प्रयोजन ? क्योंकि जब मणि की प्रभा बाहर से मालूम पड़ जाती है तो उसे तोड़कर अन्दर देखने से क्या लाभ ? ॥ ९६३ ॥

इस संसार में कुछ लोग ऐसे हैं जो गुण और दोष को समान समझते हैं, कुछ केवल दोष देखते हैं तो कुछ दोष और गुण दोनों के विरूद्ध रह ते हैं किन्तु ऐसा शायद ही कोई होगा जो गुण-दोष की परख करके केवक गुणों को ही ग्रहण करता हो ॥ ९६४ ॥

कोई तो ऐसा है कि व्यवहार में अत्यन्त कुटिल है परन्तु उसका हृदय अति निर्मल है। आम्रफल का हरापन ही अन्ततः परिपक्वता को प्राप्त होता है ॥ ९६५ ॥

कोई मनुष्य देखने में निर्मल और पवित्र है तो उसके कार्य-स्वभाव में भी उसी प्रकार निर्मलता दिखती है जैसे लाल-पीली केसर की सुगन्ध भी तदनुकूल ही रहती है ॥ ९६६ ॥

सत्पुरूष तो उस सुजन की भी प्रशंसा करते हैं जिसके गुणों को उन्होंने ठीक से देखा भी नहीं है। भला कौन ऐसा होगा जो जड़े हुए रत्न की प्रभा देखते हुए भी उसे तोड़कर उसके अन्दर का अर्धांश जानने की चेष्टा करेगा ? ॥ ९६७ ॥

सोहइ अदोस-भावो गुणो व्व जइ होइ मच्छरुत्तिण्णो ।
विहवेसुं व गुणेसु वि दूमेइ ठिओ अहंकारो ॥ ९६८ ॥
जेण गुणग्घविआण वि ण गारवं धण-लवेण रहिआण ।
तेण विहवाण णमिमो तेणंचिअ होउ विहवेहिं ॥ ९६९ ॥
दविणोवआर-तुच्छा वि सज्जणा एत्तिएण धीरेंति ।
जं ते णिअ-गुण-लेसेहिँ देंति काणं पि परिओसं ॥ ९७० ॥
दूमंति सज्जणाणं पम्हुसिअ-दसाण तोस-कालम्मि ।
दाणाअर-संभम-दिट्ठ-पास-सुण्णाइँ विलिआइं ॥ ९७१ ॥
सइ जाढर-चिंताअड्ढिअं व हिअअं अहो-मुहं जाण ।
उद्धुर-चित्ता कह णाम होंतु ते सुण्ण-ववसाया ॥ ९७२ ॥

दोष रहित गुण भी तभी शोभा देता है जब वह ईर्ष्या से ऊपर उठ चुका हो क्योंकि गुणाधिक्य का अहंभाव कष्टदायक होता है ॥ ६६८ ॥

उत्तम गुणों से सम्पन्न होते हुए भी धनहीन व्यक्ति का आदर नहीं होता है क्योंकि हम लोग वैभव के प्रतिश्रद्धा व्यक्त करते हैं, इसीलिए वैभव ही प्रधान है ॥ ६६६ ॥

द्रव्य से अन्यों का यथेष्ट स्वागत-सत्कार करने में हीन होने पर भी सज्जन इस बात से धीरज-धारण करते हैं कि वे कम से कम अपने गुणों के किसी अंश से किसी को भी परितोष दे ही सकते हैं ॥ ६७० ॥

सत्पुरूषों के लिए वे क्षण लज्जास्पद हो जाते हैं जब वे अपनी वर्त्तमान निर्धनता का ध्यान न कर किसी को कुछ देने की इच्छा तो करते हैं किन्तु हाथ खाली होने से व्यथित हो उठते हैं ॥ ६७१ ॥

ऐसे लोग, जिनका हृदय उदर चिन्ता से विक्षिप्त हो और जो सदा अधोमुख ही पड़े हों, किस प्रकार अपने मानस में उच्च कार्यों की कल्पना कर सकते हैं जो इस समय शून्य व्यवसाय हो चुके हैं ? ॥ ६७२ ॥

दिण्णं पुरा जहिच्छं तओ अ दें तेहिं संठिअमभावा ।
गहिअं च पराहिंतो तओ अ ओ लोह-पणएण ॥ ९७३ ॥

लोए अमुणिअ-सारत्तणेण खणमेत्तमुव्विअंताण ।
णिअअ-विवेअ-ट्ठविआ गरुआण गुणा पअट्टंति ॥ ९७४ ॥

गेण्हउ विहवं अवणेउ णाम लीलावहे वय-विलासे ।
दूमेइ कह णु देव्वो गुण-परिउट्ठाइं हिअआइं ॥ ९७५ ॥

अघडिअ-परावलंबा जह जह गरुअत्तणेण विहडंति ।
तह तह गरुआण हवंति बद्ध-मूलाओ किती ॥ ९७६ ॥

आगम-लंभे वय-परिणइएँ भंगेसु धण-विलासाण ।

प्रथम तो सामर्थ्य के अनुसार दान करके हम अपने हृदय में तृप्ति का अनुभव करते हैं और बाद में भी धन की समाप्ति तक ऐसा ही करते रहते हैं परन्तु निर्धन होने पर हम लोभ-वश औरों से कुछ न कुछ प्राप्ति की इच्छा करने लगते हैं, यही बिडम्बना खल जाती है ॥ ६७३ ॥

जो महान् पुरूष कुछ समय के लिए यह समझकर विचलित हो उठते हैं कि लोग उनके गुणों का मूल्य नहीं समझ पा रहे हैं उनके अपने निश्चय के कारण उनके गुणों में वही गरिमा आ जाती है जो पहले थी ॥ ६७४ ॥

अरे दुर्भाग्य ! जो भी वैभव है उसे ले लो और उसका जो चाहो सो करो परन्तु व्यर्थ शीलता के आनन्द का भी अपहरण कर ले । परन्तु यह तो तय है कि जिस हृदय को गुणों से आनन्द मिल रहा है उस पर निर्धनता का रञ्चमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ सकता है ॥ ६७५ ॥

जितना ही वे सत्पुरूष, जो कभी भी पराश्रित नहीं रहे हैं, लोगों से दूर होते जायेंगे, उतना ही उनका यश जड़ पकड़ता जायेगा ॥ ६७६ ॥

शास्त्र-ज्ञान तथा वयोवृद्धता के अनुभव होते हुए भी धन-क्षय

थोवमसमंजसाइं वि हिअआइं वहंति परिणामं ॥ ९७७ ॥

ण सहंति णिअ-गुणा इर पुरओ गरुआण इअ विइंतंता ।
णीआहिगमे लहुआ गुणाण मावंचिअ हरंति ॥ ९७८ ॥

असलाहणे खलुच्चिअ अलिअ-पसंसाएँ दुज्जणो विउणं ।
अपवत्त-गुणे सुअणो दुहा वि पिसुणत्तणं लहइ ॥ ९७९ ॥

अप्पाण-णिव्विसेसो त्ति एस मे जं पि भणइ णेहेण ।
तं पि खलो अत्थ-गईएँ ठवइ पिसुणत्तणेच्चेअ ॥ ९८० ॥

उवरिमहो अ धरंतेहिं कव्व-कणउज्जले अलंकारे ।
सीसइ सार-विसेसो विज्जा-विहवाण सवणेहिं ॥ ९८१ ॥

से परिणामतः हृदय में कुछ न कुछ असमंजस तो उत्पन्न हो ही जाता है ॥ ६७७ ॥

छोटे लोग, यह सोचकर कि उनके गुणों की उत्तम जनों की तुलना में कोई गिनती ही नहीं हो सकती, अपने दुर्भाग्य को कोसते हुए अपने गुणों का अस्तित्व ही समाप्त कर लेते हैं ॥६७८॥

जिस प्रकार दुष्ट व्यक्ति अपनी अयोग्यता की मिथ्या प्रशंसा में और भी दुष्ट बन जाता है ठीक उसी प्रकार गुण हीन की मिथ्या प्रशंसा के कारण सत्पुरूष भी दुष्ट चाटुकार का रूप धारण कर लेता है ॥ ६७६ ॥

"वह मुझसे किसी प्रकार भिन्न नहीं है" इस प्रकार के शब्द जिस किसी के लिए जब वह स्नेह से कहता है तब वह भी उसी दुष्ट की कोटि में आ जाता है ॥ ६८० ॥

योग्यता की बहुमूल्य अद्वितीय विलक्षता जिनमें होती है उनके कान ऊपर-नीचे काव्यरूपो स्वर्णाभूषण से निरन्तर परिचित होते हैं ॥ ६८१ ॥

ण सिरी चला महग्घेसु ते ण तेच्चेअ सा वि जं मुअइ ।
ते उण ते तंचिअ जइ मुअंति इह तीएँ को दोसो ॥ ९८२ ॥

तण्हा अखंडिअच्चिअ विहवे अच्चुण्णए वि लहिऊण ।
सेलं पि समारुहिऊण किं व गअणस्स आरूढं ॥ ९८३ ॥

पुरओ सिरीएँ पिय-पंकआएँ कमलाअरं पिव रअंति ।
मण्णे किविणा पहुणो पणाम-घडिअंजलि-मिसेण ॥ ९८४ ॥

कुसुम-फलोसारिअ-पाअवेहिँ विणिअत्त-सउण-पणएहिँ ।
तं किर ण मअंचिअ महिहरेहिँ जलहिं विसंतेहिं ॥ ९८५ ॥

सोवाए सुह-दुक्खागमम्मि आरंभिणो फलमइंति ।

जो सत्पुरूप अपने गुणों के कारण आदरणीय हो जाते हैं। चंचलता होने पर भी लक्ष्मी उनकी सेवा में प्रस्तुत रहती है। अब यदि वे लोग ही लक्ष्मी की उपेक्षा कर दें तो उस बिचारी का क्या दोष है॥ ६८२ ॥

जिनकी तृष्णा असीम है उनके अति उन्नत वैभव प्राप्त करने से भी क्या, शैल शिखर पर समारूढ़ व्यक्ति भी भला गगन के किस अंश पर आरूढ़ हो पाता है? ॥ ६८३ ॥

मैं सोचता हूँ कि जो महाकृपण हैं, वे भी अपने हाथों को कमलदल की भाँति जोड़कर अत्यन्त श्रद्धा से लक्ष्मी की उपासना करते हुए इस प्रकार प्रतीत होते हैं मानो कमलप्रिय लक्ष्मी को पूजा हेतु कमल पुष्प अर्पित कर रहे हैं ॥ ६८४ ॥

क्या यह उन पर्वतों के लिए आत्महनन सदृश नहीं है? जिन्होंने उस समय स्वयं को सागर में डुबा दिया जब उन्हें पता लग गया कि उनके ऊपर उठे तरूओं के पुष्प समाप्त हो गये और उन पर कलरव करने वाले खग कब के उड़ गये हैं॥ ६८५ ॥

जब आनन्द प्राप्ति तथा कष्ट-निवृत्ति के उपाय होते हैं तो इस अभियान में वे ही सफल होते हैं जो अध्यवसायी हैं क्योंकि मात्र

चिंता-णह-कंडू-संभवम्मि विहिणो ण कंडुयणे ॥ ९८६ ॥
मोहाहिभवेण सिरिं चिर-वोलीणं विमग्गमाणाण ।
दूरीभवंतु आगंतुआआ कह मा समिद्धीओ ॥ ९८७ ॥
आआर-पेसलाण वि हवंति एमेअ विहि-णिओएण ।
विणिअत्तीओच्चिअ आवईआ मण्णे समहिलेत्ति ॥ ९८८ ॥
जम्मि अविसण्ण-हिअअत्तणेण ते गारवं वलग्गंति ।
तं विसममणुप्पेंतो गरुआण विही खलो होइ ॥ ९८९ ॥
हिअअस्स विणिव्ववणे इह लोएच्चिअ समप्पिअ-फलाए ।
वीअं पर-लोअ-फलं ण रण्ण-वसहीएँ सद्दिहिमो ॥ ९९० ॥

चिन्ता इच्छा से ही कार्य नहो बनता। भाग्य को भी श्रम चाहिए केवल नख से खुजलाना ही महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति नहीं कर सकता ॥ ९८६ ॥

धन-वैभव जो कभी आगन्तुक की भाँति आये थे, उन लोगों के पास से क्यों नहीं चला जाना चाहिए जो रात-दिन उस लक्ष्मी के ही चक्कर में पड़े रहते हैं जो उसकी घोर मोहासक्ति देखकर उन्हें छोड़ चुकी है ॥ ९८७ ॥

इसी प्रकार मेरे विचार से, विधि-व्यवस्था वश उत्तम व्यवहार वाले सत्पुरूष जन-जीवन से निवृत्त होने पर भी आपदाओं में घिर जाते हैं ॥ ९८८ ॥

विधि खल होता है क्योंकि वह उन सुजनों के ऊपर से विषम परिस्थितियों को भी नहीं हटाता है जिन्हें हृदय की दुर्बलता त्याग कर उन्होंने बड़े धैर्य से झेल लिया और महान् गौरव प्राप्त किया ॥ ९८९ ॥

हम इस पृथ्वी पर रहकर उसी फल में विश्वास करेंगे जिसमें शान्ति और निवृत्ति का अनुभव हो सके। इसके विपरीत हम अपनी निवृत्ति के जीवन काल के उस पवित्र तथा तप-त्याग से अर्जित बीज में विश्वास ही नहीं कर पाते हैं जो हमें परलोक में उत्तम फल देने में समर्थ है ॥ ९९० ॥

रमइ विहवी विसेसे थिइ-मेत्तं थोअ-वित्थरो महइ ।
मग्गइ सरीरमधणो रोई जीएच्चिअ कअत्थो ॥ ९९१ ॥

मूले णिबिडाअंता विरलुग्गारा तओ पसंगेसु ।
कालेण सउरिसाण वि कहाणुबंधा णिमिल्लंति ॥ ९९२ ॥

विरसाअंता बहलत्तणेण हिअए खलंति परिओहा ।
थोअ-विहवत्तणेणं सुहंभरप्पच्चिअ सुणंति ॥ ९९३ ॥
विरसम्मि वि पडिलग्गं ण तरिज्जइ कह वि जं णिवत्तेउं ।
हिअअस्स तस्स तरलत्तणम्मि मोहो इह जणस्स ॥ ९९४ ॥
हिअअम्मि गाढ-घडिएहिँ दो वि मण्णे समं उविज्जंति ।

धनी व्यक्ति अपने जीवन में विशेष सुखों का आनन्द उठाता है जबकि सीमित धन वाला स्थिरता की कामना करता है और दरिद्र व्यक्ति स्वस्थ रहना चाहता है तथा रोगी किसी प्रकार जीवित रहने की आकांक्षा करता है ॥ ६६१ ॥

प्रारम्भ में सत्पुरूषों के साथ वार्त्तालाव का आशय समझने में बड़ी कठिनाई होती है और कुछ समय के पश्चात् जब नैकट्य बढ़ जाता है तब उनके कथानुबन्ध का अर्थ समझ में आने लगता है ॥ ६६२ ॥

एक के पश्चात् दूसरे कई तथ्यों की बहुलता के कारण रसों की नीरसता व्याप्त होकर आनन्द को मन्द कर देती है और हृदय को स्खलित बना देती है। जिनके विभव सीमित हैं वे भरपूर आनन्द प्राप्त कर लेते हैं ॥ ६६३ ॥

किसी भी नीरस तत्त्व में आसक्त हृदय को बदलना संभव नहीं है। अतएव हृदय की परिवर्तन शीलता में लोगों का यह विश्वास मात्र व्यामोह है ॥ ६६४ ॥

अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार मनुष्य इस पृथ्वी पर सुखोपभोग की कामना करता हुआ इसलोक और परलोक को सुख के लिए यत्नशील तो रहता है परन्तु नवयुवतियों के हृदय पर

बुद्धीआ॑ उहय-लोअम्मुहीआ॑ जुवईण थणएहिं ॥ ९९५ ॥

पहरइ कह णु अणंगो कह णु हु विंधंति कोसुमा बाणा ।
इअ कामेच्चिअ अफुडे फुडाइं॑ तत्तो कह सुहाइं ॥ ९९६ ॥

हिअअस्स णिट्ठुरत्तणमिणमो किं संठवेहि महिलाण ।
अत्तो पयोहराणं वज्जंचिअ वसइ एआण ॥ ९९७ ॥

रमइ अ चरिए अप्फुल्लअम्मि खिज्जइ अ णिअअ-सीलेण ।
णिंदइ अ पर-सहावं सिहइ अ लोओ पर-गुणाण ॥ ९९८ ॥

मग्ग व्व दीह-धवला मण्णे चिहुरा जणस्स जाअंति ।
वोलंताण अणुदिणं जहागअं हिअअ-भावाण ॥ ९९९ ॥

कस कर बँधे हुए दोनों स्तनों के मोह के कारण उसका मनोरथ भग्न हो जाता है ॥ ६६५ ॥

जो अंगहीन है वह कामदेव किस प्रकार प्रहार कर सकता है? अथवा जिसके बाण ही पुष्प से बने हैं उससे वह किसी को कैसे क्षत-विक्षत कर सकता है? इस प्रकार जब वह प्रणय का देवता ही स्फुट नहीं है तो उससे लोगों को मौलिक आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ॥ ६६६ ॥

पता नहीं कैसे स्त्रियों के कोमल हृदय में ऐसी निष्ठुरता का जन्म हो जाता है। लगता है, यह उनके उन कठोर स्तनों का परिणाम है जो उनके हृदय के साथ निवास करते हैं ॥ ६६७ ॥

मनुष्य अपने हो कार्यों में आनन्द का अनुभव करता है और अपने ही शील-चरित्र से खिन्न भी हो जाता है। वह दूसरों के स्वभाव की निन्दा तो करता है परन्तु उनके गुणों को अपनाने की भी इच्छा रखता है ॥ ६६८ ॥

अवस्था के अनुसार मनुष्य के केश दीर्घ और धवल हो जाते हैं जो उसके अपने हृदय के भावों की परिणति है जो प्रतिक्षण उसी दिशा की ओर उन्मुख है जहाँ से वह आई थी ॥ ६६६ ॥

सव्वंगं विणिवेसो णईइ पलिएहिँ णूण दावेइ ।
आसण्णमिमम्मि जरा-करंक-भावं सरीरम्मि ॥ १००० ॥
सव्व-त्यामोणमिअं ओहुरमाअड्ढिअं वलि-लआहिं ।
धरणि-अलाहिमुहं पिव सरीरमिणमो जरी वहइ ॥ १००१ ॥
अंगेसु बिंदु-णिबिडा णिवडइ परिणाम-जज्जरिज्जंती ।
तिलअ-च्छलेण मण्णे कसण-च्छाय व्व चिहुराण ॥ १००२ ॥
गब्भुग्गम-लंघिअ-जोव्वणाण घरिणीएँ विमण-पिय-दिट्ठं ।
थणआण दुद्ध-धारा-णिहेण पलिअं व णिक्खमइ ॥ १००३ ॥
सअलं विराम-विरसत्तणेण दुक्खं सुहंचिअ ण णाम ।
दुक्खाभावो सोक्खं ण जेण ण हु तेण दुक्खं पि ॥ १००४ ॥

अवस्था पाकर मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर झुक जाता है और केशों की धवलता यह सिद्ध करती है कि वृद्धावस्था का शरीर मात्र भिक्षापात्र बनकर रह जाता है ।। १००० ।।

वृद्ध मनुष्य का शरीर सभी अंगों से झुक जाता है। उसकी त्वचा सिकुड़कर लटक जाती है और उसका मुखमण्डल इस अवस्था में पृथ्वी की ओर इस प्रकार लग जाता है मानो यही उसका अन्तिम वासस्थल है ।। १००१ ।।

उसके काले-घने केश वृद्धावस्था में उसके शरीर के विविध अंगों पर घनी बूँदों के रूप में इस प्रकार गिरते हैं मानो उसके शरीर के काले धब्बे हों ।। १००२ ।।

वृद्धावस्था के चिह्न-स्वरूप, जिस समय गृहिणी के दोनों स्तनों से धवलवर्णी दुग्ध धारा बहती जो अभी नवयौवन में गर्भाधान की अवस्था में निकला करती थी उसे देखकर उस गृहिणी के पति का मन कुंठित होकर खिन्नता का अनुभव करने लगता है ।।१००३।।

इस नीरसता के कारण इस समय सारा आकर्षण लुप्त होकर खिन्नता को जन्म दे देता है क्योंकि अब इसमें आनन्द का आधार ही नहीं बच गया है कारण कि दुःख का अभाव ही सुख है और इस समय यह तथाकथित सुख ही दुःख है ।। १००४ ।।

फुरइ अ फुडो अभावस्स एस भुवण-च्छलेण आआरो ।
आलोअण-णिव्वडिओ व्व णील-भावो णहअलस्स ॥ १००५ ॥

इअ विरसम्मिमं संसारभावसंताण वो फलममोल्लं ।
णिव्वडउ पावणाणं गुणाण पहुणो णिसमणेण ॥ १००६ ॥

अवि अ ।

आसा-गअ-दाणाअंत-कसण-कंठ-प्पहा-हओ लहइ ।
केसर-कलाव-करणिं सोच्चिअ सिढिलो जडा-णिवहो ॥१००७॥

वहइ मणि-किरण-रंजिअ-सीस-णिवेसिअ-फणा-समोसरिओ ।
भुअइंदो पट्ठि-पहोलि-रुद्ध-लंगूल-वेलंवं ॥ १००८ ॥

संसार का यह जो स्वरूप दिख रहा है वह मात्र अभाव की ही स्फुटता है शेष उसी प्रकार कुछ नहीं है जैसे देखने में आकाश नीला है, वैसे शून्य है ॥ १००५ ॥

इस प्रकार महाराज यशोवर्मा के पवित्र गुण-गौरव का वर्णन सुनकर लोग इस नश्वर जगत् में रहकर भी सौभाग्यशाली बनकर उत्तमफल प्राप्त करें ॥ १००६ ॥

[आगे के ५ कुलक पदों में कवि ने वर्णन किया है कि किस प्रकार महादेव ने राजा यशोवर्मा की शक्ति परीक्षा हेतु सिंह का रूप धारण किया ।]

दिग्गजों के मस्तक से झरते हुए दान के समान कृष्णवर्ण के कण्ठ की प्रभा से रञ्जित उनका जटाजूट ही केसर-कलाप (सिंह के घने बाल) हो गया ॥ १००७ ॥

मणि की प्रभा से रक्तवर्णी नागराज वासुकी का फण शिवजी के मस्तक पर विराजमान है और शरीर पीछे की ओर इस प्रकार लटक कर रहा है मानों सिंह की पूछ का रूप धारण किया हो ॥ १००८ ॥

ताओच्चिअ रहस-विसट्ट-वअण-कुहरोअराओ पावेंति ।
जालावली-विलासं उत्तंस-कवाल-मालाओ ॥ १००९ ॥

पडिमा-मग्गा सिर-ससिअलाएँ सच्चविअ-णह-मुहोइण्णा ।
तेच्चिअ हत्थेसु णहंकुसत्तणं एंति णितूण ॥ १०१० ॥

इअ तुलिउमहिलसंतेण जस्स बल-विब्भमं ति-णयणेण ।
भेसिअ-गोरि-मइंदं मइंद रूवेण परिणमिअं ॥ १०११ ॥

खुडिआ इमेण समरंगणेसु रिउ-वारणाण कर-दंडा ।
णासा-विमुक्क-जीहाह-रुहिर-धारा विसहर व्व ॥ १०१२ ॥

मह-धूम-लआ एअस्स सुचरिआहूअ-तिअस-णाहस्स ।
सुर-करिणो वहल-मअंबु-सामला सहइ सरणि व्व ॥ १०१३ ॥

शिव जी के कण्ठ में पड़ी हुई कपालमाला तथा उनकी मुखाकृतियों की भयंकरता सिंह के मस्तक के घुंघराले केश हो गये हैं ॥ १००६ ॥

उनके नख की कोरों से होकर निकलती हुई उनके मस्तक स्थित चन्द्रमा की प्रभा की छाया सिंह के चमकते पंजे हैं ॥१०१०॥

इव प्रकार राजा यशोवर्मा के प्रताप का अनुभावन करने के लिए त्रिनेत्र धारी शिव जी ने सिंह का रूप धारण कर लिया जिसे देखकर पार्वती का वाहन सिंह भी भयभीत हो गया ॥ १०११ ॥

राजा यशोवर्मा ने शत्रुओं के मत्तगजों का मस्तक समर भूमि में काट दिया जिससे अविरल रक्तधारा बहने लगी जो विषधरों की नाक से निकलती उनकी जिह्वाओं के समान प्रतीत होती है ॥ १०१२ ॥

राजा द्वारा सम्पादित महायज्ञों से निकलती लता के समान धूम्ररेखा सुरपति इन्द्र के ऐरावत गज की सूंढ़ से निकलती मदधारा के समान दिख रही है जो महाराजा के उत्तम कार्यों का परिणाम है ॥ १०१३ ॥

लहुईकआ वि गुण-गारवेण गरुआ वि णिअअ-कुल-उव्वा ।
अप्पाण-गारवेणं पुणो वि गुरुईकआ जेण ॥ १०१४ ॥
पहु-धम्म-बंधणे संठिअस्स विवरीअ-सासिअ-जअस्स ।
करुणा-णीसास-सहा सहंति संरंभ-भिउडीओ ॥ १०१५ ॥
अह वा ।
कुम्भाहिवेण दीसइ उण्णामिअ-संख-रअण-वलएण ।
तिअसाण संभमुग्गाहिअग्घ-वत्तो व्व सलिल-णिही ॥ १०१६ ॥
उम्मिल्लस्स वि चिर-आल-मुक्क-णीसास-सिढिल-देहस्स ।
पट्ठी पुणो तरंगेहिँ लंघिआ कमढ-णाहस्स ॥ १०१७ ॥

राजा यशोवर्मा के उत्तम गुणों के समक्ष उनके राजवंश के पूर्वज जो इस समय लघु लगने लगे थे पुनः इनके गुणों की महत्ता से महत्त्वपूर्ण हो गये ॥ १०१४ ॥

उसकी भृकुटि भंगिमा करूण निःश्वास सहने में समर्थ होती हुई अत्यन्त आकर्षक दिख रही है। यद्यपि उस समय राज्य शासन के कठोर नियमों के बन्धन थे तथापि वह अब उनके विरूद्ध प्रेम और सहानुभूति के साथ प्रजा पालन में तत्पर था ॥ १०१५ ॥

राजा यशोवर्मा स्वयं विष्णु के अवतार हैं क्योंकि उनके वक्षःस्थल पर लक्ष्मी निवास करती है जो कच्छपरूपी विष्णु को आधार बनाकर किये गये सागर मन्थन के अनन्तर प्रकट हुई थी। समुद्र मन्थन के उसी दृश्य का वर्णन आगे के २४ पदों में किया गया है—

मन्थन के समय क्षीरसागर की ऊपरी सतह पर शंख तथा नाना प्रकार के चमकते हुए रत्न उभर आये थे जिसको कूर्मावतारी विष्णु इस प्रकार देख रहे थे मानो देवों ने उनकी पूजा हेतु रजतपात्र में पूजन सामग्री का प्रबन्ध कर रखा है ॥ १०१६ ॥

कूर्माधिपति भगवान् का शरीर उस समय शिथिल हो उठा था और वे उनकी विशाल पीठ पर सागर की लहरें झेलने लगे जबकि चिरकाल से साँस लेने की फुर्सत नहीं थी अस्तु वे विश्राम कर रहे थे ॥ १०१७ ॥

दीसंति कुम्म-तुलिआ घण व्व पुणरुत्त-विज्जु-विप्फुरणा।
ऊसास-दिट्ठ-तंबिर-कंठ-च्छेआ महा-मीणा ॥ १०१८ ॥

पेच्छंति सुर-दइच्चा घडिअ-धरा-मग्ग-गोर-परिणाहं ।
पट्ठिं पेरंत-सहाव-सामलं कमढ-णाहस्स ॥ १०१९ ॥

कुम्म-ट्ठिअस्स दीसइ जलहिम्मि तरंग-भंगुर-णिवेसा ।
ण-पहुत्त-रसाअल-कुंचिअ व्व पडिमा महिहरस्स ॥ १०२० ॥

वलइअ-भुअंग-वलयाववीड-पुंजिअ-णमंत-साहग्गा ।
अग्गेहिँ सेल-घडिआ मूलेहिँ दलंति दुम-णिवहा ॥ १०२१ ॥

भुअआहिवस्स णिहसा झिज्जंति उरम्मि खर-हंतीओ ।

कच्छपराज अपनी पीठ पर उन बड़ी-बड़ी मछलियों को संभाले हुए थे जिनके कण्ठ का रक्तवर्णी भाग उनके हाँफनें पर दिखाई पड़ जाता था और इस समय घने मेघों के मध्य बार-बार चमकती बिजली जैसी लग रही थी ॥ १०१८ ॥

देवों दानवों ने भगवान् कच्छप की पीठ देखी जिसका वह भाग जिस पर मन्दराचल की निरन्तर रगड़ चल रही थी, उज्ज्वल हो गया था और शेष उसी प्रकार काला था जैसा पहले था ॥ १०१९ ॥

भगवान् की पीठ पर पड़ी मन्दराचल की छाया क्षीरसागर के ऊपर पड़ी हुई लहरों के कारण ऊपर-नीचे हो रही थी जिसे देखकर ऐसा लगता था मानो उस मन्दर के नीचे की नींव कम होने के कारण वह भगवान् की पीठ पर पूर्णरूप से जम नहीं पा रहा है, अस्तु हिल-डुल रहा है ॥ १०२० ॥

उस पर्वत पर स्थित वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग शेषनाग के शरीर से लपेटे जाने पर झुक गये थे और पर्वत के शिखर पर दृढ़ता के लिपटे नाग के कारण वे वृक्ष जड़ से उखड़ गये थे ॥ १०२१ ॥

शेषनाग के वक्ष पर तो पहले से ही पक्षिराज गरूड़ के पंजों

वण-गंठि-गआओ विहंग-णाह-णह-क्कोडि-कीलाओ ॥१०२२॥

फुट्टंति पाअवाणं रय-वित्थाराववद्ध-परिवेसा ।
विणिवत्ति-समय-ताडिअ-तडाओ पारोह-मालाओ ॥ १०२३ ॥

अट्ठिअ-गिरि-वलण-गआगअंबु-वोच्छिण्ण-णिवडिअ-तडाओ ।
पत्ताओ विअड-भावं तलिणाओ वि कडअ-सरिआओ ॥१०२४॥

परिसिढिल-विअड-मूला तेच्चेअ वहंति पढम-तणु-धारा ।
भुअइंद-णिहस-विहडंत-विवर-मूला जलुप्पीला ॥ १०२५ ॥

वीसाम-मंथराअंत-सेल-वोच्छिण्ण-दूर-वडणाओ ।
मडहं कमेण वलयं णिज्झर-धाराओ बंधंति ॥ १०२६ ॥

के घाव से कई चिह्न बने हुए थे और अब मन्दर पर्वत पर निरन्तर घर्षण से उनके वक्षःस्थल से स्थान-स्थान से झर रहे हैं ॥ १०२२ ॥

तीव्र गति से गोलाई में नाचते हुए मन्दराचल पर उगे हुए तरूओं की पंक्तियाँ घूमते हुए पर्वत के तट से टकरा कर टूट जाती हैं ॥ १०२३ ॥

पर्वत की चोटियों से बहने वाली नदियाँ पहले तो उथली तथा छोटी थी परन्तु इस समय पर्वत के चक्कर लगाने से छिटकी हुई जलधारा पाकर एवं टकराव से तटों के टूट जाने से विशाल हो गई हैं ॥ १०२४ ॥

जल समूह, जिसका तल शिथिल तथा विस्तृत है, इस समय शेषनाग के घर्षण से बने छिद्रों के कारण धारा बनकर बहने लगा है ॥ १०२५ ॥

पहाड़ी झरने जिनका जल पर्वत के चक्कर काटने से रूका हुआ है, अब पर्वत के रूक जाने से धीरे-धीरे लघुवृत्ताकार की भाँति दिख रहे हैं ॥ १०२६ ॥

पावंति वलिअ-वित्थअ-गिरि-कडअ-णिहंसणा तलिण-मूला ।
वित्थारं दसण-च्छेअ-मंडला दिग्गइंदाण ॥ १०२७ ॥
णिहस-विरिक्क-दुम-लओ जह जह सेलम्मि घडइ भुअइंदो ।
तह तह दीहाअंतो पुणो वि वलइज्जइ गिरिम्मि ॥ १०२८ ॥
णिहस-परिगलिअ-वासुइ-णिम्मोअ-रयावबद्ध-परिवेसो ।
कुम्मम्मि होइ खण-विरइआलवालो व्व सलिल-णिही ॥१०२९॥
कम-लद्धालोअं फणि-णिहंस-झिज्जंत-तड-पणट्ठासु ।
णिंति अ-विणिक्खमंता वि वणअरा महिहर-दरीसु ॥ १०३० ॥
होंति गिरि-वलण-भावा अण्णण्ण-दिसा-घडंत-कडआण ।
सरलं पि पडंतीणं सिलाण कुडिल व्व गइ-मग्गा ॥ १०३१ ॥

अपने पूर्ण विस्तार के साथ पर्वत के घूमने के कारण घर्षण से दिग्गजों की सूँढ़ का वक्रभाग तथा बाहरी दाँत की नोक भिच गई है ॥ १०२७ ॥

घर्षण के कारण द्रुम और लताओं से विहीन पर्वत को जैसे-जैसे भुजगेन्द्र कसकर पकड़ते हैं वैसे-वैसे ही उनका वलय दीर्घ से दीर्घतर होता जाता है ॥ १०२८ ॥

तीव्रगति में चक्कर काटने से वासुकि नाग की केंचुली टुकड़े-टुकड़े होकर कच्छप के चारो ओर फैलती हुई मानो आलबाल बन गया है (मन्दराचल रूपी पर्वत का आलबाल कूर्म की पृष्ट पर बन गया हो) ॥ १०२९ ॥

कन्दराओं में रहने वाले वनचर मानो बाहर निकले हुए-से प्रतीत होते हैं क्योंकि कन्दराओं के अग्रभाग की चट्टान वासुकी के निघर्षण से क्रमशः घिस रही हैं और सूर्य का प्रकाश अधिकाधिक कन्दराओं में फैल रहा है ॥ १०३० ॥

सीधी गिरती हुई पर्वत-शिलाओं के नीचे के मार्ग, जो प्रत्येक दिशा के सम्पर्क में आये, पर्वत के आवर्त्तमान के कारण एक के पश्चात् दूसरे टेढ़े-मेढ़े दिख रहे थे ॥ १०३१ ॥

उच्छलिअ-सलिल-पूरिअ-गअण-दिसा-वलय-पडिहओआसो ।
खण-तुच्छम्मि पडिरवो णवर समुद्देच्चिअ वलग्गो ॥ १०३२ ॥

वासुइ-णिहसुम्मूलिअ पक्ख-च्छेअ-वण-गंठि-णिव्वडिआ ।
णिवडंति सेल-कडआओ वज्ज-धारा-तड-क्खंडा ॥ १०३३ ॥

पसरंति वलंतोअहि-मंडलइज्जंत-कड्ढिअ-सरीरा ।
सुंकार-सरलिआवत्त-पसिढिला णवर भुअइंदा ॥१०३४ ॥

तरु-वलिअ-लआ-लच्छि लहंति सेलम्मि कडअ-सरिआओ ।
उम्मोइअ-वासुइ-णिहस-मग्ग-संदाणिअ-जलाओ ॥ १०३५ ॥

कडएहिँ तहेअ महो-सिहरेहिँ णहं व पेल्लिअं गिरिणो ।
अल्लीणं णवर दिसाहिँ णिहस-तणुअम्मि मज्झम्मि ॥१०३६॥

सागर-मन्थन से उत्पन्न भीषण ध्वनि कुछ क्षणों के लिए बन्द हो गई क्योंकि मन्थन के कारण समुद्र का जल ऊपर की ओर इतना उछला कि आकाश के रिक्त वायुमण्डल की सारी दिशाएँ जलमग्न हो गईं ॥ १०३२ ॥

इन्द्र के वज्र से कटे पंखवाले पर्वत के वे शिलाखण्ड जिनमें कटे भाग पर गाँठे पड़ गयीं थी, वासुकी नाग के निरन्तर घर्षण से उखड़ कर इस समय गिरने लगे थे ॥ १०३३ ॥

इस समय सागर-मन्थन से क्षुब्द बड़े-बड़े सर्प अपना शरीर बाहर निकाल कर तल पर उभरकर आ गये और विश्राम के समय भी फूत्कार कर रहे थे ॥ १०३४ ॥

पर्वत की चोटी से गिरती नदियाँ वृक्ष से लिपटी लताओं के समान दिख रहो थीं और इस समय वे उस मार्ग से बहने लगी थीं जो वासुकी नाग के घर्षण से बन गया था ॥ १०३५ ॥

पर्वत की चट्टानों, धरातल तथा चोटियों से सागर के ऊपर अवस्थित आकाश ढंक गया और सारी दिशाएँ पर्वत के पलले तथा खण्ड-खण्ड हुए मध्यभाग से घिर गईं ॥ १०३६ ॥

कुम्म-विणिहिट्ठ-मूलो मुअआहिव-णिहस-तणुइआहोओ ।
कह-कह वि पढम-णिमिओ सुहेण ओसारिओ सेलो ॥१०३७॥

घडिअं मंदर-दर-दूमिअम्मि संखुहिअ-जलहि-तण्णाअं ।
सिसिरोवआर-पंकं व कुम्म-वीढम्मि महि-वेढं ॥ १०३८ ॥

इअ कम-णिम्महिआमुक्क-विहुर-खीरोअ-सरहसुव्वूढा ।
लच्छी अज्जवि वच्छ-त्थल-ट्ठिआ वुब्भइ इमेण ॥ १०३९ ॥

किं च ।

दीसइ कर-ताडण-मूढ-रुहिर-संगलिअ-सामल-च्छायं ।
हिअअ-ट्ठिअ-विरह-हुआस-धूम-मइलं व थणवट्टं ॥ १०४० ॥

कच्छप के पृष्ठभाग पर आधारित तथा वासुकि के घर्षण से खण्ड-खण्ड हुए पर्वत का भार कम हो गया था और जो पहले बड़ी कठिनाई से कूर्मपृष्ठ पर बैठ पाता था अब बड़ी आसानी से जम गया ॥ १०३७ ॥

धरती का तल क्षुब्ध जल के कारण नम हो गया और उसमें कीचड़ बनने लगा जो ऐसा प्रतीत होता था मानो पर्वत की रगड़ से छिली हुई कूर्मपीठ के लिए उपचार स्वरूप था ॥ १०३८ ॥

सागर मन्थन के इस उपक्रम से क्षुब्ध तथा व्यथित सागर से हठात् लक्ष्मी ऊपर आ गयी और आज भी उन्हें महाराज यशोवर्मा ने वक्षःस्थल पर धारण करते हैं ॥ १०३९ ॥

[आगे के ४ कुलकपदों में कवि ने महाराज के प्रताप तथा उनके शत्रुओं की स्त्रियों की दुःखद दशा का वर्णन किया है ।]

यशोवर्मा के शत्रुओं की स्त्रियाँ करूणा से निरन्तर अपनी छाती पीटती रहती हैं जिससे उनके शरीर का रक्त-प्रवाह बन्द हो गया और अब उनके उन्नत-विशाल उरोज पीतवर्णी होकर ऐसे लगते हैं मानो पति-वियोग के कारण उनके हृदय-दाह का धूम्र उनके वक्ष पर उभर आया है ॥ १०४० ॥

वअणुव्वहण-णिवेसिअ-करुद्ध-णह-मणि-मऊह-वोच्छेए ।
संधंति णिरंजण-णिम्मलाओ थोरंसु-धाराओ ॥ १०४१ ॥
घण-लंबालअ-माला-णिरोह-खणमेत्त-पुंजइज्जंता ।
उम्हविअ-गंडवासं चक्कलइज्जंति णीसासा ॥ १०४२ ॥
इअ लीला-रोसुग्गम-विसमिअ-भुमअम्मि जम्मि वुब्भंति ।
वेरि-रमणीहिँ वेहव्व-लंभ-विहुराइँ अंगाइं ॥ १०४३ ॥
जस्स मुह-मारुआहअ-विसंत-भुवणंतरेण उअराओ ।
वुब्भइ व अण्ण-बंभंड-डंबरो पंचअण्णेण ॥ १०४४ ॥
सो एस केसवो उवसमुद्दमुद्दाम-दाविआयामे ।
अह सोहइ सेसम्मि व णिअअम्मि जसम्मि विणिसण्णो ॥१०४५॥

उन स्त्रियों की आँखों से अञ्जनरहित निर्मल अश्रुधारा निरन्तर बहती हुई वहाँ पहुँचती है जहाँ उनके हाथों के मणिप्रभा-युक्त नखों का अन्त है क्योंकि अपना मुख ऊपर उठाने के लिए उनकी हथेली ठुड्डी पर लगी है ॥ १०४१ ॥

उनकी निःश्वास से जो छितराये हुए उनके काले घने बालों के कारण उसी पुंजीभूत केशराशि में चक्रीकृत होकर अवरुद्ध हो गये हैं, उनका कपोल भाग अत्यन्त उष्ण हो उठा है ॥ १०४२ ॥

साधारण रूप से ही महाराज यशोवर्मा को क्रोधावेश में टेढ़ी भृकुटि मात्र के कारण ही वैरियों की स्त्रियों के वैधव्य में उनके शरीर की ऐसी दशा हो गई है ॥ १०४३ ॥

[आगे के दो कुलक पदों में कवि ने यशोवर्मा का शेषशायी विष्णु के रूप में वर्णन किया है ।]

भगवान् विष्णु अपना पाञ्चजन्य शंख बजाने के लिए मुख से फूंकते हैं उस समय उनके उदर में स्थित तीनों लोकों में से एक विचित्र लोक हिरण्यगर्भ रूप शंख में मानो प्रवेश कर जाता है ॥ १०४४ ॥

यह महाराज यशोवर्मा यथार्थतः विष्णु की ही भाँति हैं जो अपने यश-गौरव से अत्यन्त आकर्षक लगते हैं मानो किसी उपसमुद्र में शेष शैया पर विराजमान हैं ॥ १०४५ ॥

अह वा ।

भारुव्वहणा-जोग्गाअरेण तारेहिँ णह-मऊहेहिं ।
सेस-सिरहिँ व चलणारविंद-घडिएहिँ सोहंति ॥ १०४६ ॥

भुअइंद-फणा-मंडल-णिवेस-पडिलग्ग-रअण-राअं व ।
चलण-जुअमावहंति पज्जत्तालत्तअ-च्छायं ॥ १०४७ ॥

लीला-घोलाविअ-चलण-मुहल-मंजीर-रव-मिलंतेहिं ।
वुब्भंति सेस-फणा-वलएहिँ व राअहंसेहिं ॥ १०४८ ॥

कारण-किरि-खंधुक्खेव-लग्ग-परिकविल-केसर-च्छायं ।
वहमाणिं किरण-कलावमिरिण-रसणा-गुणुग्गिण्णं ॥ १०४९ ॥

[आगे १७ कुलक पदों में राजा को पृथ्वी पालक होने के कारण भगवान् विष्णु ही सिद्ध किया है--]

पृथ्वी जिसे शेषनाग अपने सिर पर धारण किये हैं, इस समय महाराज के समीप एक सुन्दरी स्त्री के रूप में आयी है जिसके कमल-चरण मणि प्रभावान् नखों से सुशोभित हैं और वे चमकते हुए नख ऐसे लग रहे हैं मानों छोटे-छोटे नागशिशु शेष के चरणों में बैठे उनका भार हलका कर रहे हैं ॥ १०४६ ॥

पृथ्वी के वे चरण-युगल शेषनाग के मस्तक पर विराजमान हैं जो आलता लगे होने के कारण लाल रंग की शोभा को प्राप्त होकर इस प्रकार लग रहे हैं मानों शेष-फण की मणि चमक रही हो ॥ १०४७ ॥

पृथ्वी देवी के चरण-नुपुर ध्वनि से आकर्षित राजहंस उसे चारो ओर से घेरे हुए ऐसे लग रहे हैं मानो देवी को चरण लीला से प्रभावित शेष के सहस्रफण उन पर लोट रहे हों ॥ १०४८ ॥

पृथ्वी ने उस समय चमचमाती हुई किरण-समूह की पेटी, जिसमें सोने की झालरें लटक रहीं थीं जो सूकर की केसर कीं भाँति थी, धारण कर रखा था जिस समय विष्णु ने सूकर का रूप धारण करके उसे नरक में डूबने से उबारा था ॥ १०४९ ॥

सेविज्जंतिं स-रअण-रसणा-पडिणिव्वडंत-पडिमेण ।
आढत्त-रोहणुद्दलण-वइअरेणं पिव जणेण ॥ १०५० ॥

णाहि-विवरेण कारण-वराह-दाढा-वहेण व सहंतिं ।
पाआल-तमुब्भेआअमाण-रोमावलीएण ॥ १०५१ ॥

अज्जवि अणह-ट्ठिअ-राम-रमणि-णिग्गमण-सीर-मग्गं व ।
उअरमहिराम-वलि-वीइ-भंग-विसमं पआसेंतिं ॥ १०५२ ॥

सोहंतिं हारावलि-वलंत-रोमावली-तरंगेण ।
जउणा-संगअ-गंगा-सोत्तेण व मज्झएसेण ॥ १०५३ ॥

लायण्ण-परिप्फुरमाण-परिअणुक्खित्त-चामर-चएहिं ।

उस समय लोगों की प्रतिच्छाया उस स्वर्ण करधनी में पीछे की ओर प्रतिबिम्बित होती हुई इस प्रकार प्रतीत हो रही थी मानो लोग उस पर चढ़ने तथा उसे (धरती को) खोदने का उपक्रम कर रहे हों ॥ १०५० ॥

अपने नाभि-विवर तथा दाँत के उस चिह्न से वह इस प्रकार शोभायमान हो रही है मानो पृथ्वी के उद्धार हेतु सूकर वेषधारी भगवान् विष्णु के दाँत का चिह्न हो जिस पर काले घने केशों की पंक्ति मानो पाताल लोक से नाभि-विवर द्वार से निकलती हुयी घने काले धूम्रराशि की भ्रान्ति करा रही हो ॥ १०५१ ॥

हल से जोते गये अपने उदर पर लहराते हुए रेखसमूह से वह पृथ्वी इस प्रकार मनोहर प्रतीत हो रही है मानो अब तक उसके उदर में विराजमान श्रीराम प्रिया सीता के लिए बाहर आने का मार्ग बनाया गया हो ॥ १०५२ ॥

उसके शरीर के मध्यभाग पर रोमावलि जो रत्नहार से तरंगित हैं, इस प्रकार मनोरम प्रतीत हो रही है मानो गंगा की तीव्रधार यमुना से मिल रही हो ॥ १०५३ ॥

उस पृथ्वी-कामिनी के ऊपर उसकी लावण्यवटी सेविकाएँ अत्यन्त अनुराग से चामर डुला रही हैं, लगता है पृथ्वी ने समूल

अंतो-पाअड-भूरुह-मूल-कलावं व दंसंति ॥ १०५४ ॥

पहु-दंसण-रस-पसरिअ-ससेअ-रोमंच-संचय-णिहेण ।
सलिलाहअ-देसूस (सिअं) वीअ-लअं व दंसंति ॥ १०५५ ॥

अंतोवरिं च परिसंठिएण णह-णिण्णआएँ व जलेण ।
पडिमा-पडिएण सिअंसुएण संवलिअ-थण-विंबं ॥ १०५६ ॥

कंठ-कुसुमेसु बहुसो लीणुड्डीणेहिँ महुअर-कुलेहिं ।
आयासिअंग-लेहं सवक्ख सेलेहिं व पुणो वि ॥ १०५७ ॥

मुत्ता-पेरंतत्तण-पाविअ-पाआर-मंडल-गुणेहिं ।
दिव्व-पुरेहिँ व मणि-कुंडलेहिँ संभाविआभोअं ॥ १०५८ ॥

वृक्षराशि को इसीलिए अपने शरीर में स्थापित कर रखा है ॥ १०५४ ॥

वह ललना अपने परमप्रिय प्रभु के दर्शन से उत्पन्न आवेग के कारण निकलते हुए घने पसीने तथा रोमाञ्च के बहाने सारी पृथ्वी पर जल के चारो ओर फैलने से उत्पन्न बन-लताओं के नूतन अंकुरों का प्रदर्शन कर रही है ॥ १०५५ ॥

उस सुन्दरी के दोनों उन्नत-गोल स्तन श्वेत तथा पतले अंशुक (चोली) से ढँके हुए ऊपर आकाश गंगा तथा गंगा एवं अन्तः सलिला मन्दाकिनी के प्रतिबिम्ब की ओर संकेत करता है ॥ १०५६ ॥

उसके कण्ठ में पड़ी अधिकाधिक पुष्पमालाओं में एक पुष्प से दूसरे पर रस लेते हुए भँवर-समूह पृथ्वी के सुन्दर अंग पर सपक्ष पर्वत समूह का भान करा रहे हैं ॥ १०५७ ॥

रत्न-मण्डित कर्णाभरण से सुसज्जित उसका सुन्दर शरीर ऐसा लग रहा है मानो स्वर्ग-नगरी की सीमाओं पर खचित मोती चमक रहे हों तथा उस सीमा को घेरे हुए गोलाकार रक्षा-भित्ति बनी हुई हो ॥ १०५८ ॥

कुंडल-ससि-सूरंतर-णिसण्ण-कबरी-णिसा-विणीलद्धं ।
मुह-मंडलं सुमेरुं व कणअ-गोरं पआसेंति ॥ १०५९ ॥

सव्वत्तो हार-मऊह-दंड-पडिअग्गिअंग-भावेण ।
उम्मिल्ल-णिम्मलाणेअ-पह-समूहं व दीसंति ॥ १०६० ॥

अवअंस-कुसुम-णीसंदमाण-रअ-बिंदु-कलिअ-मूलेण ।
गंडत्थलेण दर-गलिअ-रेणु-भावेण व सहंति ॥ १०६१ ॥

माला-वलएहिँ पइण्ण-सुरहि-कबरी-लअं महुअराण ।
वेणी-बंधेहिँ व बहु-णरिंद-वेहव्व-पिसुणेहिं ॥ १०६२ ॥

इअ सुव्वइ एसो इर सरीर-भाव-परिसंठिअं बहुसो ।

सुमेरू की भाँति अपना कनक-गौरवर्णी मुखमण्डल प्रदर्शित करती हुई ऐसी लग रही है मानो उस मुखमण्डल का शिरोभाग घनी केशराशि के कारण रात्रि सूचक है जो उसके कर्णाभूषण के कारण सूर्य और चन्द्रमा के मध्य स्थित है ॥ १०५९ ॥

जो रत्नहार उसने धारण कर रखा है उसकी चमकीली किरणों से उसका सारा शरीर जाज्वल्यमान हो रहा है। उसके नारी रूप पर पड़ती हुई ये किरणें उसके पृथ्वी रूप पर बने हुए मार्गों के समूह-सी दिख रही हैं ॥ १०६० ॥

उसके कपोल अतीव आकर्षक हैं जिन पर उसके कर्ण-पुष्पाभरण से टपक कर पराग सहित जल-बिन्दु उन्हें इस प्रकार आर्द्र बना देते हैं मानों धूल ही गीली होकर नीचे धरातल पर गिर रही है ॥ १०६१ ॥

लता की भाँति उसकी केशराशि बिखरी हुई है जिस पर भँवर मालायें मंडरा रही हैं मानो अनेकानेक पृथ्वीपतियों के बार-बार निधन से वैधव्य के कारण उसका जूड़ा खुला हुआ है ॥ १०६२ ॥

कहा जाता है कि केवल हमारे महाराज यशोवर्मा ने विष्णु के रूप में, जब-जब इस पृथ्वी पर संकट पड़ा और यह इनके पास

पच्चक्खंचिअ देविं पुहइं पुलएइ पीडासु ॥ १०६३ ॥

किं च ।

सीसइ व जस्स ताराणुसारि-णिग्गअ-कलंक-वलएण ।
अत्ति-णयणाहि अज्ज वि समुब्भवो णिअअ-बिंबेण ॥ १०६४ ॥
वंसम्मि तस्स रअणी-रमणस्स पुरा परिट्ठिआ पहुणो ।
जे ताण अह पणामो एसो उण किंपि णिव्वडिओ ॥ १०६५ ॥

अवि अ ।

सज्झस-संवेउम्मीलणे वि अलसुम्मुहा समुत्तरइ ।
दिट्ठी पहरिस-विरलाअमाण-पम्हंतरालेसु ॥ १०६६ ॥
सत्तोहुत्त-गआगअ-हिअअ-वहाअंत-णह-मऊहेण ।

स्त्री वेष धारण करके आयी, तब-तब उसको प्रत्यक्ष भाव से कृपा पूर्वक देखा ॥ १०६३ ॥

और कहाँ तक कहा जाय, यह चन्द्रमा, जिसका जन्म अत्रि मुनि की आँख से हुआ है और उसका मण्डल तथा मध्य का गोल चिह्न भी तो अत्रि की आँख के गोलक तथा काली पुतरी से ही मिलता-जुलता दिखाई पड़ता है ॥ १०६४ ॥

राकापति चन्द्र के उस वंश में अगणित विख्यात तथा महान् नरपति राजा यशोवर्मा के पूर्व उत्पन्न हुए परन्तु इस वंश में मात्र यशोवर्मा की ही महत्ता सराहनीय है, अस्तु, हम सब उन्हीं का यशोगान तथा अभिनन्दन करते हैं ॥ १०६५ ॥

यह राजा ही ऐसा है कि इसके द्वारा जो शत्रु-बालाएँ बन्दी बनाई गई हैं उनकी भय तथा आशंका से खुली हुई आँखे भी बार-बार इसे देखने के लिए आतुर हो उठती हैं और आँखें नीची करके वे पुतलियों के मध्य उसका दर्शन करके आनन्द-विभोर होती रहती हैं ॥ १०६६ ॥

उन बालाओं के कोमल-किसलय सदृश हाथ उनके रेशमी वस्त्र से ढँके स्तनों पर पड़ रहे हैं और उनकी उंगलियों का प्रभायुक्त

कर-किसलएण लोलंसुअम्मि थण-मंडले वसिअं ॥ १०६७ ॥

गाढ-जहण-त्थल-क्खलण-मुहल-मणि-किंकिणीअमुक्कंपो ।
पडिकुसुमंदोलिअ-कंठ-दामसंगं तरंगेइ ॥ १०६८ ॥

इअ णिव्वत्तिअ-सेज्जा-परिणयणाण पडिवक्ख-कुमरीण ।
जाअंति जस्स पुरओ स-सज्झसा वम्मह विआरा ॥ १०६९ ॥

केऊर-मरगओग्गिण्ण-किरण-कलिले भुअम्मि अप्पाणं ।
सा जस्स विणोएइ व णलिणि-वणुक्कंठिआ लच्छी ॥ १०७० ॥

अहिआराणल-कुंडंब-मंडलं ताव णं समक्कमइ ।
तिमिरं कुलमिव तारा-फण-रअणवहं विसहराण ॥ १०७१ ॥

नख-वृन्द ऐसा प्रतीत होता है मानो बालाओं के हृदय को राजा के हृदय तक का मार्ग दिखा रहा हो ॥ १०६७ ॥

उन बालाओं के अन्तःकरण में कामुकता का उदय होते ही उनके शरीर में वासना तरंगे उठने लगती हैं और फलतः जब वे अपने सुदृढ़-विशाल जघन को ऊपर-नीचे हिलती हैं तो कटि में सजी हुई मणि मेखला के घुंघरू मुखरित हो उठते हैं साथ ही कण्ठ में पड़े पुष्पहार का प्रत्येक कुसुम आन्दोलित हो उठता है ॥ १०६८ ॥

प्रेम की इतनी विचित्र प्रतिक्रिया हुई कि मारे भय के अत्रुओं की परिणीता स्त्रियाँ राजा यशोवर्मा की सेज पर प्रेम की उत्सुकता से भर गयीं ॥ १०६९ ॥

वे राजा वैसे थे जिनकी भुजाओं पर केयूर में खचित नीलमणि से छिटकने वाली प्रभा से कमलवन से नियुक्त लक्ष्मी अपना मन बहलाती थी ॥ १०७० ॥

इसी बीच महाराज के शत्रु मण्डल बनाकर उन्हें पराजित करने के लिए दुष्टात्माओं को प्रसन्न करने के लक्ष्य से कुण्ड बनाकर आहुति देने लगे परन्तु जैसे मणिधारी विषधर कुल के समक्ष अन्धकार नहीं टिक सकता उसी प्रकार वे सभी विवर्ण हो उठे अर्थात् महाराज ने उन्हें परास्त कर दिया ॥ १०७१ ॥

पुहई-वइणो अम्हे सच्चरिआवेअणम्मि के तस्स ।
सुव्वइ ण-पहुत्तंचिअ तस्स वि फणिणो मुह-सहस्सं ॥ १०७२ ॥

तह वि णिसामेह णराहिवस्स भुअ-दप्प-दप्पणं एअं ।
रअणि-विरमम्मि णवरं पुरुमिल्ल-णरिंद-णिह्ववणं ॥ १०७३ ॥

साहिज्जइ गउड-वहो एस मए संपअं महारंभो ।
णिसुए मुअंति दप्पं जम्मि णरिंदा कइंदा अ ॥ १०७४ ॥

एत्ताहे उण रविणो उव्वत्तिअ-कमढ-पिंगल-च्छाओ ।
परिघोलइ विअलिअ-किरण-कंदलो बिंब-परिणाहो ॥ १०७५ ॥

एए छाया-परिअत्त-मुहल-पारावआ पसज्जंति ।
गिरि-कुंजुण्णिद्द-मइंद-णंदिणो रण्ण-पेरंता ॥ १०७६ ॥

इस प्रकार महाराज यशोवर्मा की यशोगाथा का वर्णन हम लोग कैसे कर सकते हैं जबकि नागराज अपने सहस्रमुख से भी उनकी प्रशंसा करने में सर्वथा असमर्थ हैं ॥ १०७२ ॥

इस पर भी इस रात के अन्त में तुम्हें महाराज के भुज-बल का गौरव गान दर्पण द्वारा सुनने को मिल सकता है जिसके सामने इस वंश के पूर्व राजाओं का प्रताप धुंधला दिखाई पड़ता है ॥ १०७३ ॥

अब इसके अनन्तर 'गउडवहो' का महारम्भ वर्णन किया जायेगा जिसे सुनकर महान् भूपतिगण तथा कविराज अपना दर्प-त्याग कर देते हैं ॥ १०७४ ॥

इस समय सूर्य-मण्डल उल्टे पड़े हुए कछुए की भाँति लाल तथा पीतवर्णी हो चला है और वे अब अपनी नीचे गिरती हुई किरणों के साथ पश्चिम की ओर बढ़ने लगे हैं ॥ १०७५ ॥

सायंकाल वृक्षों की छाया में विश्राम हेतु अपने घोंसले की ओर आते हुए तथा गुटुर गूं का स्वरोच्चारण करते हुए कबूतर अतीव मनोहर दिखाई दे रहे हैं और पर्वत गुहाओं में गर्जना करते सिंहों से वन प्रदेश अत्यन्त अनुरञ्जक प्रतीत हो रहा है ॥ १०७६ ॥

मइलिज्जइ दिअसाहिव-किरणाइण्णत्थ-सेल-गलिएहिं ।
आयस-रस-विसरेहिँ व छाया-मग्गेहिँ महि-वेढं ॥ १०७७ ॥
सरिआण णिरंतर-मिलिअ-विहअ-णिवहोवरोह-मुच्चंता ।
उव्वेल्लंति व णिव्वडिअ-मंडला पुलिण-वित्थारा ॥ १०७८ ॥
दूरत्तण-पढम-णिअत्त-गो-हणा होंति णअर-मग्गेसु ।
सालंब-दिणअरच्चेअ धूसरा दिअस-परिणामा ॥ १०७९ ॥
थोअमिव विअड-गमणा गरुआअंत-जहणालसमुवेंति ।
धेणु-धवलीआ पण्हुअ-पीणापीणा वणंताओ ॥ १०८० ॥
संवेल्लिऊण एक्कं दिअसारंभ-पडिसारिअं विंझो ।
विइअं पक्खं व पुणो छाया-वलयं पसारेइ ॥ १०८१ ॥

पर्वतों से नीचे आते हुए छाया वाले ढरों से पृथ्वी तल अत्यन्त मलिन हो उठा है तथा सायंकालीन सूर्य की किरणें गलकर बहते हुए लोहे की भाँति दिख रही है ॥ १०७७ ॥

नदियों के रेतीले विस्तृत तट इस समय अपने पूर्ण विकास में इस प्रकार दिख रहे हैं मानो समीप ही चहचहाते हुए पक्षि-समूह के वहाँ से उड़ जाने के कारण उन तटों का मण्डल पूर्णरूप से उभर आया हो ॥ १०७८ ॥

दिवस के अन्त में नगर की सड़कें धूल-धूसरित हो जाती हैं, यद्यपि अभी सूर्य पश्चिमी-अन्तरिक्ष में ही लटके हैं और गउवें सायंकाल के पूर्व ही द्रुतगति से घर की ओर चली आ रही हैं क्योंकि उन्हें पर्याप्त दूर से आना है ॥ १०७९ ॥

उत्तम कोटि की श्वेत गउवें, जिनके स्तनों से दूध की धार बह रही है, बन से धीरे-धीरे अलसाई चाल से चली आ रही है क्योंकि उनका जघन-स्थल भारी है यद्यपि अपने बछड़े को देखने की उत्सुकता के कारण वे बहुत शीघ्रता कर रही हैं ॥ १०८० ॥

दिवसारम्भ में फैले हुए अपने एक पंख को समेटते हुए विंध्यगिरि ने अब अपनी छाया का विस्तार कर रखा है जिसे देखकर लगता है कि यह उसका दूसरा पंख है ॥ १०८१ ॥

अंदोलइ दिण-लच्छी पच्छिम-सेल-त्थलावलंबासु ।
जरढ-सर-गंठि-रेहारुणासु रवि-किरण-मालासु ॥ १०८२ ॥
पच्छ-ट्ठिआअवत्तण-सुण्णइअ-गवक्ख-मग्ग-पइरिका ।
जाआ समुज्जलालेक्ख-सुंदरा मंदिरद्धंता ॥ १०८३ ॥
तंसागअ-रविअर-णिव्वडंत-मूलंतराल-विअडाइं ।
विरलाअंति व छाया-णिग्गम-सिढिलाइँ रण्णाइं ॥ १०८४ ॥
सेलग्ग-खण-विहत्ता रवि-वडण-कमेण दूरमुच्छलिआ ।
घम्म-च्छेआ इव तारअत्तणं एंति मउलिंता ॥ १०८५ ॥
एंति गह-मोत्तिअड्ढे पओस-सीहाहए दिणेहम्मि ।
ल्हसिअ-ट्ठिअ-रुहिराअंब-कुंभ-करणिं रवि-मिअंका ॥ १०८६ ॥

दिनलक्ष्मी इस समय सूर्य की किरणों के उस झूले पर झूल रही हैं जो अस्ताचल से बँधा है और पके हुए नरकट के वर्ण का गुलाबी-सा दिख रहा है ॥ १०८२ ॥

सूर्य का प्रकाश पश्चिम दिशा की ओर होने से भवनों के पीछे पूर्व की ओर के झरोखे स्पष्ट तथा रिक्त होने के बाद उन भवनों के अन्तर्भाग में उरेहे गए विविध कलात्मक चित्र इस समय अतीव सुन्दर लग रहे हैं ॥ १०८३ ॥

इस समय बन प्रदेश अनूठे-से इसलिए लग रहे हैं कि उनके अन्दर की घनी छाया के हट जाने से वे शिथिल हो चले हैं और सायंकालीन सूर्य की तिरछी किरणों के पड़ने से उनका मध्य तथा नीचे का अंश स्पष्टतः दिख रहा है ॥ १०८४ ॥

ऐसा लगता है मानो सूर्य की उष्ण रश्मियाँ कुछ समय के लिए पर्वत शिखरों के अग्रभाग में चतुर्दिक छितरा गई हैं और बाद में सूर्यमण्डल के अस्ताचल गामी होने से वे सारे आकाश में छिटक कर असंख्य तारिकाओं का रूप धारण किये हुए हैं ॥ १०८५ ॥

नक्षत्र-मुक्ता से सम्पन्न दिवस-गज सायंकालीन सिंह द्वारा वधा जा रहा है और पूर्व तथा पश्चिम में क्रमशः उदीयमान चन्द्र सूर्य उसके क्षत कुम्भस्थल और अस्तगामी रक्ताभ हों ॥ १०८६ ॥

जामवई-मुह-भरिए संज्झा-मइराएँ दिणअराहारे ।
आआस-केसरं दंतुरेंति णक्खत्त-कुसुमाइं ॥ १०८७ ॥
आअव-किलंत-महिसच्छि-कोण-सोणाअवं दिणंतम्मि ।
उव्वत्तइ रविणो भू-कलंब-पुड-पाडलं बिंबं ॥ १०८८ ॥
संज्झालत्तअ-धरिअम्मि उअह जलणोवले व्व रवि-बिंबे ।
णिव्वडइ धूम-लेह व्व मासला जामिणि-च्छाया ॥ १०८९ ॥
जाअं व धूम-संचय-कलुसारुण-किरण-दंतुरं रविणो ।
तिमिरोवआर-भुज्झंत-विसम-संज्झाअवं बिंबं ॥ १०९० ॥
काली-कअ-सरस-गल-च्छेअ-महा-महिस-विब्भमो मिलइ ।

रात्रिदेवी अपने मुख में गुलाबी रंग की सान्ध्य मदिरा भरकर सूर्य रूपी पात्र में उँड़ेलती है जिससे आकाश वकुल तरू नक्षत्र-समूह से खचित होकर रोमांचित हो उठता है। वकुल तरू मदिरा-सेचन से पुष्पित होता है। यहाँ आकाश वकुल तरू है और अस्ताचल गामी सूर्य मदिरा पात्र हैं ॥ १०८७ ॥

दिन के अन्त में कदम्ब तरू पुष्प के पाटल के सदृश गुलाबी सूर्यमण्डल अस्ताचल पर विराजमान हो जाता है। उनका प्रकाश इस प्रकार रक्तवर्णी हो गया है जैसे सूर्य के प्रचण्ड ताप से भैंसे की आँख का कोना लाल हो गया हो ॥ १०८८ ॥

देखिये, जैसे ही सूर्य अस्त होता है और गोधूलि की लालिमा के ऊपर जलते हुए पाषण की भाँति दिखता है वैसे ही निशा की छाया चतुर्दिक् धूमलेखा-सी बिखेर देती है ॥ १०८९ ॥

चारो ओर घना धुआँ फैल जाने के कारण सूर्यमण्डल इस समय अपनी भूरी तथा गुलाबी किरणों वाला हो गया है और गोधूलि की छवि अन्धकार के बढ़ते जाने के कारण निर्जीव तथा धूमिल हो गई है ॥ १०९० ॥

अस्ताचलगामी गुलाबी सूर्यमण्डल का चुम्बन पाकर घना अन्धकार चारो ओर एकत्रित हो गया है जो ऐसा प्रतीत हो रहा

अत्थाअंबिर-रवि-बिंब-चुंबिओ तिमिर-संघाओ ॥ १०९१ ॥

लहइ स-संदण-तुरओ तिमिरक्कमंत-पिंजर-सरीरो ।
महुमहण-गारवुव्वत्त-पिच्छ-गरुल-च्छविं सूरो ॥ १०९२ ॥

जाए णिराअवे दिणअरम्मि गिरि-रेणु-पाडल-मऊहे ।
घोलइ मिलंत-तिमिरा कुलीर-कविला दिण-च्छाया ॥ १०९३ ॥

णिअ-कर-किलिंच-णीडत्थमत्थ-गिरि-पाअवाहि रवि-बिंबं ।
णिवडइ संज्झा-कललोल्ल-विहअ-णाहंड-पिंडं व ॥ १९९४ ॥

थोउव्वत्तण-लक्खिअ-संज्झारुण-गअण-तालु-पेरंतो ।
कवलेइ पओस-करी विहाण-पिंडं व रवि-बिंबं ॥ १०९५ ॥

है मानो वह विकट भैंसा है जिसकी ग्रीवा काली द्वारा काट दी गई हो और उससे रक्तस्राव हो रहा हो ॥ १०९१ ॥

घोर अन्धकार में ढँके हुए लाल-पीले सूर्य अपने रथ तथा अश्वों के साथ ऐसे लग रहे हैं मानो मधुसूदन विष्णु का भार संभालने के लिए पक्षिराज गरूड़ ने अपने पंख फैला दिये हो ॥ १०९२ ॥

अस्त के समय जैसे ही छविविहीन सूर्य की किरणें पर्वत की धूल से मिलकर गुलाबी हो जाती हैं वैसे ही अन्धकार के मिश्रण से दिन का प्रकाश धीरे-धीरे कुलीर की भाँति भूरा हो जाता है ॥ १०९३ ॥

अपनी ही किरणों में घिरा सूर्यमण्डल लकड़ी के जाल में फँसा हुआ ऐसा दिख रहा है जैसे अस्ताचल के तरू से नीचे इस प्रकार गिरा पड़ा है मानो पक्षिराज के उस अण्डे का प्रकाश हो जिसका ऊपरी भाग गोधूलि के प्रकाश से चमक रहा हो और कुछ-कुछ आर्द्र हो चला हो ॥ १०९४ ॥

रात्रि रूपी हाथी अपने प्रातःकालीन कलेवा की भाँति उस सूर्यमण्डल को कवलित कर रहा है जो उसके तालु तक निगला हुआ दिख रहा है और जिसकी चमक गोधूलि में गुलाबी हो गई है तथा मुंह के खुले रहने से थोड़ा-थोड़ा दिखाई दे रहा है ॥ १०९५ ॥

णह-वट्ठं दूरुण्णअ-संज्झा-परिवेस-परिअरं सहइ ।
अहिणव-पडिबंधाअंब-बिंब-विअडावड-च्छायं ॥ १०९६ ॥
पुरुमिल्ल-दिसा-गअ-तिमिरमवर-भाआवलंबि-रवि-बिंबं ।
गरुलमिव गहिअ-गअ-कुम्ममुअह परितंविरं गअणं ॥ १०९७ ॥
पल्हत्थइ तिमिर-महा-वराह-पडिपेल्लिओ सुमेरु व्व ।
संज्झालोओ पडिलग्ग-केसराअंत-रवि-किरणो ॥ १०९८ ॥
विअडंडम्मि व रवि-मंडलम्मि मुक्कम्मि पढममरुणंके ।
णह-सिरि-विणआएँ ससी वुब्भइ वीअंड-पिंडो व्व ॥ १०९९ ॥
आसार-पसर-सरला ताली-वण-दंड-धूसरा होंति ।
गंधव्व-पुराआरा णिराअवा रवि-अर-णिवेसा ॥ ११०० ॥

गोधूलि की चक्राकार स्थिति के कारण दूर तक फैली आभा से आकाश इस प्रकार सुन्दर लग रहा है मानो सूर्य के गुलाबी मण्डल द्वारा उसके चारो ओर नवीन सुरक्षा भित्ति निर्मित की गई हो ॥ १०९६ ॥

देखिये, पूर्व दिशा में बढ़ते हुए अन्धकार और पश्चिम में डूबते सूर्यमण्डल के कारण आकाश उन पक्षिराज गरूड़ की भाँति लग रहा है जिन्होंने एक दिग्गज तथा एक कच्छप अपने पंजे में दबा रखा हो ॥ १०९७ ॥

सूत्र की भाँति लटकती हुई सूर्य की किरणों के साथ गोधूलि की चमक उस सुमेरू पर्वत के सदृश नीचे गिर रही है जो अन्धकार रूपी महान् वाराह के द्वारा ढकेला गया हो ॥ १०९८ ॥

रक्तवर्णी तथा एक विकट अण्डे की भाँति सूर्यमण्डल इस समय एक किनारे हो गया है और एक द्वितीय अण्ड-पिण्ड की भाँति आकाश देवी द्वारा ले जाया जा रहा है ॥ १०९९ ॥

सूर्य की ताप विहीन किरणें इस समय झरने की बौछार की भाँति सीधी गिरती हुई सीधे खड़े ताल-वन-सदृश अत्यन्त भूरी हो गई हैं जिन्हें देखकर ऐसा लगता है यह गन्धर्वों की जादू नगरी हो ॥ ११०० ॥

रेहावसेस-दिणअर-मऊह-णिव्वडिअ-दंड-पडिबंधा ।
जालाअइ सालोआ अवर-दिसा भुवण-भवणस्स ॥ ११०१ ॥
गअण-महि-वेढ-णीलो मज्झे संज्झावसेस-पडिभिण्णो ।
घोलइ खज्जूर-क्खंध-पाडलो तिमिर-संघाओ ॥ ११०२ ॥
दीसइ दिसासु तारा-सहरी-जालाविला तिमिर-लेहा ।
रवि-पडण-संभमारंभ-रहस-चलिअ व्व कालिंदी ॥ ११०३ ॥
सायं मिलंति कम-णिव्वडंत-तम-मंडलावउण्णाओ ।
आसण्ण-भाव-पाअड-णिअअ-गइंदाओ व्व दिसाओ ॥ ११०४ ॥
ऊससिअ-सामलारुण-तम-वेल्ली-मूल-लक्खिअं कोवि ।
गअण-च्छलरुणयकंचमिंदुबिंबं समुद्धरइ ॥ ११०५ ॥

इस समय पश्चिम दिशा में सीधी पड़ती सूर्य किरणों की रेखा मात्र अवशेष रह गई है और दण्ड प्रतिबन्ध से युक्त लोक प्रासाद के गवाक्षों के सदृश यह आकाश प्रतीत होता है ॥ ११०१ ॥

एक ओर आकाशपटल पर घना-नीला-अन्धकार और दूसरी ओर पृथ्वी पर फैलता अन्ध-तामिस्र जिसके मध्य में गोधूलि है, इस प्रकार गुलाबी वर्ण धारण करके विद्यमान है मानो खजूर तरू का तना हो ॥ ११०२ ॥

सभी दिशाओं में फैला हुआ अन्धकार, नक्षत्रों के रूप में सहरी मछली की भाँति ऐसा लग रहा है जैसे यमुना की धारा हो जो अपने पिता सूर्य की गोद में बैठने के लिए आवेश तथा उत्कण्ठा में विपरीत दिशा की ओर चली जा रही हो ॥ ११०३ ॥

घने अन्धकार से परिपूर्ण दशों दिशाएँ परस्पर मिल रही हैं और उनकी समीपता के कारण दिशारक्षक गजराज भी एक दूसरे को दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ ११०४ ॥

ऐसा लगता है कि किसी ने चन्द्रमण्डल को खोदकर इस प्रकार बाहर निकाला है मानो अन्धकार के गहरे लाल लता पुंज की उस जड़ को खोदकर निकाला हो जिसमें अब अंकुर निकल रहा है ॥ ११०५ ॥

होंत-वसुहाहिव-कहा-कोऊहल-कड्ढिआओ व मिलंति ।
दिअस-विराम-च्छवि-धूसराओ समअंचिअ दिसाओ ॥११०६॥
बहलत्तण कुहरूणसिअ-तम-सिहा-लंघणोणउच्छंगा ।
देंति थलुद्देसच्चिअ थोआलोआ दरी-संकं ॥ ११०७ ॥
आलोओ परिघोलइ ससिणो छाया-णिवेस-वोच्छिण्णो ।
मलिणाणुसार-पसरिअ-कसण-च्छवि-मग्ग-सवलो व्व ॥११०८॥
दीसइ णिसासु तारा-णिहेण फुडिअ-विरल-छिअ-कवालं ।
वंभंडग्ग-पुडं पिव कालंतर-जज्जरं गअणं ॥ ११०९ ॥
जाआओ कम-पसम्मंत-धूम-रअ-णिग्गमावरोहाओ ।
आरूढ-पओसाओ वि पविरल-तिमिराओ व दिसाओ ॥१११०॥

दिन के अन्त में उठी धूल से अन्धकार मयी दिशाएँ परस्पर मिल रही हैं, मानो महाराज यशोवर्मा की कीर्ति-गाथा सुनने के लिए वे आतुर हो रही हैं ॥ ११०६ ॥

यहाँ तक कि सुस्पष्ट मार्ग, जिन पर इस समय बहुत मामूली प्रकाश पड़ रहा है और जिनका धरातल उदास हो चला है, जब घने अन्धकार से घिर जाते हैं, उस समय उन्हें देखकर ऐसा भ्रम होता है मानो ये साक्षात् कन्दराएँ हैं ॥ ११०७ ॥

सन्ध्या की गोधूलि छाया के कारण चन्द्रमा का प्रकाश अस्त-व्यस्त हो रहा है इसलिए वह खण्ड-खण्ड सदृश प्रतीत हो रहा है तथा उसकी छाया मार्गों पर पड़ रही है जो चन्द्रमा में लगे दाग से प्रतिफलित प्रतीत होती है ॥ ११०८ ॥

रात में ताराओं के उदित हो जाने से आकाश एक ऐसे कपाल की भाँति दिखता है जिसमें कि जहाँ-तहाँ छिद्र हो गये हों मानो ब्रह्माण्ड का ऊपरी अर्द्धभाग कालान्तर से जर्जर और सछिद्र हो गया हो ॥ ११०९ ॥

धूम और धूल के अवरोध के क्रमशः प्रशान्त हो जाने के कारण अन्धकार अब प्रविरल हो गया है यद्यपि रजनी (समय बीतने से) घनीभूत हो गयी है ॥ १११० ॥

मूढ-ससि-दिणअरालोअ-मज्झ-पुंजिज्जमाण-तम-कसणं ।
संजाअमुहअ-धारा-णिम्मल-खग्गोवमं गअणं ॥ ११११ ॥

पेरंतेसु दरावद्ध-तिमिरमोसुक्क-कमल-परिसामं ।
आभाइ लावअ-वहू-वच्छ-कसाय-प्पहं गअणं ॥ १११२ ॥

गह-णिवह-बिंदु-संदोह-समिअ-संज्झाणलो समुक्खिवइ ।
उअय-सुपण्णो गअणम्मि अमअ-कलसं व ससि-बिंबं ॥१११३॥

तम-महुअर-जालुप्पअण-पअड-मअ-मंडलं णिसा-वइणो ।
बिंबं माहवमिव पिंड-खंडमावाडलं उअह ॥ १११४ ॥

उक्खिप्पइ गअण-तुला-दंडेण समूससंत-कर-केऊ ।
पच्छा रवि-पिंड-भरोणएण कलसो व्व सस-इंधो ॥ १११५ ॥

पश्चिम में डूबते सूर्य तथा पूर्व में उदय होते चन्द्रमा के मध्य अन्धकार की कालिमा से युक्त आकाश अपने दोनों ओर की प्रभा से युक्त खड्ग की भाँति दिख रहा है ॥ ११११ ॥

क्षितिजों में धीरे-धीरे बढ़ते अन्धकार तथा शुष्क कमल की भाँति घनी नीलिमा युक्त आकाश माया लावक के वक्ष के समान कसैला दिख रहा है ॥ १११२ ॥

उदय काल रूपी सुवर्ण गोधूलि की अग्नि को बुझाने के लिए नक्षत्रपुंज के सदृश अमृत की बूंदे छिड़क कर अमृत क्रमशः के रूप में चन्द्रमण्डल को आकाश में उठा रहे हैं ॥ १११३ ॥

इस समय चन्द्रमण्डल की ओर देखिये जो शुद्ध शक्कर के ढेर के समान है और जिसमें मृग की आकृति स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है क्योंकि अन्धकार रूपी भ्रमर वहाँ से उड़ चुके हैं ॥ १११४ ॥

सूर्यास्त के पश्चात् सूर्य और चन्द्र आकाश-तुलादण्ड के दो पलड़ों की भाँति बन जाते हैं। पश्चिम में सूर्य का पिण्ड अधिक वजनी दिखाई पड़ता है इसलिए वह तुलादण्ड को नीचे झुका देता है जिससे चन्द्रमा ऊपर टँगा हुआ है और सूर्य नीचे उतरने से लग रहे हैं ॥ १११५ ॥

विहडइ हव्ववह-सिहा-कडप्प-पेल्लिअ-पुडं णडालम्मि ।
कह-कहवि णिविड-भिउडी-विहंग-संपिंडिअं णयणं ॥ ७४१ ॥

इअ तिणयण-रोसाणल-विलुत्त-देहो वि कुसुम-कोअंडो ।
जासु णिसण्णो अज्ज वि अउंठ-बाणोच्चिअ जयम्मि ॥ ७४२ ॥

आलुलिअ-वेणि-लेहं भमिअं तारं च भुअलआ-जुअलं ।
णेवच्छं जाण विलास-कंपिअच्छाइं अ मुहाइं ॥ ७४३ ॥

ताण रमणीण णअ-बाहु-बिसलआमट्ठ-कंठ-परिणाहो ।
उव्वहइ सो विलासी णिआह-णेवच्छ-विच्छित्तिं ॥ ७४४ ॥

तेण स पल्लव-भंगं चूडामणि-भावमतरुणं ताण ।
णिज्जइ कुसुमं आ-सुरहि-केसरं णव-कलंवाण ॥ ७४५ ॥

बड़ी कठिनाई से अनलयुक्त उनका तृतीय नेत्र पूर्णरूप से खुल पाया। उनकी पलकों के अन्दर से अग्निज्वाला पर दबाव पड़ा और उसी समय उनकी भृकुटि का ऊपर से दबाव डाला ॥ ७४१ ॥

इन स्त्रियों पर आज भी पुष्पधन्वा कामदेव विजयी होता है, उन पर उसके बाणों का सफल प्रयोग चलता है और यद्यपि इस समय वह अनङ्ग है क्योंकि वह शिव जी के कोप से खुले तृतीय नेत्र की अग्निज्वाला में स्वाहा हो चुका है ॥ ७४२ ॥

इन स्त्रियों की वक्र-वेणी, प्रकाशयुक्त गौरवर्णी भुजलता तथा मुखमण्डल पर लगी सुगन्ध एवं उनके चञ्चल नयन आज भी आकर्षण के केन्द्र हैं ॥ ७४३ ॥

उस प्रतापी राजा की उन्नत ग्रीवा के चारो ओर इन सुन्दरियों की कमलवत् कोमल भुजायें लिपटी हुई हैं और राजा यशोवर्मा निदाघ ग्रीष्म-कालीन वस्त्रों में विलास कर रहा है ॥ ७४४ ॥

उस राजा द्वारा नवकदम्ब तरुओं के पूर्ण खिले हुए सुगन्धित कुसुमों से उन रमणियों के लिए चूड़ामणि बनायी जा रही है ॥ ७४५ ॥

आ-मेह-समय-सुहआ संभिण्णोव्वण-केअअ-सुअंधा ।
सीअरिणो से हिअअं हरंति रअणी-मुह-समीरा ॥ ७४६ ॥

कुमुआवबोह-महुरा विरलागअ-मेह-खंडिअ-मिअंका ।
अग्घंति णिसा असमत्त-गलिअ-सलिलागमा तस्स ॥ ७४७ ॥

णीसासा खण-विरहे फुरंति रमणीण सुरहिणो तस्स ।
कड्ढिअ-हिअअ-ट्ठिअ-कुसुम-बाण-मअंरद-लेस व्व ॥ ७४८ ॥

सो दीसइ उहय-दिसा-पहाविआणंद-बाह-सलिलेहिं ।
ताण परिरंभ-पसरंत-भुअलएहिं व अच्छीहिं ॥ ७४९ ॥

सन्ध्या कालीन समीर जो कि मेघों के घिर जाने तक बहुत अच्छा लगता है जो केतक की सुगन्ध से भरा हुआ होता है और जो सीकरों से शीतल होता है, हृदय को हर लेता है ॥ ७४६ ॥

राजा यशोवर्मा के लिए रातें अत्यन्त रूचिकर प्रतीत हो रही हैं जबकि उस चन्द्रमा के साथ कुमुदिनी खिलखिला रही है जो मेघावरण के कारण कभी ढंक जाता है जो कभी खुल जाता है तथा वर्षा की बौछारों का तो कहीं अन्त ही नहीं दिखता है ॥ ७४७ ॥

मात्र एक क्षण के भी वियोग में उन कामिनियों की सुगन्धित निःश्वास उनके हृदय से फूटकर निकल पड़ती है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो हृदय लगे हुए कामदेव के पुष्प बाण का मकरन्द निसृत हो रहा हो ॥ ७४८ ॥

वह उनके उन उत्सुक नयनों से अपलक देखा जा रहा है जो उसके लिए दोनों दिशाओं में हर्षाश्रु भरे हुए दौड़ते हैं। ऐसा लगता है कि उसके आलिंगन हेतु उन नयनों की कोमल भुजाएँ बढ़ रही हैं ॥ ७४९ ॥

[आगे के २३ कुलक पदों में कवि ने उन कामिनियों के राजा के अत्यन्त समीप होने का चित्रण किया है ।]

अवि अ ।

फलिहच्छोअर-दीसंत-पट्ठि-वेणी-सिहाओ व्व सहंति ।
सहसा वलि-भंग-तरंगिणीहिँ जा रोम-लेहाहिँ ॥ ७५० ॥
ससिमिव णवोइअं विहसिएण अहर-प्पहाणुविद्धेण ।
सासामोअ-मिलंतालि-लंछणं जा पआसेंति ॥ ७५१ ॥
जा कण्ण-किसल-करअल-मिलंत-चल-तारआहिँ दिट्ठीहिँ ।
कंदुअ-कीलं व स-सेस-बाल-भावा पआसेंति ॥ ७५२ ॥
जा ललिअ-लआ-लीलं वेलंबंति सिअ-दंत-कुसुमाओ ।
सहसा महुअर-जालाअमाण-णीलंबरावरणा ॥ ७५३ ॥

वे स्त्रियाँ, जिनके उदर पर तीन पंक्तियों में विभक्त रोमावलियाँ विद्यमान हैं, अत्यन्त मनोमोहक प्रतीत हो रही हैं जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों उनकी पीठ पर लटकती हुई केश की वेणी उदरस्थल के पारदर्शी होने के कारण प्रत्यक्ष हो रही हैं ॥ ७५० ॥

जिनकी स्मिति में उनके गुलाबी अधरों की प्रभा ऐसे स्पष्ट हो जाती है मानों नवोदित चन्द्र का गुलाबी प्रकाश हो तथा उनकी सुगन्धित श्वास से आकर्षित भ्रमर ही उसका काला धब्बा हो ॥ ७५१ ॥

उनके कानों में मृदुल किसलय युक्त कर्णाभूषण उनके गुलाबी करतल की भाँति दिखते हैं और नाचती हुई उनकी नयन पुतलियाँ कभी पीछे तो कभी कर्णाभरण की ओर जाती हुई इस प्रकार लग रही हैं मानों वे रमणियाँ अपने अवशिष्ट बालभाव में कन्दुक-क्रीडा कर रही हैं ॥ ७५२ ॥

नीलावरण में वे कामिनियाँ मधुकर समूह की भाँति दिखाई पड़ती हैं । उनकी ललित लीला लताओं के समान प्रतीत होती है और उनकी उज्ज्वल दन्तपंक्ति लतापुष्प की शोभा को प्राप्त हो रही हैं ॥ ७५३ ॥

जाआ सइ-दिण्ण-सण्णेज्झ-मअण-पूआअरा सरीरेसु ।
सरस-णह-मंजरि-मअं रत्तासोअं पिव लिहंति ॥ ७५४ ॥
जाआ पसंग-परिग्गहिअ-हारि-हरिअंसुआ पआसेंति ।
रंभा-गब्भत्तणमणह-परिअरं ऊरुदंडाण ॥ ७५५ ॥
लीलोणअ-मुह-अंदाण खंडिआहर-णिहेण थणवट्टे ।
हिअअं जाण पाअड-वम्मह-बाण-व्वणं फुरइ ॥ ७५६ ॥
थण-मज्झ-च्छवि-तारं कुप्पासंतरमणंग-णासम्मि ।
उद्धं व लोअणं तिणयणस्स बंदीकअं जाहिं ॥ ७५७ ॥
णह-रेहा जाण थणेसु सहइ रोमंच-खंडिअ-णिवेसा ।
खण-विरह-भीरुणो सीवणि व्व फुडिअस्स हिअअस्स ॥ ७५८ ॥

ये सुन्दरियाँ, जो कामदेव को सदा सादर पूजती हैं और उसे सदैव अपने समीप ही रखती हैं, अपने शरीर पर रक्ताशोक तरु का चित्र नखक्षत द्वारा पूर्ण छवि के साथ खींजती हैं ॥ ७५४ ॥

अत्यन्त आकर्षक पारदर्शी प्रकाशयुक्त हरित वस्त्रों में विशेष प्रेम प्रदर्शन के अवसर पर सजी हुई उन स्त्रियों के जघन भाग लहराते हुए पत्तों से युक्त निर्मल केले के स्तम्भ की भाँति दिखते हैं ॥ ५५५ ॥

प्रणय-लीला के समय झुका हुआ उनका मुखचन्द्र तथा अधर एवं स्तनों पर पड़े दन्त-नख-चिह्न इस प्रकार प्रतीत होते हैं मानों उनके हृदय में स्थित कामदेव के वाणों का घात हो ॥ ७५६ ॥

उनकी कञ्चुकी का मध्यभाग दोनों स्तनों के बीच के स्थल से इस प्रकार शोभायमान हो रहा है मानों शिव जी का तृतीय नेत्र इन स्त्रियों के काल में उलझा पड़ा हो जिनके कारण इनके इष्टदेव काम का विनाश हुआ था ॥ ७५७ ॥

जिनके स्तनों पर लगे हुए नख-क्षत के चिह्न रोमाञ्च के कारण खण्डित हो चुके हैं, इस समय वियोग के एक क्षण में वे हृदय पर दबी हुई सिलाई वाले जोड़ की भाँति लग रहे हैं ॥ ७५८ ॥

चक्क-जुएण व वम्मह-रहस्स पिअहुत्त-गामिणो जाओ ।
थण-मंडलेण परिरंभ-लंभ-विअडेण सोहंति ॥ ७५९ ॥

पेच्छंति जाओ चलणे चंपअ-कलिओवआरमुज्झंते ।
कण्णुप्पल-पहर-भया गहिए व्व पईव-मालाहिं ॥ ७६० ॥

दंसण-णिवीअमीसा-वस-कूणिअ-णयण-पम्ह-भावेण ।
जा पंजरिअमिव पिअं धरेंति अवसरण-संकाए ॥ ७६१ ॥

अहर-प्पहा-दरारुण-दसण-मऊहेहिं थण-विसारीहिं ।
वम्मह-वण-बंधेहिं व जाओ सरुहिरेहिं सोहंति ॥ ७६२ ॥

दीह-पिहुलत्तणेणं हत्थ-दढावेढणेक्क-जोग्गाओ ।

जो उन गोल स्तनयुग्म से अतीव लावण्यवती दिखतीं हैं जो अपने प्रेमी का गाढ़ालिंगन पाने के लिए आगे की ओर उभरे हुए हैं। इस प्रकार वे दोनों स्तन उनके प्रेमी के पास पहुँचने वाले कामदेव के रथ के पहिया-से दिखते हैं ॥ ७५९ ॥

वे स्त्रियाँ चम्पक कलियों से उपचरित अपने चरणों को मुग्ध भाव से देखती हैं मानों कि कर्णोत्पल के प्रहार के भय में दीपमाला उनके चरणों पर आ गिरी हो। (रतिकाल में नायिका में क्रीडवश दीपमाला को अपने कर्णोत्पल से बुझा देती हैं) ॥ ७६० ॥

उनके अपलक नयनों ने प्रिय के दर्शन का पान करके ईर्ष्यावश उसे जैसे पिंजड़े में इसलिए बन्द कर रखा है कि कहीं ऐसा न हो कि वह चला जाये ॥ ७६१ ॥

उनकी दन्तपंक्ति की चमक अधरों की लाली के प्रकाश से कुछ-कुछ लाल हो गई है और उनके उन्नत उरोजों तक जिसकी प्रभा फैली है, उससे वे अत्यन्त मोहक लगती हैं। और प्रतीत होता है मानों मदन के पुष्पवाणों से विद्ध होने के कारण उस पर लगी पट्टी रक्त से सन गई है ॥ ७६२ ॥

उन कामिनियों के स्थूल तथा लम्बे केश के जूड़े सरलता पूर्वक

जाण कअग्गह-तण्हं देंति बला वेणि-मालाओ ॥ ७६३ ॥

अवरद्ध-रमण-पडिमं पि जा ण्हवंति व्व गंडवासम्मि ।
अण्ण-ललणा-पसंगावकलुसिअं बाह-सलिलेण ॥ ७६४ ॥

सइ संघट्ट-समुज्जल-कोडिं कणअ-रसणं विमोएंति ।
पिअ-मुह-णिहित्त-विअसंत-लोअणा जाआ समयम्मि ॥ ७६५ ॥

जा रोसुक्कंपिअ-कण्ण-कुसुम-रअ-पुंज-पूरिअ-जणीओ ।
अवचुण्णेंति व दर-रूढ-संठिए वम्मह-प्पहरे ॥ ७६६ ॥

कंपाआ वहंति थणत्थ-हत्थ-रणिरंगुलीय-हाराओ ।

हाथों में आ सकते हैं, अस्तु, वे प्रेमियों की कचग्रहण की उत्कट इच्छा को प्रेरणा देते हैं ॥ ७६३ ॥

जिस समय अविश्वासी प्रेमी उन स्त्रियों के पास आता है उस समय उनके नयनों से अश्रु की जो अविरल धारा बहती है वह न केवल उनके विस्तृत कपोज को धोती है वरन् उस अपराधी की प्रतिमा को भी इस प्रकार विचार स्वच्छ बना देती हैं ताकि पर स्त्री के सम्पर्क से उससे लगा हुआ कलुष धुल जाए ॥ ७६४ ॥

जो उचित समय पर सदा धारण किये हुए उज्ज्वल स्वर्ण नीवी वस्त्र की गाँठें खोलती हैं। उस समय उनके प्रफुल्ल लोचन अपने प्रिय के मुखमण्डल पर टिके रहते हैं ॥ ७६५ ॥

उनके कानों में सजे हुए कुसुमों की रज जिस समय उनके स्तनों पर गिरती है उस समय मारे रोष के वे उसे अपने हाथों से इधर-उधर हटाती हैं जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानों कामदेव के वाण प्रहार से क्षत-विक्षत अंगों के उपचार हेतु वे चूर्ण छिड़क रही हैं ॥ ७६६ ॥

प्रणयोल्लास में कम्पन के कारण उनके विस्तृत स्तनों पर विराजमान हार तथा अंगूठी मुखारित होकर मधुर ध्वनि उत्पन्न करते हैं जिसे देखकर आश्चर्य होता है कि विना अपने स्थान से

अंगं थामेच्चिअ मुहल-मेहला-णेउरं जाओ ॥ ७६७ ॥

चित्त-मणि-कण्णऊराहिविद्ध-विविहोवराअ-पम्हेहिं ।
वण्णअ-तूलिह्लेहिं व लिहंति जा रमणमच्छीहिं ॥ ७६८ ॥

एक्क-दिसा-पडिलक्खिअ-विमल-दसा चलण-णह-मऊहेहिं ।
जा लावण्ण-पडीआ व्व सहंति परिमास-मउईओ ॥ ७६९ ॥

पिअहुत्तं जाण विलास-लोल-लीला-फुरंत-पम्हाइं ।
उड्डेंति व तरलिअ-पक्ख-संपुडग्गाइं अच्छीइं ॥ ७७० ॥

आसण्ण-पिअमाहर-घडंत-फुड-दसण-किरण-भावेण ।
जा मुह-रसासवं पिव पिअंति लीला-मुणालेहिं ॥ ७७१ ॥

हिले-डुले अथवा चले-फिरे ही उनकी करधनो तथा नूपुर जैसे इस समय ध्वनि उत्पन्न कर रहे हैं ।। ७६७ ।।

जो कर्णाभूषणों के रत्नादि के विविध रंगों की किरणों के मिश्रण से अपने नयनों में नाना राग-रंग भर कर, ऐसा प्रतीत होता है, अपने प्रेमी का तूलिका से चित्र उरेह रही हैं ।। ७६८ ।।

जो अपने चरणों के अंगूठों की चमकती किरणों के कारण अपने शरीर का समुज्ज्वल अंश एक दिशा में करके इस प्रकार मोहक लगती हैं मानों उन चरणों के प्रकाश का मृदुल स्पर्श युक्त सुन्दर मंचीय पट हो ।। ७६९ ।।

अत्यन्त सुन्दर विलास लीला में स्फुरणशील उनके नयन अपने प्रिय के मुखमण्डल पर टिके हुए इस प्रकार दिखते हैं मानों अत्यन्त तरलता के कारण उनकी नयन पुतलियाँ उड़ रही हैं ।। ७७० ।।

अपने समीपस्थ प्रियतम के अधर पर उनके स्वच्छ तथा श्वेत रश्मियुक्त दन्त मिलकर ऐसा दृश्य उपस्थित करते हैं मानों वे अपने प्रिय के मुख रसामृत का अपने कमलमुख से पान कर रही हैं ।। ७७१ ।।

वालासु तासु णव-दिट्ठिराअ-हीरंत-हिअअ-तरलाइं ।
अणुवज्झंताइं व से गुणेहिं सोहंति ललिआइं ॥ ७७२ ॥
परिरंभण-चकलिअं सामा-थणमंडलं उरे तस्स ।
पावइ लीला-अल्लअ-णिहित्त-णलिणी-दल-च्छायं ॥ ७७३ ॥
सेस-गुण-णिरहिलासा रूवंचिअ से पिअंति तरुणीओ ।
को वा अण्णेसइ दमणअस्स दल-सुरहिणो कुसुमं ॥ ७७४ ॥
वाम-कर-पेल्लिओणमिअ-मेहला-णिविडिअंसुए तस्स ।
वीसमइ विलासवईण जहण-विंबे खणं दिट्ठी ॥ ७७५ ॥
हसिअं च भामिअच्छं मुहं च णव-बउल-पंडुर-कवोलं ।
जहणमणिब्भच्छिअ-मेहलं च जीअं विलासाण ॥ ७७६ ॥

इन युवतियों के साथ महाराज यशोवर्मा की विलास तथा नव-अनुराग से समुल्लसित हृदय का रोमांच, जो उन बालाओं के लोल-लोचनों में उसके गुणों के रूप में उतरता है, अत्यन्त रोचक प्रतीत होता है ॥ ७७२ ॥

आलिंगन के समय यशोवर्मा के वक्षःस्थल पर उन रमणियों के गोल स्तन चक्र की भाँति प्रतीत होते हुए ऐसे लगते हैं मानों नलिनी-पत्र की लावण्यता सुन्दर ढंग से आर्द्र में स्थापित की गयी हो ॥ ७७३ ॥

महाराज के अन्य गुणों की कामना त्याग कर ये युवतियाँ इस समय केवल उसकी रूप माधुरी का ही पान कर रही हैं। सच है, भला कौन ऐसा होगा जो दमनक की पत्तियों की सुरभि छोड़कर उसके पौधे के पीछे पड़ेगा ? ॥ ७७४ ॥

महाराज की दृष्टि एक क्षण के लिए उन रमणियों के गोल-जघन स्थलों पर पड़ी जिन पर विद्यमान मेखला राजा के वामहस्त से दबाने के कारण कस उठी थी ॥ ७७५ ॥

कामिनी का हास, चपल दृष्टि तथा नववकुल पुष्प की भाँति पीत कपोल एवं लटकती मेखलायुक्त जघन विलास के जीवन कहे गये हैं ॥ ७७६ ॥

अवि अ ।
अणुकुंडलमा विवइण्ण-सरस-कबरी-विलंघिअंसम्मि ।
सीसम्मि कोसुमो फुरइ चारु-चूणामणि-णिवेसो ॥ ७७७ ॥

उप्पुसिआहर-पेरंत-पिंजर-ट्ठविअ-कुंकुमं हरइ ।
णह-विलिहिअ-कसणुम्मिल्लमाण-भुमअं मुहंबुरुहं ॥ ७७८ ॥

परिगंडत्थलमासवणलंवि मअ-णाहि-पंक-लेहम्मि ।
अग्घइ अवंग-मग्गम्मि सरसमासोअमुत्तंसं ॥ ७७९ ॥

अंतो मणिदाम-च्छवि-विच्छुरिअच्छंसुअं सुहावेइ ।
थणवट्टमुवरि-विक्खित्त-सबल-कुसुम-च्छडाहरणं ॥ ७८० ॥

इअ दर-चक्खिअ-मइराणुविद्ध-तंबोल-परिमलो हरइ ।

किसी बाला के सिर पर पुष्पों का चूड़ामणि उस समय लावण्य का केन्द्र बन जाता है जब स्नान के अनन्तर उसके गीले केश तथा अलकें बिखरी हों और कर्णाभूषण कन्धे तक झूल रहे हों ॥ ७७७ ॥

कामिनी का मुख कमल उस समय आकर्षक लगता है जब उसके अधर से तो कुँकुम पुँछ गया हो परन्तु अञ्चल में लगा हुआ हो और नख द्वारा भौहों पर काली रेखा खिंची हो ॥ ७७८ ॥

नव अशोक पुष्प का कर्णाभरण, जो अपांग से लोल कपोलों तक लटक रहा हो, अतीव आकर्षक प्रतीत होता है क्योंकि नयन की कोरों के उस मार्ग पर रहता है जो मृगमद से रेखांकित है ॥ ७७९ ॥

किसी भी युवती के विपुल स्तन उस स्थिति में आनन्द उत्पन्न कर देते हैं जब उनके ऊपर श्वेत वसन शोभा पाता हो जिसके अन्तर्भाग में रत्नों की प्रभायुक्त कण्ठहार लटक रहा हो और साथ ही साथ काले-सफेद पुष्पों का सजा हुआ हार भी शोभा पा रहा हो ॥ ७८० ॥

इस प्रकार सुन्दरियों का समूह, जो कुछ-कुछ मदिरा में डुबाये

अणुमज्जणमाहरणावलंबणो से पिआ-सत्थो ॥ ७८१ ॥

किं च जाअं ।

सोम्माहेसु णिसम्मइ दिट्ठी राउज्जलेसु रमणीण ।
सारस-वावी-परिपंडुरेसु से दसण-वासेसु ॥ ७८२ ॥

उब्भिज्जइ जड-भावावरोह-दढ-मअण-संणिवेसम्मि ।
अहरम्मि सरस-वउलाहिवाडला राय-विच्छित्ती ॥ ७८३ ॥

पढमं छण-मग्गिअ-वइअरेसु संचरइ मंडणुच्छाहो ।
गहिअ-हिमावंडुर-मरुअएसु पारत्ति-दामेसु ॥ ७८४ ॥

परिकत्रिस-बिंदु-मालावसेस-मअणाहि-दंतुरे फुरइ ।
वअणम्मि मअंकारंभ-पेलवा कुंकुम-च्छाया ॥ ७८५ ॥

गये ताम्बूल की सुगन्ध बिखेरता है, अपने प्रेमी राजा को मोहित कर रहा है ॥ ७८१ ॥

उसके नेत्र सुन्दरी बालाओं के उन ओष्ठों पर टिक जाते हैं जो अत्यन्त रागानुराग के साथ वापी के साथ सारस की भाँति पीत-श्वेतवर्णी-से दिखते हैं ॥ ७८२ ॥

उन रमणियों के अधरों पर सरसवकुल पुष्प की भाँति गुलाबी रंग की पर्त लगी है जिस पर मोम की मोटी पर्त शीत के दुष्प्रभाव से बचने के लिए जमी है ॥ ७८३ ॥

प्रथम-मिलन के अवसर पर उन ललनाओं में मण्डन का उत्साह इतना अधिक होता है कि वे जो पुष्पहार धारण करती हैं वह परात्ति पुष्पों से बनता है और उसमें खिले हुए मरूबक कुसुम की प्रभा झलकती है तथा वे दोनों मिलकर पीत-श्वेत की छवि उत्पन्न कर देते हैं ॥ ७८४ ॥

उदय होने हुए चन्द्र की चिकनी-मृदुल कान्ति के समान कुमकुम की छाया उनके मुखमण्डल पर प्रभा बिखेरती है। साथ ही भूरे रंग की मृगमद रेखा नाभि तक फैलती दृष्टिगोचर होतो है ॥७८५॥

संगलइ मरुवअ-च्छेअ-सबल-विणिउत्त-दमणअ-दलासु ।
लावण्णं मलिअ-ट्ठिअ-पिसंग-कुंदासु कबरीसु ॥ ७८६ ॥

इअ रअणी-भंगुग्गअ-पिअंगु-पडिवण्ण-सेहरो हरइ ।
सिसिरम्मि मलिअ-मणहर-पसाहणो से पिआ-सत्थो ॥ ७८७ ॥

अवि अ ।

फल-णिग्गम-पडिपेल्लिअ-परिसिढिलालग्ग-मउल-चुण्णाइं ।
चूआण झणकारेइ मारुओ मंजरि-मुहाइं ॥ ७८८ ॥

चित्तालक्खिअ-मउलुग्गमाण सायं णिवेसिअ-जलाणं ।
गंधमणामोअं सत्तलाण कालो विरल्लेइ ॥ ७८९ ॥

आवाइ माहवीणं विच्छाय-परिट्ठिएक्क-कुसुमासु ।

उनके जूड़े में सजे हुए दमनक-पत्र अतीव मोहक प्रतीत होते हैं जिस पर मरूवक कुसुम की प्रभा झलकती है साथ ही कुछ भूरे रंग के कुछ पुष्प उस पर शेष हैं जो इस समय मसल गये है।। ७८६ ।।

इस प्रकार शीतकाल में उनका सौन्दर्य अतीव मनुरंजक प्रतीत होता है क्योंकि खिले हुए प्रियंगु सुमन से सजाये गये जूड़े की छवि रात्रि के अन्त में, जो पहले अत्यन्त आकर्षक थी, मर्दन के कारण फीकी पड़ गयी है ।। ७८७ ।।

आम्रमंजरी की सुगन्ध से भरी वायु चूर्णयुक्त होने से झंकार ध्वनि करती हुई बहती है। मंजरी की कलियाँ ढीली पड़ने लगी हैं क्योंकि उनके भीतर से तिकोले निकलकर बाहर आ रहे हैं।। ७८८ ।।

सायंकाल सप्तल कुसुम की गन्धहीन सुरभि फैलती है जब जल की फुहारों में उसको लघु कलिकाएँ निकलने लगती हैं जिसे सतर्क रहने पर ही देखा जा सकता है ।। ७८९ ।।

खिले हुए माधवी पुष्प की स्वच्छ सुरभि, एकाध मुर्झाए सुमन

णिम्मल-सोरहं मंजरीसु फल-गंठि-जडिलासु ॥ ७९० ॥
इअ से दिणेसु महु-सिरि-परिणाम-सुहेसु उववण-णिवेसा ।
णंदंति पणइणी-परिअणस्स णअरोवरोहेसु ॥ ७९१ ॥

किं च ।
पेरंत-हरिअ-कोमल-खज्जूर-दलुज्जलं कवोलाण ।
णयणंत-गलिअ-बाहंजणाण णिव्वडइ लावण्णं ॥ ७९२ ॥
दर-मउलण-मज्झोणअ-तणु-रेहाअंत-धवल-मावाइं ।
एंति णव-ससिअलाहं अंतोताराइं अच्छीइं ॥ ७९३ ॥
थोअमिव खाम-गंडत्तणेण परिलक्खिओण्णअ-णिवेसो ।
परिवाअइ कक्केअण-पराअ-कणउज्जलो अहरो ॥ ७९४ ॥

को छोड़कर धीरे-धीरे समाप्त प्राय हो जाती है क्योंकि उसके पुष्पों में फल की गाँठें पड़ जाती हैं ॥ ७९० ॥

इस प्रकार अपनी प्रेयसियों के साथ राजा अपने नगर के बाह्योद्यान में इन दिनों आमोद-प्रमोद मनाता है जबकि उसका गौरव वसन्त श्री के समान विकसित हो चुका है ॥ ७९१ ॥

[आगे के ५ पदों में कवि ने नवयुवतियों के मोहक सौन्दर्य का वर्णन प्रस्तुत किया है]

उन युवतियों के कपोल खजूर की उन मृदुल पत्तियों के समान प्रभायुक्त है जो किनारे-किनारे हरी हैं और पूर्ण विकसित हैं तथा उन पर नयनाश्रु के साथ ढुलके अंजन की रेखाएँ दिख रही हैं ॥ ७९२ ॥

काली पुतलियों तथा कुछ-कुछ बन्द करने पर उनके नेत्रों का श्वेतभाग मध्यांश को दबाते समय नवीन चन्द्रमा की छबि को प्राप्त करते हैं ॥ ७९३ ॥

उनके अधर कुछ-कुछ शुष्क हैं और उनकी आकृति कपोलों की दुर्बलता के कारण प्रत्यक्ष हो रही है, इस प्रकार वे कर्कतन पराण कणों के चूर्ण की भाँति शोभा पा रहे हैं ॥ ७९४ ॥

दोब्बल्ल-पंडुराण उम्हारुणिअ-णव-केसर-गुणाण ।
विरलत्तणं व थोवं उवेइ मुद्धाण थणआण ॥ ७९५ ॥

इह तस्स पढम-मअणाणुबंध-पडिबद्ध-मुद्धभावासु ।
दिट्ठी णिहुअ-विलासालसासु वीसमइ बालासु ॥ ७९६ ॥

अह तस्स थिर-भुअक्खंभ-णिमिअ-णीसेस-भुवणभारस्स ।
आसि कइराअ-इंधो बप्पइराओ त्ति पणइ-लवो ॥ ७९७ ॥

अप्पा एत्तिअमेत्तेण णवर विरसो वि जस्स पडिहाइ ।
सिरि-कमलाउह-चलणेहिँ कह वि जं गहिअ-बहुमाणो ॥७९८॥

भवभूइ-जलहि-णिग्गअ-कव्वामअ-रस-कणा इव फुरंति ।
जस्स विसेसा अज्जवि विअडेसु कहा-णिवेसेसु ॥ ७९९ ॥

उन युवतियों के स्तन थोड़े-थोड़े वकुल पुष्प की भाँति पीन तथा सूर्य के ताप से लाल होकर भी इस समय दुर्बलता के कारण पीत-श्वेत-से दिख रहे हैं ॥ ७६५ ॥

इस प्रकार राजा यशोवर्मा के लोचन उन नवयुवतियों पर टिक गए जो प्रथम बार मुग्ध होकर निरन्तर अपनी भोग-कामना की पूर्ति में लगी रहीं और उसके साथ निश्चिन्त होकर विलास करती रहीं ॥ ७६६ ॥

फिर उस राजा ने, जिसकी स्तम्भ सदृश भुजाओं पर निखिल विश्व का भार टिका था, वाक्पतिराज को 'कविराज' की पदवी से अलंकृत किया जबकि यह कवि उसके कृपा-सिन्धु का मात्र एक बूंद था ॥ ७६७ ॥

यद्यपि उसकी आत्मा इतने से ही तृप्त थी तथापि उसे कमलायुध (नामक महाकवि) द्वारा बड़ा सम्मान प्राप्त हुआ ॥७६८॥

जिसकी विशिष्ट काव्य रचना आज भी उसके काव्य प्रबन्धों में शोभा पा रही है और वह काव्यरसामृत भवभूति के काव्यसिन्धु के मन्थन से निकला है ॥ ७६६ ॥

भासम्मि जलण-मित्ते कुंतीदेवे अ जस्स रहुआरे ।
सोबंधवे अ बंथम्मि हारिअंद अ आणंदो ॥ ८०० ॥
आलेक्खिअं च सरसं च परिस-लोणं च सारवंतं च ।
थिरमुज्जलं च छाया-घणं च गी-विलसिअं च ॥ ८०१ ॥
आगम-वाआ छंदण्णुआ अ ते भरह-गोअम-प्पमुहा ।
णंदंति जमेवंहास-कारिणो सार-कइणो अ ॥ ८०२ ॥
किं च ।
भरिअ-सवण-ट्ठिअं भूरि-कइ-गुणोवास-कंखिणो जस्स ।
सुमणिअमहो णअंति व विम्हय-चलिएहिँ सीसेहिं ॥ ८०३ ॥
तो सो गोट्ठी-परिसंठिएहिँ सप्पुरिस-संकहावसरे ।
भणिओ विम्हय-विअसंत-णयण-वत्तं विअड्ढेहिं ॥ ८०४ ॥

जो भास, ज्वलनमित्र, कुन्तीदेव, रघुवंशकार कालिदास, सुबन्धु तथा हरिश्चन्द्र के साहित्य में अत्यन्त आनन्द प्राप्त करता है ॥ ८०० ॥

जिसका प्रौढ प्रबंध अत्यन्त सरस, मर्मस्पर्शी, सारगर्भित, सुदृढ़ उज्ज्वल भावगाम्भीर्य तथा वाणी विलास के आनन्द स्रोत सदृश है ॥ ८०१ ॥

शास्त्रों के वे मर्मज्ञ, जो व्याकरण के ज्ञाता, छन्दों ज्ञान में पटु, नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि, न्यायशास्त्र प्रणेता गौतम, महाभारत तथा पुराणों के रचयिता तथा तत्त्ववेत्ता कविगण उसे निरन्तर प्रेरणा देते रहते हैं ॥ ८०२ ॥

जिसके श्रोतागण उससे उच्चतर काव्य प्रतिभा प्रदर्शन की आशा तो करते हैं किन्तु सहसा उसका काव्य चमत्कार देखकर दंग रह जाते हैं और जो कुछ श्रवण किया उसे स्मृति में स्थापित कर रखा है ॥ ८०३ ॥

ऐसे कवि से विद्वद्गण ज्ञानियों के समक्ष राजसभा में विस्फारित नेत्रों से विस्मय के साथ हमारे महाराज यशोवर्मा के विषय में बोलने का आग्रह किया करते हैं ॥ ८०४ ॥

धारेइ जलहरोहुर-वसुंधराबंधबंधुरं सेसो ।
कहवि विणिउंचिअ-ट्ठिअ-विसट्ट-कंठं फणा-वलयं ॥ ८०५ ॥
दीसंति जअ-विणासुल्लसंत-घण-धूमकेउ-दंड व्व ।
जल-मज्जंत-दिसागअ-खणुद्ध-धरिआ करक्खंभा ॥ ८०६ ॥
उल्लसिअ-वीइ-वलयंतराल-परिअत्तमाण-रवि-बिंबा ।
होंति सवाडव-जलण व्व गअण-मग्गे वि मअरहरा ॥ ८०७ ॥
विअलंत-विज्जु-वलया पलयंबुवह-णिवहा णिविज्जंति ।
तद्दिअस-पीअ-सलिला साणुसएणं व सलिलेण ॥ ८०८ ॥
जल-भवण-समालंविअ-सयणस्स मुरारिणो समुद्देण ।
दिज्जइ महा-पईवो व्व वीइ-संवेल्लिओ सूरो ॥ ८०९ ॥
जाआ वण्णासाआ अण्णेच्चिअ केवि संवलंताण ।

शेषनाग अपने उन सहस्रों फणों का केन्द्र धारण करते हैं जो उस पृथ्वी के विपुल भार से दबे हैं जिस पर जल का भार पड़ा है, इसीलिए उनका कण्ठ सूजकर संकुचित हो गया है ॥ ८०५ ॥

जल में निमग्न दिग्गज जब कभी क्षण मात्र के लिए अपनी शक्तिशाली स्तम्भसदृश सूँढ़ ऊपर उठाते हैं तो ऐसा लगता है मानो विश्वविनाश हेतु घना धूमकेतु प्रकट हो गया हो ॥ ८०६ ॥

अपने अन्तराल में आकाशपथ से उतरे हुए सूर्यमंडल को धारण किये हुए सागर ऐसे प्रतीत होते हैं मानो वे वड़वानल को अन्दर ही अन्दर भड़का रहे हैं ॥ ८०७ ॥

विद्युत-उगलते हुए घने मेघ इस समय प्रतिकारवश जल निगल रहे हैं क्योंकि वे अतीत में प्रतिदिन जल पिया करते थे ॥ ८०८ ॥

लहरों से संवेलित सूर्य इस प्रकार दिख रहे हैं मानो क्षीर सिन्धुशायी भगवान् विष्णु के भवन की सेवार्थ महाप्रदीप का कार्य कर रहे हैं ॥ ८०९ ॥

एक दूसरे से मिलकर सागर के जल का वर्ण तथा स्वाद

छीर-सुराउव्व-विआर-विसमिआ सअल-जलहीण ॥ ८१० ॥
मज्जइ सिहरारूढारुहंत-पुंजइअ-मुहल-सुर-लोओ ।
कुहर-भरण-क्कमोसीअसाण-जल-कलअलो मेरू ॥ ८११ ॥
चलणंत-णिवडिअं संभमेण पलयंबु-णिब्भरे भुवणे ।
आरुहइ रअअ-णावं व तिणयणो मउलि-ससि-लेहं ॥ ८१२ ॥
णाउल-भावो जोआणुवंध-संजमिअ-सास-पसरस्स ।
पव्वालिआणणस्स व्वि सयंभुणो साअर-जलेण ॥ ८१३ ॥
इअ पलय-जलप्फालिअ-चलंत-सुर-सेल-विहल-विबुहम्मि ।
अणहमवलंबणं ति-हुवणस्स जो जाअइ मुरारी ॥ ८१४ ॥

नितान्त भिन्न हो गया है और इस प्रकार विचित्र तथा विशिष्ट प्रतीत हो रहा है मानो सुरा और दूध का मिश्रण हो ॥ ८१० ॥

सुमेरू पर्वत इस समय जलमग्न है और देवगण एकत्रित होकर शोर मचा रहे हैं, उनमें से कुछ तो शिखरारूढ़ हो चुके हैं और कुछ इस समय चढ़ रहे हैं जबकि जल प्लावन का स्वर अब शनैः शनैः शान्त हो रहा है क्योंकि अधिकांश जल तो कन्दराओं में भर गया है ॥ ८११ ॥

त्रिलोचन शिव जैसे रजत नौका के माध्यम से अर्धचन्द्र पर आरूढ़ हो रहे हैं क्योंकि चन्द्रमा सारे संसार के जल-प्लावन के भ्रम में इस समय धीरे-धीरे शिव जी के शीश से उतरकर उनके चरणों पर आ गया है ॥ ८१२ ॥

स्वयंभू ब्रह्मा ने रंचमात्र भी आकुलता का अनुभव नहीं किया यद्यपि उनके मुखमण्डल के ऊपर से सागर का जल बह रहा था और वे अपनी योगसाधना से अपनी श्वास पर नियंत्रण किये हुए थे ॥ ८१३ ॥

जब सभी देवगण आकुल होकर उस सुर शैल पर शरण लिए हुए थे जो इस समय जल-प्लावन से डगमगा रहा था उस समय भी त्रिभुवन के लिए भगवान् विष्णु ही एकमात्र अवलम्ब थे ॥ ८१४ ॥

जस्स मह-धूम-लेहा रविणा स-मऊह-दाविअ-दलेण ।
अग्ग-घडिएण दीसइ कविसेक्क-फल व्व ताल-लआ ॥ ८१५ ॥

तस्स इर इमो सुव्वइ विग्गह-तुंगाहिहाण-पडिवण्णो ।
भुवणम्मि महासुर-वंस-वेरिणो अंस-णीसंदो ॥ ८१६ ॥

अह वा ।

ओसरइ समुप्पअणा रहस-घडंतंग-पेल्लण-विलोलं ।
तक्खण-विहडिअ-बंभंड-सअल-जालं व घण-वडलं ॥ ८१७ ॥

विहडंत-घण-विमुक्का परिअत्त-विमाण-वंचिआ कह वि ।
णिवडंति गलिअ-णिअ-पिञ्छ-विब्भमा तडिगुण-च्छेआ ॥८१८॥

भमिअं रय-विहुओअहि-समुच्छलंतेहिँ पक्ख-सेलेहिँ ।

ऐसे समय में भी महाराज यशोवर्मा के यज्ञ की धूमलेखा उन सूर्यदेव के सहयोग से उच्चतम हो रही थी जिनकी किरणें भूमितल पर विराजमान थीं । इस प्रकार वह राजा ताल तरू के एक मात्र लाल फल की भाँति प्रतीत होता था ॥ ८१५ ॥

ये हमारे महाराज जो सारे संसार में अपने उपनाम 'विग्रहतुङ्ग' से प्रसिद्ध हो गये थे अब दैत्यकुल के विनाशकर्त्ता भगवान् विष्णु के अंश माने जा रहे हैं ॥ ८१६ ॥

पक्षिराज गरूड़ की ऊँची उड़ान ने गगन में विचरते हुए मेघों को खण्ड-खण्ड कर दिया है जिसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है मानो सारा ब्रह्माण्ड छिन्न-भिन्न हो गया है ॥ ८१७ ॥

मेघों के तितर-बितर होने से विद्युत् के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं और विष्णु का विमान दिग्भ्रमित हो गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि गरूड़ के सुन्दर पंख उनके शरीर से विद्युत् के रूप में गिर रहे हैं ॥ ८१८ ॥

आकाश में पंखधारी पर्वतों की जो उड़ान हो रही थी वह गरूड़ की तेल चाल से उत्पन्न सागर विक्षोभ से वायु में बहक

साहेज्ज-संगएहिं महा-विहंगेहिँ व णहम्मि ॥ ८१९ ॥
दीसइ वेउग्घाडिअ साअर-मूल-रअण-प्पहाअंबो ।
पढमोवइआरुण-पेल्लिओ व्व मग्गो सुवण्णस्स ॥ ८२० ॥
सोहंति अमरिसुग्गम-विउण-विसाणल-सिहं विहंभंता ।
दर-खंडिअ-मुह-घोलंत-गरुल-वक्ख व्व भुअइंदा ॥ ८२१ ॥
मूल-फणा-मंडल-तहाणिसण्ण-णिकंप-धरिअ-महिवेढं ।
सहइ ठिअं इअर-फणाहिउत्त-गरुलं अणंतस्स ॥ ८२२ ॥
विहडंति णह-णिवाआ विहंग-णाहस्स कुलिस-कढिणा वि ।
मंदर-णिहंस-किण-णिट्ठुरम्मि वच्छम्मि वासुइणो ॥ ८२३ ॥
णिअ-सुंकारोसारिअ-ण-पडंत-विहंग-णाह-संसग्गा ।

गई। ऐसा लग रहा है मानो पर्वतों के रूप में वे वृहत्काय पक्षी गरूड़ के साथ-साथ उड़ रहे हैं ॥ ८१९ ॥

सागर तल में स्थित उन रत्नों को अत्यन्त चमक से सूर्य का पथ लाल हो गया जो गरूड़ की तीव्र गति से खुलकर चमकने लगे थे, लगता है सूर्य के आगे-आगे अरूण की यह उड़ान है ॥८२०॥

नागराज अत्यन्त मनोमोहक लगते हैं जो आक्रोश में आकर विष-ज्वाला का वमन कर रहें हैं। वह ज्वाला गरूड़ के पक्ष जैसी दिखती है जिसे वे अपने मुख का ग्रास बना चुके हैं ॥ ८२१ ॥

शेषनाग, जिनके ऊपर भूमण्डल निष्कम्प रूप से स्थित है, पूर्ववत् उसे अपने मुख्य फण पर धारण किये हुए हैं जबकि अन्य फणों से गरूड़ पर आक्रमण भी करते जा रहे हैं ॥ ८२२ ॥

पक्षिराज गरूड़ द्वारा किया गया नख-प्रहार यद्यपि बज्र की भाँति कठोर था तथापि नागराज वासुकि का वक्षःस्थल जो मन्दराचल के धर्षण से कठोर हो चुआब पर था, वह प्रहार सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो रहा था ॥ ८२३ ॥

फणधारी सर्प पक्षिराज गरूड़ के उस संसर्ग से विह्वलता का अनुभव करके प्रतिकार रूप में फूत्कार करने लगे जो इस समय

फणिणो विहल-मुह-च्छोह-विउण-रोसं विसूरेंति ॥ ८२४ ॥
संभम-चलंत-दिग्गअ-घोलाविअ-सास-मुहल-करदंडं ।
सेसङ्ग-भुअअ-कुल-णामिअं व ओसरइ पाआलं ॥ ८२५ ॥
इअ एस विहुअ-विसहर-समूह-संभाविउब्भड-जसेण ।
वुब्भइ विणआ-तणएण स-विणयं कण्ह-भावम्मि ॥ ८२६ ॥
अवि अ ।
संभम-भमंत-विज्जाहरासि-केसर-करंबिअं फुरइ ।
उप्पाउद्ध-ट्ठिअ-चिहुर-दंड-चण्डं व गअण-अलं ॥ ८२७ ॥
उव्वहइ विंब-घडिअं तारा-णिअरं ससी विडप्पस्स ।
णिद्दय-कवलण-खुडिअ-ट्ठिअं व दाढा-कणुक्केरं ॥ ८२८ ॥

उनपर कोई प्रभाव नहीं डाल सका वरन् आक्रामक उत्तेजना की निष्फलता के कारण उनका रोष दुगुना हो गया ॥ ८२४ ॥

संभ्रम के कारण अपनी सूंड़ों को ऊपर उठाये चिग्घाड़ते दिग्गज जिस समय इधर-उधर भागने लगे उस समय सारे सर्प भय-वश शेषनाग की पीठ पर बैठकर पाताल की ओर खिसकने लगे ॥ ८२५ ॥

इस प्रकार विष्णु के अवतार महाराज यशोवर्मा उन विनता-नन्दन गरूड़ द्वारा ससम्मान ले जाये गये जिन्होंने असंख्य विषधर सर्पों को डराकर गौरव प्राप्त किया था ॥ ८२६ ॥

[आगे के ६ कुलकों में शत्रुओं के ऊपर क्रोधावेश में राजा की भृकुटि-भंगिमा का वर्णन किया गया है ।]

विद्याधरों के द्वारा संभ्रमवश खड्ग घुमाने से आकाश चमकता है और भयावह-सा दिखता है, ऐसा प्रतीत होता है संभावित दुर्घटना के कारण आकाश की रामावलि खड़ी हो गई है ॥ ८२७ ॥

चन्द्रमा अपने बिम्ब के ऊपर तारा निकर को धारण किये हुए है ऐसा प्रतीत होता है कि निर्दयता पूर्वक कबलन के क्रम में खण्डित होकर राहु के दाँत ही उस पर लगे हुए हों ॥ ८२८ ॥

रोस-धुअ-चलण-तेलोक्क-लच्छि-विच्छूढ-णेउर-च्छायं ।
विवराह-केउ-भिण्णं रवि-बिंबं विअलइ णहम्मि ॥ ८२९ ॥
अत्थक्क-फुडण-विअलंत-कलल-कलिलं व बाल-बंभंडं ।
रवि-बिंबं दीसइ किरण-मुक्क-कीलाल-जंबालं ॥ ८३० ॥
तद्दिअस-मुह-ट्ठिअ-लोह-कवल-कसण-प्पहा-विहिण्णं व ।
हेसंति रहस-णिव्वूढ-धूम-कलुसं जय-तुरंगा ॥ ८३१ ॥
इअ तइआ खण-णिव्वडिअ-भू-लआ-भंग-भंगुरावंगे ।
जाए इमम्मि भुवणेसु दारुणा आसि उप्पाआ ॥ ८३२ ॥
किं च ।
सरहस-संचार-तरंगिओरु-तरलाविओ सुहावेइ ।

सूर्यमण्डल कृष्णवर्णी केतु द्वारा भिद जाने पर आकाश में बने विवर की भाँति दिखाई पड़ता है और त्रिभुवन की महादेवी लक्ष्मी द्वारा रोष में किये गये चरण प्रहार से गिरे नूपुर की छाया सदृश प्रतीत होता है ॥ ८२९ ॥

किरणों के माध्यम से निरन्तर बहते हुए रक्त के कारण सूर्यमण्डल इस प्रकार व्यथित दिख रहा है मानो अकस्मात् फूट जाने से बाल-ब्रह्मा की उत्पत्ति करने वाला हिरण्य-अण्ड मध्यभाग में स्थित रस उगल रहा है ॥ ८३० ॥

विजयी घोड़े हिनहिनाने लगें और उनके नथुनों से काली चमक से युक्त काला धुवाँ श्वास के रूप में इस प्रकार निकल रहा था मानो प्रतिदिन लौह की लगाम उनके मुख में लगी रहने से यह कलुषता निकल रही है ॥ ८३१ ॥

इस प्रकार महाराज यशोवर्मा की वक्रदृष्टि तथा उस समय क्षणमात्र के लिए लता की भाँति भृकुटि की भंगिमा से सारे संसार में भयावह स्थिति उत्पन्न हो गई ॥ ८३२ ॥

[आगे के ५ पदों में राजा द्वारा की गई अपनी कामिनियों के साथ प्रणय-लीला का वर्णन किया है।]

उस कामिनी ने अपने कण्ठ में पुष्पहार धारण कर रक्खा है

आरसणा-गुण-पडिबद्ध-कुंडलो कुसुम-पालंबो ॥ ८३३ ॥

घोलइ पडिलग्ग-पियंगु-मंजरी-जाल-गरुइअद्धंतो ।
असमंजस-लासायास-पसिढिलो कुंतल-कलावो ॥ ८३४ ॥

सहइ थणवट्ठ-संठिअ-पिट्ठाअअ-पंसु-पिंजर-च्छायं ।
अहिराम-माहवी-मउल-दंतुरं दमणआहरणं ॥ ८३५ ॥

पडवास-पंसु-धूसर-दर-गरुआअंत-पम्ह-परिसिढिला ।
घोलइ महु-मअ-परिणाम-विरल-परिवाडला दिट्ठी ॥ ८३६ ॥

इअ मअणूसव-विअसंत-बहल-कीला-रसो सुहावेइ ।
एअस्स पणइ-भवणेसु णव-विलासो पिआ-सत्थो ॥ ८३७ ॥

उसका कुंडल से लटकती लड़ी उस पुष्पहार के साथ उसके वक्ष तक फैली है और उसके जघन भाग तक लटकता हार राजा को अत्यन्त आनन्दित कर रहा है ॥ ८३३ ॥

कामिनी के केश कुन्तल, जिनका निचला भाग अर्धांश प्रियंगु-मञ्जरी से बँधा होने के कारण बोझिल हो गया है, चारो ओर लहरें ले रहा है और अनवरत नृत्य से प्रायः शिथिल और ढीला हो चला है ॥ ८३४ ॥

दमनक मञ्जरी से राजा हुआ आभरण, स्तनों पर गुलाबी तथा उच्चकोटि का सुगन्धित चूर्ण लगा होने के कारण माधवी की कलियों के सहयोग से अत्यन्त आकर्षक लगता है ॥ ८३५ ॥

सुगन्धित पांसु से धूसरित फलतः भूरी तथा परिशिथिल पलको युक्त नयन कुछ मन्द तथा रक्तवर्णी से ऐसे लगते हैं मानो उन पर मदिरा का प्रभाव पड़ गया हो ॥ ८३६ ॥

इस प्रकार यशोवर्मा की प्रेयसियाँ प्रणय भवनों में उसे प्रेम-क्रीडारस का सुख देती हैं और उनकी प्रणय क्रीडामदनोत्सव के अवसर पर नये-नये विलासों से और अधिक सुख देती है ॥ ८३७ ॥

अवि अ।

लहु-विसय-भाव-पडिसिद्ध-पसर-संभावणा-पडिक्खलिआ।
जस्स समत्ता वि गुणा चिरमसमत्त व्व दीसंति ॥ ८३८ ॥

अह वा

वसुहा-सयण-पहुप्पंत-रेणु-परिभोअ-विहुरिअ-कवोलं।
वयणं हेमंत-मिअंक-धूसरं सारवेंतीहिं ॥ ८३९ ॥

असमारण-मूलुब्भिज्जमाण-पम्हग्ग-मडहिअ-णडाले।
अलए णीसास-णिवेस-जज्जरे संजमंतेहिं ॥ ८४० ॥

जह-तह-पुसिअंसु-कणावलंब-मंथरिअ-पम्ह-परिवेसं।
देंतीहिँ अहिणवाणंद-बाह-सोम्मुम्मुहिं दिट्ठिं ॥ ८४१ ॥

यहाँ तक कि जो मनुष्य पूर्ण है और उसमें सभी गुण विद्यमान हैं वह भी महाराज यशोवर्मा की तुलना में अपूर्ण और अकुशल ही जान पड़ता है क्योंकि एक तो उसका कार्यक्षेत्र सीमित है दूसरे उसको कार्यक्षेत्र में उतरने तथा उसकी मान्यता का अवसर ही नहीं मिल पाता है ॥ ८३८ ॥

भूमिशयन के कारण उसके शत्रुओं की स्त्रियों के कपोल धूल-धूसरित हो उठे है तथा मुखमण्डल पर हेमन्त-कालिक चन्द्र के कलंक की भाँति लगी धूल लगी है ॥ ८३९ ॥

राजा यशोवर्मा के शत्रुओं की स्त्रियाँ अपने केशों को एक जर्जर धागे से बाँधे हुए हैं तथा लगातार निःश्वास से उनके उन छितराए हुए केशों ने ललाटस्थल को संकुचित कर रखा है क्योंकि अब वे केश विन्यास त्याग चुकी हैं ॥ ८४० ॥

जिस किसी प्रकार अपनी शिथिल पलकों वालो आँखों के अश्रु पोंछकर अब वे अभिनव आनन्दाश्रु भरे साम्य नयनों से महाराज यशोवर्मा को देख रही हैं ॥ ८४१ ॥

अक्खित्त-चुडुप्पुद्देस-समहिआअंबमुव्वहंतीहिं ।
अझसुरमहरं वेलक्ख-सुण्ण-दिण्णंगुली-किसलं ॥ ८४२ ॥

इअ एस हिअअ-णिम्माअ-वम्महं खण-खलंत-विअणाहिं ।
रहसमुम्मुहीहिँ दीसइ पडिवक्ख-णरिंद-बंदीहिं ॥ ८४३ ॥

इअ उण्णएण इमिणा जह णिट्ठविओ पुरा मगह-णाहो ।
तह सीसंतं एए तुमाओ णीसेसमिच्छंति ॥ ८४४ ॥

अह विहसिऊण सणिअं सो जंपइ णिव्वडंत-सब्भावं ।
कइयव-विमुहाइंच्चिअ होंति विसुद्धाण हिअआइं ॥ ८४५ ॥

धीरेहिँ हिअअ-णिहिआ कह वि गमेज्जंति सोअ-संवेआ ।
अंगाइँ पहरिसो उण गरुआण वि किं पि तरलेइ ॥ ८४६ ॥

उनके अधरों से उस समय ताम्बूल की लाली लुप्त हो चुकी है फिर भी वे अधिक गुलाबी रंग के दिख रहे हैं और उन अधरों पर लगे दन्तक्षत का लोप होने पर भी उनकी उँगलियाँ उन पर फिर रही हैं और वे शून्य हृदय-सी लगती हैं ॥ ८४२ ॥

इस प्रकार वे वन्दी ललनाएँ अपने हृदय में कामदेव का स्मरण करके अपनी वेदना को क्षणमात्र के लिए भुलाकर अत्यन्त उत्सुकता के साथ महाराज यशोवर्मा को निहार रही हैं ॥ ८४३ ॥

इस प्रकार तुमसे उस निःशेष कथा को लोग सुनना चाहते हैं कि किस प्रकार इन सम्मुन्नत यशोवर्मा ने मगधनाथ का नाश किया था ॥ ८४४ ॥

तब मुस्कराते हुए अत्यन्त सद्भाव तथा शुद्ध स्वभाव से महाराज ने कहा कि पवित्र हृदय वाले किसी भी धूर्तता के विरुद्ध होते हैं ॥ ८४५ ॥

धीर-गम्भीर हृदय वाले किसी न किसी प्रकार शोक-संवेग को सहन ही कर लेते हैं और अतिशय आनन्द तो महान् पुरूषों के शरीर को भी रोमांचित कर देता है ॥ ८४६ ॥

कंठेच्चिअ परिघोलइ पुणरुत्तं पहरिसाउल-क्खलिआ ।
अपहुप्पंति व्व महं वाआ पहुणो पसंसासु ॥ ८४७ ॥

अवि अ ।

अंतोवासं विअडाअमाण-फण-मंडलो समुव्वहइ ।
पच्छाच्छेप्प-च्छल-णिंत-दीह-देहत्तणा सेसो ॥ ८४८ ॥

छीराअंत-णह-च्छवि-चलण-विणिम्मिअ-पओहर-चउक्को ।
गूढ-मुहो कुम्मोच्चेअ लहइ आवीण-संठाणं ॥ ८४९ ॥

पढमुत्थंघण-घोलाविउद्ध-घोणाउडेण पडिवण्णं ।
उत्तुंड-तणअत्तणमइरा वेउण्ठ-कोलेण ॥ ८५० ॥

उस हर्षातिरेक का पुनः पुनः वर्णन करते समय मेरा भी कण्ठ अवरूद्ध हो जाता है और अपने प्रभु की प्रशंसा करने में मेरी वाणी भी असमर्थ-सी हो गई है ।। ८४७ ।।

[राजा यशोबर्मा असाधारण नृपति थे और वे उस राजा पृथु से जिन्होंने पृथ्वी को गाय का रूप देकर उससे विविध विभूतियों का दोहन कर लिया था ये भी महान् थे । आगे उसी पौराणिक के वृत्त का विवरण है]

अपने वृत्ताकार फण-मण्डल से शेषनाग उस रिक्त स्थान की पूर्ति करते हैं जो पृथ्वी के गो रूप धारण कर लेने से खाली हो गया था और उनकी दीर्घ देह पृथ्वी को सँभालने के लिए उसकी पूँछ के रूप में पीछे की ओर बढ़ गयी है ।। ८४८ ।।

अपना मुख शरीर में छिपाए गाय के निर्माण हेतु अपने चरणों तथा देह से उसके शरीर की रचना कर डाली जिसके चरणों के नख दुग्ध के समान उज्ज्वल थे ।। ७४९ ।।

तत्क्षण विष्णु-अवतार उस वाराह ने अपना मुख ऊपर उठाकर बछड़े का रूप धारण कर लिया जिसका थुथुन प्रथम वार वायु में ऊपर उठने से टेढ़ा हो गया था ।। ८५० ।।

देह-परिवाडि-पीडा-हुंकार-तरंगिओ विणिक्खमइ ।
धूमाअंतो पाआल-बहल-तम-संचओच्चेअ ॥ ८५१ ॥

पाआलोअर-मग्गम्मि भिण्ण-विणिवेस-सिढिल-गलिएण ।
वुब्भइ सुमेरुणा तरुण-रोअणा-सार-सारेच्छं ॥ ८५२ ॥

खण-परिअत्त-सहावत्तणेण दर-णिग्गअंकुर-सिहो व्व ।
वअणुद्देसो लीला-कवलिअ-तण-दंतुरो होइ ॥ ८५३ ॥

तक्खण-पीवर-पसरंत-दुद्ध-धारा-णिहेण मूलम्मि ।
सकुलो व्व विहाविज्जइ भारुव्वहणाअरा सेसो ॥ ८५४ ॥

इअ जेण संभमारंभ-गहिअ-गो-भाव-विब्भमुब्भंता ।
पुहई पुहई-वइणा विलंछिआ णिअअ-णामेण ॥ ८५५ ॥

पाताल लोक का घना एवं संचित अन्धकार धुएँ के रूप में बाहर आ गया जो पृथ्वो रूपी धेनु के शारीरिक कष्ट से रंभाने की लहर-सा दिख रहा था ॥ ८५१ ॥

सुमेरू पर्वत अपनी नींव से समूल उखड़कर पाताल लोक के पथ पर छितराने लगा और अब गाय के मस्तक पर लगे पीले गोरोचन की भाँति दिख रहा है ॥ ८५२ ॥

इस समय पृथ्वी का स्वरूप बदलकर गो रूप हो गया है और अब उगी हुई घास से उसका भरा हुआ मुख इस प्रकार घास के उसी क्षेत्र जैसा लग रहा है जो पहले से अंकुरित हो चुकी है ॥८५३॥

नीचे पड़े हुए शेषनाग इस समय अत्यन्त सुदृढ़ प्रतीत हो रहे हैं और उस पृथ्वी रूपी धेनु का भारी बोझ अभो भी उनके ऊपर पड़ा है जिसके स्तनों से इन समय दूध की धाराएँ बह रही हैं ॥ ८५४ ॥

जिन भूपति पृथु के द्वारा पृथ्वी की रक्षा की गई और उसे गाय का सौम्य स्वरूप प्रदान किया गया उसका नामकरण उन्हीं पृथु के नाम से ही पृथ्वी किया गया ॥ ८५५ ॥

तेण वि इमस्स तुलणा ण सहइ सुहअंति कस्स वा विरसा ।
सच्चरिअ-वंचिआणं सेसाण सिरी-समुल्लासा ॥ ८५६ ॥

किं च ।

जाण अलंकारसमो विहवो मइलेइ ते वि वड्ढंतो ।
विच्छाइए मिअंकं तुसार-वरिसो अणुगुणो वि ॥ ८५७ ॥

मोह-सलाहाहिँ तहा पहुणो पिसुणेहिं वेलविज्जंति ।
जह णिव्वडिएसु वि णिअ-गुणेसु ते किंपि चिंतेंति ॥ ८५८ ॥

सुलहं हि गुणाहाणं सगुणाहाराण णणु णरिंदाण ।
अण्णेसिअव्व-मग्गा कत्तो वि गुणा दरिद्दाण ॥ ८५९ ॥

तं खलु सिरीएँ रहस्सं जं सुचरिअ-मग्गणेक्क-हिअओ वि ।

अस्तु उन पृथु के साथ महाराज यशोवर्मा की तुलना ठीक नहीं है क्योंकि यशोवर्मा की कीर्तिगाथा उन शक्तिशाली नरेशों ने भी गायी है जिन्हे उसने अपने पराक्रम से निःशेष कर दिया ॥ ८५६ ॥

अतिशय वैभव उन्हें भी मलिन बना देता है जो वैभव रूपी अलंकार को धारण करते हैं। तदनुरूप होते हुए भी तुषार वर्षा चन्द्रमा को कान्ति को मलिन बना देती है ॥ ८५७ ॥

व्यर्थ की चाटुकारिता प्रभुओं के मानसिक विचारों को परिर्वातत कर देती है और उनमें मिथ्या धारणा, उत्पन्न होने लगती है यद्यपि उनमें क्या गुण हैं, प्रायः सर्वविदित होता है ॥८५८॥

राजा गण उन गुणीजनों को सहज ही अपने सान्निध्य में रख कर इस दृष्टिकोण से आश्रय देते हैं कि वे भी उनके गुणों को अपने अन्दर समाहित कर सकें किन्तु दरिद्रों के लिए उन्हें उन उपायों की खोज करनी पड़ती है जिनके द्वारा वे गुणों को स्वीकार कर सकें ॥ ८५९ ॥

समृद्धि शाली व्यक्ति दूसरों में उत्तम आदर्श व्यवहार दिखने

अप्पाणमोसरंतं गुणेहिँ लोओ ण लक्खेइ ॥ ८६० ॥

ण सहंति सील-सारं दोसे विचिणंति णच्चिअ विवेआ ।
दोसम्मि गुणाआरे णवरं पहुणो णिसम्मंति ॥ ८६१ ॥

लोएहिँ अगहिअंचिअ सीलमविहव-ट्ठिअं पसण्णं पि ।
सोसमुवेइ तहिंचिअ कुसुमं व फलग्ग-पडिलग्गं ॥ ८६२ ॥

णिच्चं धण-दार-रहस्स-रक्खणे संकिणो वि अच्छरिअं ।
आसण्ण-णीअ-वग्गा जं तहवि णराहिवा होंति ॥ ८६३ ॥

पेच्छह विवरीअमिमं बहुआ मइरा मएइ ण हु थोवा ।
लच्छी उण थोवा जह मएइ ण तहा इर बहूआ ॥ ८६४ ॥

के लिए अत्यन्त उत्सुक रहता है यद्यपि वह स्वयं आदर्श गुणों से संवलित हो सकता है ॥ ८६० ॥

आदर्श चरित्र के सार को भी वे (सत्ताधारी) नहीं सहते हैं (ध्यान नहीं देते हैं) और विवेक के कारण दोषों का अन्वेषण भी नहीं करते वे तो केवल ऐसे दोषों को देखते हैं जो गुण के रूप में उद्घोषित होते हैं ॥ ८६१ ॥

दरिद्र मनुष्य का उत्तम चरित्र भी इसी प्रकार व्यर्थ तथा अनजाना रह जाता है जैसे किसी फल के अग्रभाग पर पड़ा हुआ सूखा सुमन तिरस्कृत-सा हो जाता है ॥ ८६२ ॥

यह भी कितने आश्चर्य की बात है कि जो राजा गण शंकालु होते हैं और अपने धन-स्त्री की रहस्य-रक्षा के प्रति अत्यन्त सतर्क दिखते हैं वही नितान्त क्षुद्र सेवकों को उनकी परिचर्या के लिए नियुक्त करते हैं ॥ ८६३ ॥

यह विपरीतता देखिये कि अधिक मात्रा में पान की गई मदिरा उन्मत्त बना देती है परन्तु थोड़ी मदिरा नहीं जबकि थोड़े धन से मनुष्य जिस प्रकार प्रमाद करता है उस प्रकार प्रभूत धन से नहीं ॥ ८६४ ॥

जे णिव्वडिअ-गुणा वि हु सिरिं गआ ते वि णिग्गुणा होंति ।
ते उण गुणाण दूरे अगुणच्चिअ जे गआ लच्छि ॥ ८६५ ॥

एक्के लहुअ-सहावा गुणेहिँ लहिउं महंति धण-रिद्धि ।
अण्णे विसुद्ध-चरिआ विहवाहि गुणे विमग्गंति ॥ ८६६ ॥

परिवार-दुज्जणाइं पहु-पिसुणाइं पि होंति गेहाइं ।
उहअ-खलाइं तहच्चिअ कमेण विसमाइँ मण्णेत्था ॥ ८६७ ॥

एत्तिअमेत्तेण गुणे णणु पडिवज्जंति णिव्विवेआ वि ।
जेत्तिअमेत्तेण पहू गरुआण परम्मुहा होंति ॥ ८६८ ॥

तह अयसिणो गुणेहिं जाआ सुअणा जणम्मि सअलम्मि ।
दोसाअरणं पि ण गारवाय जह संपअं ताण ॥ ८६९ ॥

गुणी लोग भी धनी बनते ही निर्गुणी हो जाते हैं और जो गुणों से दूर थे वे धन प्राप्ति के अनन्तर निर्गुणी रहते ही हैं ।। ८६५ ।।

ओछे स्वभाव के लोग गुण के माध्यम से धन प्राप्ति का प्रयास करते हैं और कुछ उत्तम स्वभाव वाले धन के द्वारा गुण प्राप्त करना चाहते हैं ।। ८६६ ।।

ऐसे भी गृह देखे गये हैं जहाँ सेवक ही दुष्ट हैं अथवा स्वामी ही दुर्जन हैं अथवा ऐसे भी गृह हैं जहाँ सेवक-स्वामी दोनों ही खल प्रवृत्ति वाले हैं उसी क्रम से ऐसे घरों को विषम व्यवहार वाला मानना चाहिए ।। ८६७ ।।

विवेकहीन को भी उस अनुपात में गुणों की प्राप्ति होती है जिस अनुपात में कि प्रभु (सत्ताधारी व्यक्ति) गुरूजनों (गुणवानों) के प्रति पराङ्मुख होते हैं ।। ८६८ ।।

सभी प्रकार के गुणों के रहते हुए भी ऐसे सुजन उन लोगों के मध्य असफल देखे गये हैं जो कुटिल हैं और उन्हीं के कारण उन सुजनों के गुण-गौरव लुप्त हो जाते हैं ।। ८६९ ।।

गहिआ गुणत्तणेणं फलंति दोसा फुडं णरिंदेसु ।
दोसच्चिअ गुण-संभावणाएँ जइ ताण जाअंति ॥ ८७० ॥

मूढे जणम्मि अ-मुणिअ-गुण-सार-विवेअ-वइअरुव्विग्गा ।
किं अण्णं सप्पुरिसा गामाओ वणं पवज्जंति ॥ ८७१ ॥

दुक्खेहिँ दोहिँ सुअणा अहिऊरिज्जंति दिअसिअंचेअ ।
सुपुरिस-काले अ ण जं जं जाआ णीअ-काले अ ॥ ८७२ ॥

सुमईण सुचरिआण अ देंता आलोअणं पसंगं च ।
पहुणो जं णिअअ-फलं तं ताण फलं ति मण्णंति ॥ ८७३ ॥

अण्णो वि णाम विहवी सुहाइँ लीलासहाइँ णिव्विसइ ।

यहाँ तक कि बुरे लक्षणों में भी गुणों का फल राजाओं के लिए लाभदायक सिद्ध होता है जबकि वे तो यह समझ ही नहीं सकते हैं कि इन लक्षणों में कौन सी बुराई है क्योंकि वे लक्षण अच्छे ढंग से प्रस्तुत किये जाते हैं ॥ ८७० ॥

मूर्खों के साथ व्यवहार में घटनाओं की कटुता का अनुभव होता है जिसमें उनकी गुणवत्ता की पहचान ही नहीं हो पाती है और इसी से सुजन अपनी जन्मभूमि त्यागकर वन में निवास करने लगते हैं ॥ ८७१ ॥

इस प्रकार सुजनों का सारा जीवन इन्हीं दो प्रकार के दुःखों में व्यतीत हो जाता है। एक तो यह कि वे ऐसे युग में नहीं पैदा हुए जब लोग समृद्धि शाली होते रहे, दूसरे वे तब पैदा हुए जब दुष्ट तथा कुटिल शासक शासन कर रहे हैं ॥ ८७२ ॥

बुद्धिमानों तथा सच्चरित्रवान् को अपने सम्पर्क में लाकर तथा उन्हें साक्षात्कार का सुअवसर देकर ये सत्ताधारी ऐसा अनुभव करते हैं कि उन्होंने उन पर कृपा की है जब कि लाभ उनका अपना ही है ॥ ८७३ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य धनी व्यक्ति धनोपभोग का आनन्द तथा

असमंजस-करणेच्चेअ णवर णिव्वडइ पहुभावो ॥ ८७४ ॥

अंदोलंताण खणं गरुआण अणाअरे पहु-कअम्मि ।

हिअअं खल-बहुमाणावलोअणे णवर णिव्वाइ ॥ ८७५ ॥

पत्थिव-घरेसु गुणिणो वि णाम जइ केवि सावसास व्व ।

जण-सामण्णं तं ताण किंपि अण्णंचिअ णिमित्तं ॥ ८७६ ॥

वच्चंति वेस-भावं जेहिच्चिअ सज्जणा णरिंदाण ।

तेहिंचिअ बहुमाणं गुणेहिँ किं णाम मग्गंति ॥ ८७७ ॥

को व्व ण परंमुहो णिग्गुणाण गुणिणो ण कं व दूमेंति ।

जो वा ण गुणी जो वा ण णिग्गुणो सो सुहं जिअइ ॥ ८७८ ॥

जं सुअणेसु णिअत्तइ पहूण वडिवत्ति-णीसहं हिअअं ।

अच्छे ढंग से वैभवविलास का सुख-लाभ करता है तथा सत्तावान् असमञ्जस में ही रहते हैं ॥ ८७४ ॥

सत्तावान् द्वारा अपमानित होने से क्षणमात्र के लिए आन्दोलित सुजनों का हृदय उन्हीं प्रभुओं द्वारा खलों को उच्चतम सम्मान दिये जाने को देखकर शान्त हो जाता है ॥ ८७५ ॥

फिर भी यदि किसी समय कुछ गुणवानों को राज प्रासाद में स्थान प्राप्त हो जाता है तो निस्सन्देह इसके पीछे कोई न कोई उदर निमित्त होता है जिससे कि किसी समान्य व्यक्ति को भी वह अवसर मिल सकता था ॥ ८७६ ॥

न जाने क्यों सुजन अपने उन्ही गुणों के लिए राजाओं से प्रशंसा की अपेक्षा रखते हैं जिनके कारण हो वे उनके द्वेष-पात्र भी बन जाते हैं ॥ ८७७ ॥

कौन ऐसा है जो निर्गुणी की उपेक्षा नहीं करता अथवा गुण किसको पीड़ा नहीं देते ? सच तो यह है कि सुखी वही है जो न गुणी है न निर्गुणी ॥ ८७८ ॥

वस्तुतः महान् तथा चरित्रवान् व्यक्तियों को दो गयी उच्च प्रतिष्ठा तथा सम्मान को न सहन करने के कारण ही सत्ताधारियों

तं खु इमं रअणाहरण-मोअणं गारव-भएण ॥ ८७९ ॥
अविवेअ-संकिणोच्चेअ णिग्गुणा पर-गुणे परसंसंति ।
लद्ध-गुणा उण पहुणो वाढं वामा पर-गुणेसु ॥ ८८० ॥
सव्वोच्चिअ स-गुणुकरिस-लालसो वहइ मच्छरुच्छाहं ।
पे पिसुणा जे ण सहंति णिग्गुणा पर-गुणुग्गारे ॥ ८८१ ॥
सुअणत्तणेण घेप्पइ थोएणंचिअ परो सुचरिएण ।
दुक्ख-परिओसिअव्वो अप्पाणोच्चेअ लोअस्स ॥ ८८२ ॥
मोत्तुं गुणावलेवो तीरइ कह णु विणय-ट्ठिएहिं पि ।
मुक्कम्मि जम्मि सोच्चिअ विउणअरं फुरइ हिअअम्मि ॥८८३॥
दूमिज्जंता हिअएण किं पि चिंतेंति जइ ण जाणामि ।

का हृदय उनकी ओर से ऐसे ही निवृत्त हो जाता है जैसे कोई भारी भार के भय से आभूषण उतार देता है ॥ ८७९ ॥

अपने अविवेक तथा असामर्थ्य के प्रति शंका शील से ही निर्गुणी लोग गुणियों की प्रशंसा करते हैं किन्तु गुणी प्रभुगण स्वभावतः दूसरे के गुणों से प्रतिकूल रहते हैं ॥ ८८० ॥

अपने गुणोत्कर्ष के महत्त्वाकाँक्षी प्रायः सभी दूसरों के प्रति मात्सर्य पूर्ण उत्साह भाव रखते हैं परन्तु खल तथा कुटिल निर्गुणी तो दूसरों के गुणों को सहन ही नही कर सकते ॥ ८८१ ॥

अपने थोड़े से ही सद्व्यवहार से कोई भी लोक में सुजन माना जाता है, अपने आपको ही सन्तुष्ट तथा प्रसन्न करना किसी के लिए भी अत्यन्त दुरूह है ॥ ८८२ ॥

वास्तव में अपने उपयुक्त गुणों का गौरव-त्याग किसी भी विनयशील व्यक्ति के लिए कैसे सम्भव है ? और यदि उसका त्याग भी कर दिया जाये तो वह हृदय में दुगुने वेग से स्फुरित होने लगेगा ॥ ८८३ ॥

यह बात तो मैं नहीं जानता कि आघात पाकर भी सुजनों के हृदय की क्या स्थिति होती है पर इतना निश्चित है कि वे

किरियासु पुण पअट्टंति सज्जणा णावरद्धे वि ॥ ८८४ ॥

महिमं दोसाण गुणा दोसा वि हु देंति गुण-णिहाअस्स ।
दोसाण जे गुणा ते गुणाण जइ ता णमो ताण ॥ ८८५ ॥

सुअणाअंति खला वि हु सुअणा वि खलत्तणं दावेंति ।
एसोच्चिअ सीमंतो गुणाणं दूरं फुरंताण ॥ ८८६ ॥

संसेविऊण दोसे अप्पा तीरइ गुण-ट्ठिओ काउं ।
णिव्वडिअ-गुणाण पुणो दोसेसु मई ण संठाइ ॥ ८८७ ॥

मुट्ठु वि परिहीण-गुणो सुअणो अण्णेहिँ होइ सामण्णो ।
सहआरे गलिअ-रसे वि भूअ-कज्जं ठिअं चेअ ॥ ८८८ ॥

आधात पहुँचाने वाले के विरुद्ध प्रतिकार भाव में कोई कदम नहीं उठायेंगे ॥ ८८४ ॥

विरोधाभास तो यह है कि दोषों के समक्ष गुण अधिक से अधिक झुकते देखे गये हैं जबकि उन्हीं दोषों के कारण गुण की महत्ता तथा गौरव की स्थापना होती है। इस प्रकार जो लाभ दोषों से होता है वही गुणों से भी संभव है तो मैं गुणों को ही नमस्कार करता हूँ ॥ ८८५ ॥

यहाँ तक कि यदि दुष्टजन कृत्रिम रूप से सुजनों के साथ सद् व्यवहार का परिचय देते हैं तो सुजन भी दुष्टों के प्रति दिखावटी-खलत्व दर्शाते हैं। गुणों की स्फुरित होती हुई यही गम्भीर सीमा रेखा है ॥ ८८६ ॥

दोषों में संसक्त जीवन में भी गुणों की प्रतिष्ठापन सम्भध है दूसरी ओर अपने गुणों के प्रति बोध होने से किसी के मन में दोष एक क्षण के लिए भी स्थान नहीं पा सकता है ॥ ८८७ ॥

गुणों से हीन मनुष्य समाज में सामान्य लोगों के मध्य वैसे ही स्थान पाता है जैसे मंजरी तथा फल रसादि से रहित आम्रतरू केवल छाया का काम करता है ॥ ८८८ ॥

कलहोआइमयाइं णवरं महिलाण दप्पण-अलाइं ।
पुरिसाण दप्पणं चरिअ-धारिणो सज्जणच्चेअ ॥ ८८९ ॥

वअण-विमुक्कं पि खलो अण्णत्तो दारुणत्तणं वहइ ।
धारासु मुहुत्तिण्णं पि धरइ फरुसत्तणं दब्भो ॥ ८९० ॥

परिगअ-परगुण-सारत्तणेण विउणं विसूरमाणाण ।
होइ विवेओच्चिअ दुज्जणाण पिसुणत्तण णिमित्तं ॥ ८९१ ॥

अह मोहो पर-गुण-लहुअआएँ जं किर गुणा पयट्टंति ।
अप्पाण-गारवंचिअ गुणाण गरुअत्तण-णिमित्तं ॥ ८९२ ॥

वुब्भंते जम्मि गुणुण्णआ वि लहुअत्तणं व पावेंति ।
कह णाम णिग्गुणच्चिअ तं वहंति माहप्पं ॥ ८९३ ॥

नारियों का दर्पण-तल चाँदी का बना होता है परन्तु पुरुषों का दर्पण तो सच्चरित्र सज्जन ही है ॥ ८८९ ॥

वचन को छोड़कर अन्यत्र भी खल दारूणता धारण किये रहते हैं जैसे कि नोंक को छोड़कर पार्श्व में भी दर्भ के परूषता होती है ॥ ८९० ॥

कारण हो जाता ही जब वे बुद्धि विवेक ही दुर्जनों के दुख का वपने दुर्गुणों के विपरीत जब वे दूसरों के उत्तम गुण देखते हैं तो जल-भुन जाते हैं और उनकी व्यथा दूनी हो जाती है ॥ ८९१ ॥

वस्तुतः यह मोह है कि दूसरों के गुणों की लघुता (निन्दा) से अपने गुणों की वृद्धि होती है आत्मगौरव ही गुणों के गुणत्व का निमित्त है ॥ ८९२ ॥

पता नहीं कैसे और क्यों नितान्त गुणहीन को अपनी महत्ता का अनुभव हुआ करता है जबकि महान् गुणों वाले भी इस प्रकार अपने माहात्म्य का अनुभव करते ही लघु हो जाते हैं ॥ ८९३ ॥

माहप्पे गुण-कज्जम्मि अगुण-कज्जे णिवद्ध-माहप्पा ।
विवरीअं उप्पत्तिं गुणाण इच्छंति काउरिसा ।। ८९४ ।।

गुण-संभवो मओ सुपुरिसाण संकमइ णेअ हिअअम्मि ।
तेण अगिव्वूढ-मअ व्व ताण गरुआ गुणा होंति ।। ८९५ ।।

ता चेअ मच्छर-मलं जाव विवेओ फुडं ण विप्फुरइ ।
जलिअं च भअवआ हुअवहेण धूमो अ विणिअत्तो ।। ८९६ ।।

तुंगावलोअणे होइ विम्हओ णीअ-दंसणे संका ।
जह पेच्छंताण गिरिं जहेअ अवडं णिअंताण ।। ८९७ ।।

इच्छामि विमुक्क-गुणं पिसुणासंकाएँ काउमप्पाणं ।
विसहर-संखोहुक्खित्त-कुसुम-मालं व रअणीए ।। ८९८ ।।

वस्तुतः गुणों से महत्ता आती है परन्तु कापुरूष तो निर्गुणी होते हुए भी तथाकथित माहात्म्य की आशा करते हैं जो सृष्टि के नियमों के सर्वथा प्रतिकूल है ।। ८९४ ।।

गुण से उत्पन्न मद सत्पुरूषों के हृदय को कदापि प्रभावित नहीं कर पाता है, अतः उनके गुणों के गौरव पर कभी मद् नहीं चढ़ता है ।। ८९५ ।।

वस्तुतः जब तक विवेक का उदय नहीं होता तभी तक मत्सर रूपी मल बना रहता है । भगवान् अग्नि देव के प्रकट होते ही धूम्र का क्षय हो जाता है ।। ८९६ ।।

ऊँचाई की ओर दृष्टि डालने में आश्चर्य तथा गहराई की ओर देखने में भय उत्पन्न होता है जैसे पर्वत की चोटी का तथा गहरे कुओं के देखने वालों को ।। ८९७ ।।

कभी तो निराशा में मुझे ऐसा लगता है कि मैं अपने गुणों का ही परित्याग कर दूँ क्योंकि मैं उन दुष्टों से भयभीत हूँ जो ईर्ष्यावश किसी भी सीमा तक आघात पहुँचा सकते हैं जैसे कालरात्रि में मनुष्य विषधर सर्प के भय से अपने कण्ठ में पड़े पुष्पहार को उतार फेंकता है ।। ८९८ ।।

जणमणहिगीअगुणगारवं पि गुण-गव्विअं णिएऊण ।
भुवणारूढ-गुणाण वि अप्पा अंदोलइ गुणेसु ॥ ८९९ ॥
गुणिणो विहवारूढाण विहविणो गुरु-गुणाण ण हु किंपि ।
लहुअन्ति व अण्णोण्णं गिरीण जे मूल-सिहरेसु ॥ ९०० ॥
ण तहा महागुणेसु माहप्पधरा हवंति णरवइणो ।
साहंकारा जह पत्थिवेसु तेच्चेअ दीसंति ॥ ९०१ ॥
जह जह णग्घंति गुणा जह जह दोसा अ संपइ फलंति ।
अगुणाअरेण तह तह गुण-सुण्णं होहिइ जअं पि ॥ ९०२ ॥
किं व णरिंदेहिँ विवेअ-मुक्क-सअलाहिलास-णीसंगा ।
विहिणो वि धीर-पडिबद्ध-परिअरा होंति सप्पुरिसा ॥ ९०३ ॥

अत्यन्त गुणवान् होते हुए भी जिसके गुण-गौरव की प्रशंसा नहीं हो पाती है उस व्यक्ति की आत्मा अपने विश्वविदित गुणों के प्रति भी सशंकित रहती है ॥ ८९९ ॥

गुणी व्यक्ति की धनी के प्रति किसी प्रकार को आसक्ति नहीं रहती है जबकि धनवान् उत्तमगुण वालों की रंचमात्र चिन्ता नहीं करते हैं वे एक दूसरे को तिनके के समान उसी प्रकार समझते हैं जैसे शिखर की चोटी पर बैठा हुआ धरा पर खड़े हुये को और धरा वाला शिखर वाले को समझता है ॥ ९०० ॥

राजा महागुणियों के प्रति उतने अभिमानी नहीं होते हैं जितने कि वे (समान या अधीनस्थ) राजाओं के प्रति देखे जाते हैं ॥९०१॥

जैसे-जैसे गुणों का मूल्यांकन नहीं होता है अथवा जैसे-जैसे दोषों की प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है वैसे-वैसे ही विश्व गुण शून्य होता जाता है क्योंकि वे समादृत ही नहीं हो पाते हैं ॥ ९०२ ॥

अथवा इन विवेकहीन राजाओं को ही क्या कहा जाये जिनके राज्य में उन सत्पुरूषों के प्रति उनका किसी प्रकार का लगाव ही नहीं दिखता जो विचारे अपने उच्च विचारों तथा कामनाओं का परित्याग करके भाग्य के विरूद्ध संघर्ष हेतु कटिबद्ध हैं ॥ ९०३ ॥

धोआरंभे व्वि विहिम्मि आयसग्गे व्व खंडणमुवेंति ।
स-परिप्फंदेणंच्चिअ णीआ भमि-दारु-सअलं व ॥ ९०४ ॥
विण्णाणालोओच्चिअ कुमईण विसारअं पआसेइ ।
कसणाण मणीणं पिव तेअ-प्फुरणं सिअं चेअ ॥ ९०५ ॥
हिअअ-विअडत्तणेणं गरुआण ण णिव्वडंति बुद्धीओ ।
घोलंति महा-भवणेसु मंद-किरणच्चिअ पईवा ॥ ९०६ ॥
अच्चंत-विएएण व्वि गरुआण ण णिव्वडंति संकप्पा ।
विज्जुज्जोओ बहलत्तणेण मोहेइ अच्छीइं ॥ ९०७ ॥
जे गेण्हंति सयंच्चिअ लच्छि ण हु ते ण गारव-ट्ठाणं ।
ते उण केवि सयंच्चिअ दालिद्दं घेप्पए जेहिं ॥ ९०८ ॥

क्योंकि नीच तो दुर्भाग्य के समक्ष अपने कार्य-कलापों के मध्य उसी प्रकार खण्ड-खण्ड हो जाते हैं जैसे आरे की तीक्ष्णधार में काष्ठ टुकड़े-टुकड़े हो जाता है ॥ ९०४ ॥

ज्ञान का आलोक दुर्मति की कुचेष्टा को उसी प्रकार प्रकाशित कर देता है जैसे तेज के समक्ष मणि की कालिमा प्रकाश में आ जाती है ॥ ९०५ ॥

हृदय की विशालता के कारण महान् पुरूषों का ज्ञानालोक वाह्य-जगत् में उसी प्रकार अज्ञात रह जाता है जैसे विशाल प्रासाद में दीपशिखा ॥ ९०६ ॥

सत्पुरूषों का अत्यन्त तेज उसी प्रकार लोग नहीं देख पाते हैं जैसे अधिक विद्युत प्रकाश आँखों को चकाचौंध कर देता है उसे देखा नहीं जा सकता ॥ ९०७ ॥

यह बात नहीं कि जो लोग अपने गुणों के बल पर सम्पदा अर्जित करते हैं वे आदर के योग्य नहीं हैं बल्कि बात यह है कि कुछ ही ऐसे हैं जिन्होंने दारिद्रय को स्वेच्छा से अंगीकार किया है ॥ ९०८ ॥

पक्के पावंति ण तं अण्णे परओ व्व तीएँ दीसंति ।
इअराण महग्घाणं च अंतरे णिवसइ पसंसा ॥ ९०९ ॥
मरणमहिणंदमाणाण अप्पणच्चेअ मुक्क-विहवाण ।
कुणइ कुविओ कअंतो जइ विवरीअं सु-पुरिसाण ॥ ९१० ॥
उवअरणीभूअ-जआ ण हु णवर ण पाविआ पहु-ट्ठाणं ।
उवअरणं पि ण जाआ गुण-गुरुणो काल-दोसेण ॥ ९११ ॥
छाया सा इर मण्णे अणंतरागामिणो कअ जुअस्स ।
कलि-काल-भरम्मि वि किंपि जेण विमलं पडिप्फुरइ ॥ ९१२ ॥
विसइच्चेअ सरहसं जेसुं किं तेहिँ खंडिआसेहिं ।
णिक्खमइ जेसु परिओस-णिब्भरो ताइँ गेहाइं ॥ ९१३ ॥

कुछ तो प्रशंसा के स्तर पर ही नहीं पहुँच पाते हैं जबकि कुछ ऐसे सत्पुरूष हैं जो प्रशंसा से ऊपर दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार प्रशंसा अल्पज्ञानी तथा महान् ज्ञानियों के मध्य निवास करती है ॥ ९०९ ॥

कुपित यमराज भी यदि सत्पुरूषों के विरूद्ध हो जाएँ तो वे अपनी समस्त सम्पदाओं को त्यागकर सानन्द मृत्यु का वरण कर लेते हैं ॥ ९१० ॥

वे महान् पुरूष जो इस संसार को माहात्म्य प्राप्ति का उपकरण की भाँति प्रयोग करते हैं किसी प्रकार का प्रभुपद नहीं पाते हैं बल्कि वे विचारे कलियुग दोष के कारण दूसरों के लिए भी उच्च पद प्राप्ति के उपकरण नहीं बन पाते हैं ॥ ९११ ॥

मेरा विश्वास है कि कृतयुग की छाया ही इस कलियुग के रूप में दिखाई पड़ रही है क्योंकि इस घोर कलिकाल में भी अन्दर ही अन्दर कुछ पवित्रता प्रतिस्फुरित हो रही है ॥ ९१२ ॥

उन भवनों से क्या सम्बन्ध ? जहाँ लोग शीघ्रता से सोत्साह प्रवेश करते हैं परन्तु उनकी आकाँक्षाएँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं अब तो वे ही भवन श्रेयष्कर हैं जहाँ से लोग सन्तुष्ट होकर निकलते हैं ॥ ९१३ ॥

उज्झइ उआर-भावं दक्खिण्णं करुणअं च आमुअइ ।
काण वि समोसरंती छिप्पइ पुहवी वि पावेहि ॥ ९१४ ॥
अंतोच्चिअ णिहुअं विहसिऊण अच्छंति विम्हिआ ताहे ।
इअर-सुलहं पि जाहे गरुआण ण किंपि संपडइ ॥ ९१५ ॥
दावेंति सज्जणाणं इच्छा-गरुअं परिग्गहं गरुआ ।
मअण-विणिवेस-दिट्ठं महा-मणीणं व पडिबिंबं ॥ ९१६ ॥
साहीण-सज्जणा वि हु णीअ-पसंगे रमंति काउरिसा ।
सा इर लीला जं काअ-धारणं सुलह-रअणाण ॥ ९१७ ॥
थाम-त्थाम-णिवेसिअ-सिरीण गरुआण कह णु दालिद्दं ।

लोग हृदय की उदारता तथा सहानुभूति के भावों का परित्याग कर चुके हैं। यहाँ तक कि धरती भी उन लोगों से दूर होकर संकुचित हो गई है जिनके पापों से वह कलुषता को प्राप्त हो रही है ॥ ९१४ ॥

वह वस्तु जो कभी साधारण जन को भी प्राप्त हो सकती थी, अब उन महान् पुरूषों की भी पहुँच के बाहर है जो इस विलक्षणता को देखकर मन ही मन गुप्तरूप से हँसते हैं और आश्चर्य चकित हो उठते हैं ॥ ९१५ ॥

महान् पुरूष किसी वस्तु को प्राप्त करने पर दूसरे सुजनों को इस आशय से दिखाते हैं कि उन्हें आशातीत सफलता मिली है मानो उन्होंने मोम के अन्दर रखे हुए महामणि का प्रतिबिम्ब देख लिया हो ॥ ९१६ ॥

दुष्ट लोगनीचों की संगति में सुख का अनुभव करते हैं जबकि सज्जन लोग अपने में ही मस्त रहते हैं। यह भी कलियुग की लीला है कि जो कांच धारण करने वाले थे उन्हें अब रत्न ही सुलभ हो गये हैं ॥ ९१७ ॥

उन सत्पुरूषों को दरिद्र कैसे कहा जा सकता है जो धन को स्थान-स्थान पर व्यय करते रहते हैं जबकि कृपण का धन एक बार

पक्का उण किविण-सिरी गआ अ मूलं च पम्हुसिअं ॥ ९१८ ॥
किविणाण अण्ण-विसए दाण-गुणे अहिसलाहमाणाण ।
णिअ-चाए उच्छाहो ण णाम कह वा ण लज्जा वि ॥ ९१९ ॥
परिहोअ-सहा णववहु व्व ताण णव-संगमालसा लच्छी ।
इअरा लहिऊण सिरिं ण काम-लीला-परा तेण ॥ ९२० ॥
अच्छंतिच्चिअ किविणा अछिवंता पास-गोअरं लच्छि ।
परिहारवइं व पियं मइल-च्छायं णिअच्छंता ॥ ९२१ ॥
परमत्थ-पाविअ-गुणा गरुअं पि हु पलहुअं व मण्णंति ।
तेण सिरीएँ विरोहो पुणेहिँ णिक्कारणं ण उण ॥ ९२२ ॥
भमआ भंगाणत्ता वि सुउरिसं जं ण तुरिअमल्लिअइ ।

जहाँ कहीं भी व्यय हो गया तो वह जड़-मूल से लुप्त हो जाता है ॥ ६१८ ॥

अन्यों की दानशीलता की प्रशंसा करते हुए कृपणों के मन में ऐसा उत्साह नहीं होता है कि वे अपने धन का त्याग (दान) करें और उनको लज्जा भी नहीं आती है। (कि अन्य जब दान कर रहे हैं तब वे बैठे हैं) ॥ ६१६ ॥

कृपण की लक्ष्मी तो उस नवविवाहिता युवती की भाँति है जिसका प्रथम बार उपभोग करने में वे हिचकते हैं यद्यपि वह उन्हें भोग का पूर्ण आनन्द प्रदान करने में समर्थ रहतीं है, इसीलिए दूसरे भी उसका सुलभ सान्निध्य पाकर भी उसकी प्रणयलीला का सुख नहीं प्राप्त कर सकते हैं ॥ ६२० ॥

कृपण जन अपने बगल में बैठी हुई लक्ष्मी का स्पर्श न करके दूर ही रहते हैं। वे उसे ऋतुमती अवस्था में मलिन समझकर मात्र देखते रहते हैं ॥ ६२१ ॥

जो लोग परमार्थ गुण सम्पन्न हैं वे लक्ष्मी को अत्यन्त तुच्छातितुच्छः मानते हैं इसलिए उनकी यह घृणा अथवा यह विरोध अकारण नहीं है ॥ ६२२ ॥

वह लक्ष्मी उस महान् पुरुष से मिलने के लिए आतुर नहीं

तं मण्णे धावंती रहसेण सिरी परिक्खलइ ॥ ९२३ ॥

णणु णासमणवलंबा एइच्चिअ सा वि सुवुरिसाभावे ।
देव्व-वसा तेण सिरीएँ होइ णासंसिओ विरहो ॥ ९२४ ॥

धम्म-पसूआ कह होउ भअवई वेस-सज्जणा लच्छी ।
ताओ अलच्छिओच्चिअ लच्छि-णिहा जा अणज्जेसु ॥ ९२५ ॥

जा विउला जाआ चिरं जा परिहोडज्जलाआ लच्छीओ ।
आआरधराणंचिअ ताओ ण उणो अ इअराण ॥ ९२६ ॥

अवणेइ देइ अ गुणे दोसे णूमेइ देइ अ पआसं ।
दीसइ एस विरुद्धो व्व को वि लच्छीएँ विण्णासो ॥ ९२७ ॥
समरे धारा-गोअरमुवेंति जे वइरि-मंडलग्गाण ।

होती है, यद्यपि वह उसे अपने इशारे पर नचाता है। इस प्रकार मैं समझता हूँ कि उसके पास प्रेम से दौड़ती हुई वह लक्ष्मी प्रायः स्खलिता हो जाती है ॥ ९२३ ॥

सत्पुरूषों के अभाव में निराश्रिता लक्ष्मी नष्ट हो जाती है। दुर्भाग्यवश लक्ष्मी की यह दुर्दशा सचमुच पीड़ादायिनी होती है ॥ ९२४ ॥

धर्म प्रसूता लक्ष्मी सज्जनों के प्रति द्वेषशीला कैसे हो सकती है वस्तुतः वह अलक्ष्मी है जो सज्जनों के प्रति द्वेषशीला होती है भले ही अनार्यों के लिए वह लक्ष्मी-सी दिखे ॥ ९२५ ॥

वे लक्ष्मियाँ, जो अधिक मात्रा में हैं और जिनका निरन्तर सुख-भोग चलता रहता है, केवल पवित्र जनों के पास जाती है कृपणों के पास नहीं ॥ ९२६ ॥

वह मनुष्यों के दुःख दूर करती है, उनमें गुणों का संचार करती है, उनकी त्रुटियों को छिपाकर लोगों की दृष्टि में उनका माहात्म्य उजागिर करती है। विलक्षणता का यह विन्यास प्रायः विलोम-सा ही लगता है, परन्तु यह लक्ष्मी के ही प्रसंग में देखा गया है ॥९२७॥

वे शूरवीर, जो रण-क्षेत्र में वैरियों की तीक्ष्ण खड्गधार का

ते तम्मि वला खलु णिवसिरीएँ लच्छीएँ छिप्पंति ॥ ९२८ ॥

अप्फोडणाहिघाअ-च्छलेण चिरमेक्क-भुअ-कआसंघा ।
विणिवारेंति व वीअं भुअं पि दप्पेण सप्पुरिसा ॥ ९२९ ॥

अण्णोण्णं लच्छिघुणाण णूण पिसुणा गुणच्चिअ ण लच्छी ।
लच्छी अहिलेइ गुणे लच्छि ण उणो गुणा जेण ॥ ९३० ॥

लच्छी-लआएँ मूलं गुणत्ति एअं परिट्ठिअंचेअ ।
जेण अहो गमणंचेअ ताण परिवड्ढणे तीए ॥ ९३१ ॥

अयसं दाऊण विसंठुलाण सज्झस-विसूरिअव्वाण ।
पढमंचिअ जीएँ पआइं महुमहेच्चेअ खलिआइं ॥ ९३२ ॥

सा चडुला कह णु गुणुज्जलेसु लच्छी अकूणिअं कुणउ ।

सामना करते हैं, लक्ष्मी की कृपा प्राप्त करते हैं और वह उनके साथ रहने के लिए विवश हो जाती है ॥ ९२८ ॥

सत्पुरूष, जो दीर्घकालीन अभ्यासवश केवल दाहिनी भुजा से ही सभी अनिष्टों का निवारण करते रहते हैं, अपने दर्प से दूसरी भुजा को पीछे ही रखते हैं ॥ ९२९ ॥

लक्ष्मी और गुण में मेरे विचार से गुण ही दुष्ट हैं लक्ष्मी नहीं। क्योंकि लक्ष्मी तो गुणों को समाहित कर लेती हैं जबकि गुण लक्ष्मी के प्रति द्वेष भाव रखते हैं ॥ ९३० ॥

लक्ष्मी रूपी लता के मूल कारण गुण ही होते हैं, यह तथ्य सर्वथा सुनिश्चित माना जाता है क्योंकि लक्ष्मी लता के समृद्धिशाली विकास के पीछे इन्हीं गुणों का योग देखा गया है ॥ ९३१ ॥

वह लक्ष्मी उस समय भी अशान्त तथा भयभीत होकर मधुदैत्य के संहारक भगवान् विष्णु के पार्श्व में ही सर्वप्रथम अपने चरण जमा पाई थी ॥ ९३२ ॥

वह बराकी-चपला लक्ष्मी किस प्रकार गुणियों के समक्ष अपनी

चिरआलोसिअ-पाआल-तिमिर-संवाहिअं दिट्ठिं ॥ ९३३ ॥

जीएँ समारंभेच्चिअ अच्छी पढम-ट्ठिआ वि विवलाइ ।
अण्णा तीएच्चिअ पत्थणाएँ कह णाम संघडइ ॥ ९३४ ॥

दुक्खाभावो ण सुहं ताइँ वि ण सुहाइँ जाइँ सोक्खाइं ।
मोत्तूण सुहाइँ सुहाइँ जाइँ ताइँच्चिअ सुहाइं ॥ ९३५ ॥

सुह-संग-गारवेच्चिअ हवंति दुक्खाइँ दारुणअराइं ।
आलोउक्करिसेच्चिअ च्छाया वहलत्तणमुवेइ ॥ ९३६ ॥

सुह-संगो सुह-विणिवत्तिएक्क-चित्ताण अविरअं फुरइ ।
अंगुलि-पिहिआण रवो अव्वोच्छिण्णो व्व कण्णाण ॥ ९३७ ॥

दूमिज्जंताइं वि सुहमुवेंति गरुआण णिअअ-दुक्खेहिं ।

आँखें खोल सकती है क्योंकि चिरकाल तक पाताल लोक के घोर अन्धकार में उसकी दृष्टि संकुचित हो चुकी है ९३३ ॥

जिन नये धनवानों के द्वारा आयोजित लक्ष्मी के प्रदर्शन के कारण उनकी हाल में आयी हुई लक्ष्मी पलायित हो जाती हैं तो पुनः प्रार्थना की जाने पर भी वह बिचारी उनके पास कैसे आये ॥ ९३४ ॥

दुःख का अभाव सुख नहीं है और सांसारिक आनन्द भी सुख नहीं देते हैं। वस्तुतः इन्द्रियसुखों से मुक्ति ही सुख कहा जाता है ॥ ९३५ ॥

सुख के प्रति आसक्ति ही दारूण दुःख बन जाता है क्योंकि घने आलोक का उत्कर्ष ही घनी छाया बनती है ॥ ९३६ ॥

हृयद में सुख के विनिवर्त्तन के बाद भी उसके प्रति आसक्ति अन्दर-अन्दर स्फुरित होती रहती है। जैसे कि उँगली कान में डालने पर भी ध्वनि सुनाई पड़ती रहती है ॥ ९३७ ॥

अपने कष्टों से बारम्बार प्रताड़ित होते हुए भी सत्पुरूष उसी

रस-बंधेहिँ कईण व विइण्ण-करुणाइँ हिअआइं ॥ ९३८ ॥

अण्णण्णाइँ उवेंता संसार-वहम्मि णिरवसाणम्मि ।
मण्णंति धीर-हिअआ वसइ-ट्ठाणाइँ व कुलाइं ॥ ९३९ ॥

ससिएहिंचिअ लोओ दुक्खं लहुएइ दुक्ख-जणिएहिं ।
आयास-कएहिँ करी आयासं सीअरेहिं व ॥ ९४० ॥

पहरिस-मिसेण बाहो जं बंधु-समागमे समुत्तरइ ।
वोच्छेअ-काअराइं तं णूण गलंति हिअआइं ॥ ९४१ ॥

मूढ सिढिलत्तणं ते सणेह-बासेण कह णु बद्धस्स ।
बाढं गाढअराअइ जो इर मोत्तुं तणंतस्स ॥ ९४२ ॥

होऊण वि हंत णिरंतराइँ दूरंतराइँ जाअंति ।

प्रकार सुख का अनुभव करते हैं जैसे कवि-हृदय रसवन्ध भावना में करूणा की अभिव्यञ्जना में ॥ ९३८ ॥

उच्चाशय तथा उदात्त हृदय पुरूष अपने कुल को मात्र अस्थायी विश्राम स्थल को भाँति समझते हैं जिसमें कि आत्मा की अनन्तता की भाँति एक के पश्चात् दूसरे आते ही रहते हैं ॥ ९३९ ॥

साधारण लोग अपनी व्यथा को कष्ट से उत्पन्न निःश्वासों से वैसे ही हल्की कर लेते हैं जैसे हाथी जल सीकर के फूत्कार से अपना श्रम दूर करते हैं ॥ ९४० ॥

प्रहर्ष के बहाने से जो बन्धु से समागम होने पर अश्रु गिरते हैं वे मानों वियोग के प्रति कातर हृदय का द्रव ही है ॥ ९४१ ॥

अरे मूर्ख ! भला कहीं स्नेह के सुदृढ़ बन्धन से भी मुक्ति मिली है वरन् होता यह है कि तुम जैसे-जैसे उस प्रेम बन्धन से छूटने का प्रयास करोगे वैसे-वैसे वह और दृढ़ होता जायेगा ॥ ९४२ ॥

सभी प्रजार का भेद-भाव तथा अन्य दूरियों के समाप्त होने पर लोगों में जो प्रेम मिलन होता है वह बहुत दूर रहने पर भी

उम्मोइअ-रसणंतोवमाइँ घडिआइँ लोअस्स ॥ ९४३ ॥
पढमं ण गुणा गुण-हेउणो परं ते तओ सह गुणेहिं ।
संपइ ताण गुणच्चेअ णवर हा ते उण ण संति ॥ ९४४ ॥
कालवसा णासमुवागअस्स सप्पुरिस-जस-सरीरस्स ।
अट्ठि-लवाअंति कहिं पि विरल-विरला गुणुग्गारा ॥ ९४५ ॥
थिर-वासणा-समुत्था दोसा बंधाय णीअ-चरिआण ।
सप्पुरिसाणं च गुणा मोहाय ण झत्ति विरमंति ॥ ९४६ ॥
एस विराओ हिअअं जं रमइ जहागएसु विहवेसु ।
णिब्भच्छणं तु लच्छीएँ णवर थिर-मच्छरो राओ ॥ ९४७ ॥

इस प्रकार निकट लगता है जैसे ढीले होने पर भी कटिसूत्र के दोनों सिरे एक-दूसरे से सटे रहते हैं ॥ ९४३ ॥

वस्तुतः जीवन के प्रथम चरण में न कोई गुण रहता है और न गुण के मूल हेतु ही दिखाई पड़ते हैं परन्तु कालान्तर में गुणों के साथ उनके हेतु भी प्रकट होने लगते हैं और फिर मात्र गुण ही शेष रह जाते हैं। खेद की बात है कि कुछ समय के पश्चात् वे भी समाप्त हो जाते हैं ॥ ९४४ ॥

काल के वशीभूत होने के कारण सत्पुरूषों का यशः शरोर भी नाश को प्राप्त हो जाता है और जैसे मृत्यु के पश्चात् मानव देह की अस्थियाँ यत्र-तत्र बिखरी पड़ी रहती हैं उसी प्रकार उसके यश-गौरव की गुण-गाथा कभी-कभी लोगों के स्मृति पटल पर टकराती है ॥ ९४५ ॥

नीचों के मन में स्थायी रूप से उठने वाली कुत्सित वासनायें उनके आचरण के बन्धन का कार्य करती हैं परन्तु सत्पुरूषों के गुण लोभ-मोह में न पड़कर शीघ्र ही उनसे विरक्त हो जाते हैं ॥९४६॥

उनके हृदय का यही विरक्त भाव है कि वे वैभव की प्राप्ति पर उसमें रमते नहीं हैं। लक्ष्मी के प्रति उनकी इस विरक्ति तथा भर्त्सना से उन लोगों को बड़ी ईर्ष्या होती है जो वैभव के पीछे उन्मत्त हैं ॥ ९४७ ॥

सोच्चेअ किं ण राओ मोत्तूण बहु-च्छलाइँ गेहाइं ।
पुरिसा रमंति बद्धुज्झरेसु जं काणणंतेसु ॥ ९४८ ॥

किं व सरूव-वरोच्चिअ सेव्रा-णिंदा-वरो व्व अह मग्गो ।
जं महइ विंझ-वण-गोअराण लोओ पुलिंदाण ॥ ९४९ ॥

सरिआओ अणेअ-विहंगमाओ तल-णिम्मलाइँ अ वणाइं ।
माअंग-कलह-मुहला गिरिणो अ रइं विरहंति ॥ ९५० ॥

सीलेण जइ वि विमलो तह वि हु मा दुग्गअं जणं छिवसु ।
कालंतर-णिव्वडिअं वसइच्चिअ मंगुलं तम्मि ॥ ९५१ ॥

को तेसु दुग्गआणं गुणेसु अण्णो कआअरो होइ ।
अप्पा वि णाम णिव्वेअ-विमुहअं जेसु जावेइ ॥ ९५२ ॥

क्या इसे आनन्द की संज्ञा नहीं दी जा सकती कि लोग गृहस्थ जीवन के छल-प्रपञ्च-घात-प्रतिघात से अलग हट कर निर्जन वन में निर्झरों के समीप रमे रहते हैं ? ॥ ६४८ ॥

अथवा अप्रत्यक्ष रूप से यह भी तो अपना-अपना स्वभाव ही है या जीवन का यह भी सेवा मार्ग है जब कि लोग विन्ध्यगिरि की गुफाओं में रहने वाले आदिवासियों की प्रशंसा करते देखे गये हैं ॥ ६४६ ॥

उन आदिवासियों को तो पर्वत से उतरती-कल्लोल करती नदियाँ, स्वच्छ धरातलयुक्त वन और चिग्घाड़ते मत्त गजों के कलह अत्यन्त आनन्द का अवसर प्रदान करते हैं ॥ ६५० ॥

यद्यपि इस समय उसका शील व्यवहार निर्मल है तथापि दुर्गति में पड़े होने के कारण उसे मत छुओ । क्योंकि पूर्वकृत अनिष्ट तो उसमें वर्तमान है ही तभी तो दरिद्र है ॥ ६५१ ॥

दुर्गति में पड़े हुए लोगों के गुणों का भला दूसरा कोई क्या आदर करे जबकि उनकी अपनी आत्मा ही उलकी इस दशा को देखकर विमुख रहती है ॥ ६५२ ॥

हरइ परिहीण-विहवस्स णूण णिअ-पणइणी वि अप्पाणं ।
सव्वंगमसंपुण्णस्स घडइ किं जामिणी ससिणो ॥ ९५३ ॥

हिअअ कहिं पि णिसम्मसु कित्तिअमासाहओ किलिम्मिहिसि ।
दीणो वि वरं एक्कस्स ण उण सअलाएँ पुहवीए ॥ ९५४ ॥

अच्छउ ता विहलुद्धरणगारवं कत्थ तं अगरुएसु ।
अप्पाणअस्स वि पियं इअरा काउं ण पारंति ॥ ९५५ ॥

गाढ-मअ-मूढ-हिअआ लहिऊण धणं गुणं व जं किं पि ।
कह ते भरिहिंति परं अप्पा वि हु जाण पम्हुसइ ॥ ९५६ ॥

जह परिअथम्मि लोओ तह भुज्जंतो वि दुक्करं को वि ।
पाणि-सिसिराइँ पाणम्मि अण्णहा होंति सलिलाइं ॥ ९५७ ॥

वस्तुतः जो मनुष्य अपनी सम्पदा खो बैठता है उसे उसकी अपनीं ही प्रेयसी त्याग देती है। रात्रि कभी खण्ड चन्द्र का साथ दे सकती ? ॥ ९५३ ॥

अरे हृदय ! कहीं तो शान्ति प्राप्त करो। इस प्रकार निराश होकर तुम कब तक स्वयं को कोसोगे ? अरे, विचार तो करो, यह कष्ट केवल एक के लिए ही नहीं है वरन सारे संसार के लिए है ॥ ९५४ ॥

विह्वलों के उद्धार की ये लम्बी-चौड़ी बातें बन्द करो। भला इस प्रकार के लघु हृदय वालों के लिए यह कैसे सम्भव है ? जबकि ये लोग स्वयं अपना कल्याण करने में सर्वथा असमर्थ हैं ॥ ९५५ ॥

जिन्होंने किसी प्रकार वैभव प्राप्त कर लिया है और कुछ गुणवान् भी हैं भला वे मूढहृदय दूसरों को क्या स्मरण करेंगे जबकि उन्हें अपनी ही सुध नहीं है ? ॥ ९५६ ॥

क्योंकि प्रथम परिचय तथा तदन्तर साथ हो जाने पर भी लोगों का व्यवहार उसी प्रकार दुष्कर दिखता है जैसे पाणिगत जल शीतल होते हुए भी वीते समय बदल जाता है ॥ ९५७ ॥

भूरि-गुणा विरलच्चिअ एक्क-गुणो वि हु जणो ण सव्वत्थ ।
णिद्दोसाण वि भद्दं पसंसिमो विरल-दोसं पि ॥ ९५८ ॥
सामण्ण-सुंदरीणं विब्भममावहइ अविणओच्चेअ ।
धूमोच्चिअ पज्जलिआहि बहुमओ सुरहि-दारूण ॥ ९५९ ॥
थोवागअ-दोसच्चिअ ववहार-वहम्मि होंति सप्पुरिसा ।
इहरा णीसामण्णेहिँ तेहिँ कह संगअं होइ ॥ ९६० ॥
उक्करिसोच्चेअ ण जाण ताण को वा गुणाण गुण-भावो ।
सो वा पर-सुचरिअ-लंघणेण ण गुणत्तणं तह वि ॥ ९६१ ॥
णवरं दोसा तेच्चेअ जे मअस्स वि जणस्स सुव्वंति ।
णज्जंति जिअंतस्स वि जे णवर गुणा वि तेच्चेअ ॥ ९६२ ॥

विविध गुणों वाले विरले ही होते हैं यहाँ तक कि एक ही अद्वितीय गुणवाला व्यक्ति भी सर्वत्र नहीं मिल सकता है। यदि कोई ऐसा भी दिखाई पड़ जाए जो निर्गुण होते हुए भी दोष रहित है तो इसे सौभाग्य की बात समझना चहिए। वस्तुतः हमें ऐसे व्यक्ति की प्रशंसा करनी चाहिए जिसमें कदाचित् ही कोई दोष हो ॥ ९५८ ॥

सामान्य सुन्दरियों का अविनीत व्यवहार भ्रमोत्पादक होते हुए भी सुन्दर दिखता है जैसे धूप-गन्धादि की ज्वाला से उसका धूम ही अच्छा माना जाता है ॥ ९५९ ॥

व्यवहार क्षेत्र में थोड़ा-बहुत दोष भी लोगों को सत्पुरूष बना देता है अन्यथा सब तरह के गुणयुक्तों के साथ उनकी संगती कौन हो सकता है ? ॥ ९६० ॥

जिनका उत्कर्ष न हो सके उनके अन्दर गुणों के रहने का ही क्या उपयोग है ? लगता है उनमें इसलिए उत्कर्ष संभव नहीं कि उनके गुण औरों के उत्तम कार्यों से ढंक जाता है ॥ ९६१ ॥

वस्तुतः असली दोष तो वे हैं जो मनुष्य के मरने के बाद भी सुने जाते हैं और वे ही वास्तविक गुण हैं जो उसके जीवनकाल में ही सराहे जाते हैं ॥ ९६२ ॥

ववहारेच्चिअ छायं णिएह लोअस्स किं व हिअएण ।
तउग्गमो मणीण वि जो वाहिं सो ण भंगम्मि ॥ ९६३ ॥

सम-गुण-दोसा दोसेक्क-दंसिणो संति दोस-गुण-वामा ।
गुण-दोस-वेइणो णत्थि जे उ गेण्हंति गुणमेत्तं ॥ ९६४ ॥
दीसइ सामाअंतो व्व को वि हिअएण णिम्मलो तह वि ।
हरिअंच्चिअ चूअ-फलं गअं च परिणाम-परमत्थं ॥ ९६५ ॥
दीसंत-णिम्मलो जइ वि को वि कज्जेण णासमो तह वि ।
पिंगं पि केसरं कुंकुमस्स राएण सामण्णं ॥ ९६६ ॥
सच्चविआसअल-गुणं पि सज्जणं सुवुरिसा पसंसंति ।
पडिबंध-णूमिअद्धं को वा रअणं विआरेइ ॥ ९६७ ॥

खुलकर किये गये व्यवहार से ही लोगों की पहचान होती है उनके हृदय में क्या है ? इससे क्या प्रयोजन ? क्योंकि जब मणि की प्रभा बाहर से मालूम पड़ जाती है तो उसे तोड़कर अन्दर देखने से क्या लाभ ? ॥ ९६३ ॥

इस संसार में कुछ लोग ऐसे हैं जो गुण और दोष को समान समझते हैं, कुछ केवल दोष देखते हैं तो कुछ दोष और गुण दोनों के विरुद्ध रहते हैं किन्तु ऐसा शायद ही कोई होगा जो गुण-दोष की परख करके केवक गुणों को ही ग्रहण करता हो ॥ ९६४ ॥

कोई तो ऐसा है कि व्यवहार में अत्यन्त कुटिल है परन्तु उसका हृदय अति निर्मल है। आम्रफल का हरापन ही अन्ततः परिपक्वता को प्राप्त होता है ॥ ९६५ ॥

कोई मनुष्य देखने में निर्मल और पवित्र है तो उसके कार्य-स्वभाव में भी उसी प्रकार निर्मलता दिखती है जैसे लाल-पीली केसर की सुगन्ध भी तदनुकूल ही रहती है ॥ ९६६ ॥

सत्पुरुष तो उस सुजन की भी प्रशंसा करते हैं जिसके गुणों को उन्होंने ठीक से देखा भी नहीं है। भला कौन ऐसा होगा जो जड़े हुए रत्न की प्रभा देखते हुए भी उसे तोड़कर उसके अन्दर का अर्धांश जानने की चेष्टा करेगा ? ॥ ९६७ ॥

सोहइ अदोस-भावो गुणो व्व जइ होइ मच्छरुत्तिण्णो ।
विहवेसुं व गुणेसु वि दूमेइ ठिओ अहंकारो ॥ ९६८ ॥
जेण गुणग्घविआण वि ण गारवं धण-लवेण रहिआण ।
तेण विहवाण णमिमो तेणंचिअ होउ विहवेहिं ॥ ९६९ ॥

दविणोवआर-तुच्छा वि सज्जणा एत्तिएण धीरेंति ।
जं ते णिअ-गुण-लेसेहिँ देंति काणं पि परिओसं ॥ ९७० ॥
दूमंति सज्जणाणं पम्हुसिअ-दसाण तोस-कालम्मि ।
दाणाअर-संभम-दिट्ठ-पास-सुण्णाइँ विलिआइं ॥ ९७१ ॥
सइ जाढर-चिंताअड्ढिअं व हिअअं अहो-मुहं जाण ।
उद्धुर-चित्ता कह णाम होंतु ते सुण्ण-ववसाया ॥ ९७२ ॥

दोष रहित गुण भी तभी शोभा देता है जब वह ईर्ष्या से ऊपर उठ चुका हो क्योंकि गुणाधिक्य का अहंभाव कष्टदायक होता है ॥ ६६८ ॥

उत्तम गुणों से सम्पन्न होते हुए भी धनहीन व्यक्ति का आदर नहीं होता है क्योंकि हम लोग वैभव के प्रतिश्रद्धा व्यक्त करते हैं, इसीलिए वैभव ही प्रधान है ॥ ६६६ ॥

द्रव्य से अन्यों का यथेष्ट स्वागत-सत्कार करने में हीन होने पर भी सज्जन इस बात से धीरज-धारण करते हैं कि वे कम से कम अपने गुणों के किसी अंश से किसी को भी परितोष दे ही सकते हैं ॥ ६७० ॥

सत्पुरूषों के लिए वे क्षण लज्जास्पद हो जाते हैं जब वे अपनी वर्त्तमान निर्धनता का ध्यान न कर किसी को कुछ देने की इच्छा तो करते हैं किन्तु हाथ खाली होने से व्यथित हो उठते हैं ॥ ६७१ ॥

ऐसे लोग, जिनका हृदय उदर चिन्ता से विक्षिप्त हो और जो सदा अधोमुख ही पड़े हों, किस प्रकार अपने मानस में उच्च कार्यों की कल्पना कर सकते हैं जो इस समय शून्य व्यवसाय हो चुके हैं ? ॥ ६७२ ॥

दिण्णं पुरा जहिच्छं तओ अ दें तेहिं संठिअमभावा ।
गहिअं च पराहिंतो तओ अ ओ लोह-पणएण ॥ ९७३ ॥

लोए अमुणिअ-सारत्तणेण खणमेत्तमुव्विअंताण ।
णिअअ-विवेअ-ट्ठविआ गरुआण गुणा पअट्टंति ॥ ९७४ ॥

गेण्हउ विहवं अवणेउ णाम लीलावहे वय-विलासे ।
दूमेइ कह णु देव्वो गुण-परिउट्ठाइँ हिअआइं ॥ ९७५ ॥

अघडिअ-परावलंबा जह जह गरुअत्तणेण विहडंति ।
तह तह गरुआण हवंति बद्ध-मूलाओ कित्तीओ ॥ ९७६ ॥

आगम-लंभे वय-परिणइएँ भंगेसु धण-विलासाण ।

प्रथम तो सामर्थ्य के अनुसार दान करके हम अपने हृदय में तृप्ति का अनुभव करते हैं और बाद में भी धन की समाप्ति तक ऐसा ही करते रहते हैं परन्तु निर्धन होने पर हम लोभ-वश औरों से कुछ न कुछ प्राप्ति की इच्छा करने लगते हैं, यही बिडम्बना खल जाती है ॥ ९७३ ॥

जो महान् पुरूष कुछ समय के लिए यह समझकर विचलित हो उठते हैं कि लोग उनके गुणों का मूल्य नहीं समझ पा रहे हैं उनके अपने निश्चय के कारण उनके गुणों में वही गरिमा आ जाती है जो पहले थी ॥ ९७४ ॥

अरे दुर्भाग्य ! जो भी वैभव है उसे ले लो और उसका जो चाहो सो करो परन्तु व्यर्थ शीलता के आनन्द का भी अपहरण कर ले । परन्तु यह तो तय है कि जिस हृदय को गुणों से आनन्द मिल रहा है उस पर निर्धनता का रञ्चमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ सकता है ॥ ९७५ ॥

जितना ही वे सत्पुरूष, जो कभी भी पराश्रित नहीं रहे हैं, लोगों से दूर होते जायेंगे, उतना ही उनका यश जड़ पकड़ता जायेगा ॥ ९७६ ॥

शास्त्र-ज्ञान तथा वयोवृद्धता के अनुभव होते हुए भी धन-क्षय

थोवमसमंजसाइँ वि हिअआइँ वहंति परिणामं ॥ ९७७ ॥

ण सहंति णिअ-गुणा इर पुरओ गरुआण इअ विइंतंता ।
णीआहिगमे लहुआ गुणाण भावंचिअ हरंति ॥ ९७८ ॥

असलाहणे खलुच्चिअ अलिअ-पसंसाएँ दुज्जणो विउणं ।
अपवत्त-गुणे सुअणो दुहा वि पिसुणत्तणं लहइ ॥ ९७९ ॥

अप्पाण-णिव्विसेसो त्ति एस मे जं पि भणइ णेहेण ।
तं पि खलो अत्थ-गईएँ ठवइ पिसुणत्तणेच्चेअ ॥ ९८० ॥

उवरिमहो अ धरंतेहिँ कव्व-कणउज्जले अलंकारे ।
सीसइ सार-विसेसो विज्जा-विहवाण सवणेहिँ ॥ ९८१ ॥

से परिणामतः हृदय में कुछ न कुछ असमंजस तो उत्पन्न हो ही जाता है ॥ ९७७ ॥

छोटे लोग, यह सोचकर [कि उनके गुणों की उत्तम जनों की तुलना में कोई गिनती ही नहीं हो सकती, अपने दुर्भाग्य को कोसते हुए अपने गुणों का अस्तित्व ही समाप्त कर लेते हैं ॥९७८॥

जिस प्रकार दुष्ट व्यक्ति अपनी अयोग्यता की मिथ्या प्रशंसा में और भी दुष्ट बन जाता है ठीक उसी प्रकार गुण हीन की मिथ्या प्रशंसा के कारण सत्पुरूष भी दुष्ट चाटुकार का रूप धारण कर लेता है ॥ ९७९ ॥

"वह मुझसे किसी प्रकार भिन्न नहीं है" इस प्रकार के शब्द जिस किसी के लिए जब वह स्नेह से कहता है तब वह भी उसी दुष्ट की कोटि में आ जाता है ॥ ९८० ॥

योग्यता की बहुमूल्य अद्वितीय विलक्षता जिनमें होती है उनके कान ऊपर-नीचे काव्यरूपी स्वर्णाभूषण से निरन्तर परिचित होते हैं ॥ ९८१ ॥

ण सिरी चला महग्घेसु ते ण तेच्चेअ सा वि जं मुअइ ।
ते उण ते तंचिअ जइ मुअंति इह तीएँ को दोसो ॥ ९८२ ॥

तण्हा अखंडिअच्चिअ विहवे अच्चुण्णए वि लहिऊण ।
सेलं पि समारुहिऊण किं व गअणस्स आरूढं ॥ ९८३ ॥

पुरओ सिरीएँ पिय-पंकआएँ कमलाअरं पिव रअंति ।
मण्णे किविणा पहुणो पणाम-घडिअंजलि-मिसेण ॥ ९८४ ॥

कुसुम-फलोसारिअ-पाअवेहिँ विणिअत्त-सउण-पणएहिँ ।
तं किर ण मअंचिअ महिहरेहिँ जलहिं विसंतेहिं ॥ ९८५ ॥

सोवाए सुह-दुक्खागमम्मि आरंभिणो फलमइंति ।

जो सत्पुरुष अपने गुणों के कारण आदरणीय हो जाते हैं। चंचलता होने पर भी लक्ष्मी उनकी सेवा में प्रस्तुत रहती है। अब यदि वे लोग ही लक्ष्मी की उपेक्षा कर दें तो उस बिचारी का क्या दोष है ॥ ६८२ ॥

जिनकी तृष्णा असीम है उनके अति उन्नत वैभव प्राप्त करने से भी क्या, शैल शिखर पर समारूढ़ व्यक्ति भी भला गगन के किस अंश पर आरूढ़ हो पाता है? ॥ ६८३ ॥

मैं सोचता हूँ कि जो महाकृपण हैं, वे भी अपने हाथों को कमलदल की भाँति जोड़कर अत्यन्त श्रद्धा से लक्ष्मी की उपासना करते हुए इस प्रकार प्रतीत होते हैं मानो कमलप्रिय लक्ष्मी को पूजा हेतु कमल पुष्प अर्पित कर रहे हैं ॥ ६८४ ॥

क्या यह उन पर्वतों के लिए आत्महनन सदृश नहीं है? जिन्होंने उस समय स्वयं को सागर में डुबा दिया जब उन्हें पता लग गया कि उनके ऊपर उठे तरूओं के पुष्प समाप्त हो गये और उन पर कलरव करने वाले खग कब के उड़ गये हैं ॥ ६८५ ॥

जब आनन्द प्राप्ति तथा कष्ट-निवृत्ति के उपाय होते हैं तो इस अभियान में वे ही सफल होते हैं जो अध्यवसायी हैं क्योंकि मात्र

चिंता-णह-कंडू-संभवम्मि विहिणो ण कंडुयणे ॥ ९८६ ॥
मोहाहिभवेण सिरिं चिर-वोलीणं विमग्गमाणाण ।
दूरीभवंतु आगंतुआआ कह मा समिद्धीओ ॥ ९८७ ॥
आआर-पेसलाण वि हवंति एमेअ विहि-णिओएण ।
विणिअत्तीओच्चिअ आवईआ मण्णे समहिलेत्ति ॥ ९८८ ॥
जम्मि अविसण्ण-हिअअत्तणेण ते गारवं वलग्गंति ।
तं विसममणुप्पेंतो गरुआण विही खलो होइ ॥ ९८९ ॥
हिअअस्स विणिव्ववणे इह लोएच्चिअ समप्पिअ-फलाए ।
वीअं पर-लोअ-फलं ण रण्ण-वसहीएँ सद्दिहिमो ॥ ९९० ॥

चिन्ता इच्छा से ही कार्य नही बनता। भाग्य को भी श्रम चाहिए केवल नख से खुजलाना ही महत्त्वाकाँक्षा की पूर्ति नहीं कर सकता ॥ ६८६ ॥

धन-वैभव जो कभी आगन्तुक की भाँति आये थे, उन लोगों के पास से क्यों नहीं चला जाना चाहिए जो रात-दिन उस लक्ष्मी के ही चक्कर में पड़े रहते हैं जो उसकी घोर मोहासक्ति देखकर उन्हें छोड़ चुकी है ॥ ६८७ ॥

इसी प्रकार मेरे विचार से, विधि-व्यवस्था वश उत्तम व्यवहार वाले सत्पुरूष जन-जीवन से निवृत्त होने पर भी आपदाओं में घिर जाते हैं ॥ ६८८ ॥

विधि खल होता है क्योंकि वह उन सुजनों के ऊपर से विषम परिस्थितियों को भी नहीं हटाता है जिन्हें हृदय की दुर्बलता त्याग कर उन्होंने बड़े धैर्य से झेल लिया और महान् गौरव प्राप्त किया ॥ ६८६ ॥

हम इस पृथ्वी पर रहकर उसी फल में विश्वास करेंगे जिसमें शान्ति और निवृत्ति का अनुभव हो सके। इसके विपरीत हम अपनी निवृत्ति के जीवन काल के उस पवित्र तथा तप-त्याग से अर्जित बीज में विश्वास ही नहीं कर पाते हैं जो हमें परलोक में उत्तम फल देने में समर्थ है ॥ ६६० ॥

रमइ विहवी विसेसे थिइ-मेत्तं थोअ-वित्थरो महइ ।
मग्गइ सरीरमधणो रोई जीएच्चिअ कअत्थो ॥ ९९१ ॥

मूले णिविडाअंता विरलुग्गारा तओ पसंगेमु ।
कालेण सउरिसाण वि कहाणुबंधा णिमिल्लंति ॥ ९९२ ॥

विरसाअंता बहलत्तणेण हिअए खलंति परिओहा ।
थोअ-विहवत्तणेणं सुहंभरप्पच्चिअ सुणंति ॥ ९९३ ॥

विरसम्मि वि पडिलग्गं ण तरिज्जइ कह वि जं णिवत्तेउं ।
हिअअस्स तस्स तरलत्तणम्मि मोहो इह जणस्स ॥ ९९४ ॥

हिअअम्मि गाढ-घडिएहिँ दो वि मण्णे समं उविज्जंति ।

धनी व्यक्ति अपने जीवन में विशेष सुखों का आनन्द उठाता है जबकि सीमित धन वाला स्थिरता की कामना करता है और दरिद्र व्यक्ति स्वस्थ रहना चाहता है तथा रोगी किसी प्रकार जीवित रहने की आकाँक्षा करता है ॥ ६६१ ॥

प्रारम्भ में सत्पुरूषों के साथ वार्त्तालाव का आशय समझने में बड़ी कठिनाई होती है और कुछ समय के पश्चात् जब नैकट्य बढ़ जाता है तब उनके कथानुबन्ध का अर्थ समझ में आने लगता है ॥ ६६२ ॥

एक के पश्चात् दूसरे कई तथ्यों की बहुलता के कारण रसों की नीरसता व्याप्त होकर आनन्द को मन्द कर देती है और हृदय को स्खलित बना देती है। जिनके विभव सीमित हैं वे भरपूर आनन्द प्राप्त कर लेते हैं ॥ ६६३ ॥

किसी भी नीरस तत्त्व में आसक्त हृदय को बदलना संभव नहीं है। अतएव हृदय की परिवर्तन शीलता में लोगों का यह विश्वास मात्र व्यामोह है ॥ ६६४ ॥

अपनी बौद्धिक क्षमता के अनुसार मनुष्य इस पृथ्वी पर सुखोपभोग की कामना करता हुआ इसलोक और परलोक को सुख के लिए यत्नशील तो रहता है परन्तु नवयुवतियों के हृदय पर

बुद्धीओ उहय-लोअम्मुहीओ जुवईण थणएहिं ॥ ९९५ ॥

पहरइ कह णु अणंगो कह णु हु विंधंति कोसुमा बाणा ।
इअ कामेच्चिअ अफुडे फुडाइं तत्तो कह सुहाइं ॥ ९९६ ॥

हिअअस्स णिट्ठुरत्तणमिणमो किं संठवेहि महिलाण ।
अत्तो पयोहराणं वज्जंचिअ वसइ एआण ॥ ९९७ ॥

रमइ अ चरिए अप्फुल्लअम्मि खिज्जइ अ णिअअ-सीलेण ।
णिंदइ अ पर-सहावं सिहइ अ लोओ पर-गुणाण ॥ ९९८ ॥

मग्ग व्व दीह-धवला मण्णे चिहुरा जणस्स जाअंति ।
वोलंताण अणुदिणं जहागअं हिअअ-भावाण ॥ ९९९ ॥

कस कर बँधे हुए दोनों स्तनों के मोह के कारण उसका मनोरथ भग्न हो जाता है ॥ ९९५ ॥

जो अंगहीन है वह कामदेव किस प्रकार प्रहार कर सकता है? अथवा जिसके बाण ही पुष्प से बने हैं उससे वह किसी को कैसे क्षत-विक्षत कर सकता है? इस प्रकार जब वह प्रणय का देवता ही स्फुट नहीं है तो उससे लोगों को मौलिक आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ॥ ९९६ ॥

पता नहीं कैसे स्त्रियों के कोमल हृदय में ऐसी निष्ठुरता का जन्म हो जाता है। लगता है, यह उनके उन कठोर स्तनों का परिणाम है जो उनके हृदय के साथ निवास करते हैं ॥ ९९७ ॥

मनुष्य अपने ही कार्यों में आनन्द का अनुभव करता है और अपने ही शील-चरित्र से खिन्न भी हो जाता है। वह दूसरों के स्वभाव की निन्दा तो करता है परन्तु उनके गुणों को अपनाने की भी इच्छा रखता है ॥ ९९८ ॥

अवस्था के अनुसार मनुष्य के केश दीर्घ और धवल हो जाते हैं जो उसके अपने हृदय के भावों की परिणति है जो प्रतिक्षण उसी दिशा की ओर उन्मुख है जहाँ से वह आई थी ॥ ९९९ ॥

सव्वंगं विणिवेसो णईइ पलिएहिँ णूण दावेइ ।
आसण्णमिमम्मि जरा-करंक-भावं सरीरम्मि ॥ १००० ॥
सव्व-त्यामोणमिअं ओहुरमाअढ्ढिअं वलि-लआहिं ।
घरणि-अलाहिमुहं पित्र सरीरमिणमो जरी वहइ ॥ १००१ ॥
अंगेसु बिंदु-णिविडा णिवडइ परिणाम-जज्जरिज्जंती ।
तिलअ-च्छलेण मण्णे कसण-च्छाय व्व चिहुराण ॥ १००२ ॥
गब्भुग्गम-लंघिअ-जोव्वणाण घरिणीएँ विमण-पिय-दिट्ठं ।
थणआण दुद्ध-धारा-णिहेण पलिअं व णिक्खमइ ॥ १००३ ॥
सअलं विराम-विरसत्तणेण दुक्खं सुहंचिअ ण णाम ।
दुक्खाभावो सोक्खं ण जेण ण हु तेण दुक्खं पि ॥ १००४ ॥

अवस्था पाकर मनुष्य का सम्पूर्ण शरीर झुक जाता है और केशों की धवलता यह सिद्ध करती है कि वृद्धावस्था का शरीर मात्र भिक्षापात्र बनकर रह जाता है ।। १००० ।।

वृद्ध मनुष्य का शरीर सभी अंगों से झुक जाता है। उसकी त्वचा सिकुड़कर लटक जाती है और उसका मुखमण्डल इस अवस्था में पृथ्वी की ओर इस प्रकार लग जाता है मानो यही उसका अन्तिम वासस्थल है ।। १००१ ।।

उसके काले-घने केश वृद्धावस्था में उसके शरीर के विविध अंगों पर धनी बूँदों के रूप में इस प्रकार गिरते हैं मानो उसके शरीर के काले धब्बे हों ।। १००२ ।।

वृद्धावस्था के चिह्न-स्वरूप, जिस समय गृहिणी के दोनों स्तनों से धवलवर्णी दुग्ध धारा बहती जो अभी नवयौवन में गर्भाधान की अवस्था में निकला करती थी उसे देखकर उस गृहिणी के पति का मन कुंठित होकर खिन्नता का अनुभव करने लगता है ।।१००३।।

इस नीरसता के कारण इस समय सारा आकर्षण लुप्त होकर खिन्नता को जन्म दे देता है क्योंकि अब इसमें आनन्द का आधार ही नहीं बच गया है कारण कि दुःख का अभाव ही सुख है और इस समय यह तथाकथित सुख ही दुःख है ।। १००४ ।।

फुरइ अ फुडो अभावस्स एस भुवण-च्छलेण आआरो ।
आलोअण-णिव्वडिओ व्व णील-भावो णहअलस्स ॥ १००५ ॥

इअ विरसमिसं संसारमावसंताण वो फलममोल्लं ।
णिव्वडउ पावणाणं गुणाण पहुणो णिसमणेण ॥ १००६ ॥

अवि अ ।

आसा-गअ-दाणाअंत-कसण-कंठ-प्पहा-हओ लहइ ।
केसर-कलाव-करणिं सोच्चिअ सिढिलो जडा-णिवहो ॥१००७॥

वहइ मणि-किरण-रंजिअ सीस-णिवेसिअ-फणा-समोसरिओ ।
भुअइंदो पट्ठि-पहोलि-रुद्ध-लंगूल-वेलंबं ॥ १००८ ॥

संसार का यह जो स्वरूप दिख रहा है वह मात्र अभाव की ही स्फुटता है शेष उसी प्रकार कुछ नहीं है जैसे देखने में आकाश नीला है, वैसे शून्य है ॥ १००५ ॥

इस प्रकार महाराज यशोवर्मा के पवित्र गुण-गौरव का वर्णन सुनकर लोग इस नश्वर जगत् में रहकर भी सौभाग्यशाली बनकर उत्तमफल प्राप्त करें ॥ १००६ ॥

[आगे के ५ कुलक पदों में कवि ने वर्णन किया है कि किस प्रकार महादेव ने राजा यशोवर्मा की शक्ति परीक्षा हेतु सिंह का रूप धारण किया ।]

दिग्गजों के मस्तक से झरते हुए दान के समान कृष्णवर्ण के कण्ठ की प्रभा से रञ्जित उनका जटाजूट ही केसर-कलाप (सिंह के घने बाल) हो गया ॥ १००७ ॥

मणि की प्रभा से रक्तवर्णी नागराज वासुकी का फण शिवजी के मस्तक पर विराजमान है और शरीर पीछे की ओर इस प्रकार लटक कर रहा है मानों सिंह की पूछ का रूप धारण किया हो ॥ १००८ ॥

ताओच्चिअ रहस-विसट्ट-वअण-कुहरोअराओ पावेंति ।
जालावली-विलासं उत्तंस-कवाल-मालाओ ॥ १००९ ॥

पडिमा-मग्गा सिर-ससिअलाएँ सच्चविअ-णह-मुहोइण्णा ।
तेच्चिअ हत्थेसु णहंकुसत्तणं एंति णितूण ॥ १०१० ॥

इअ तुलिउमहिलसंतेण जस्स बल-विब्भमं ति-णयणेण ।
भेसिअ-गोरि-मइंदं मइंद रूवेण परिणमिअं ॥ १०११ ॥

खुडिआ इमेण समरंगणेसु रिउ-वारणाण कर-दंडा ।
णासा-विमुक्क-जीहाह-रुहिर-धारा विसहर व्व ॥ १०१२ ॥

मह-धूम-लआ एअस्स सुचरिआहूअ-तिअस-णाहस्स ।
सुर-करिणो बहल-मअंबु-सामला सहइ सरणि व्व ॥ १०१३ ॥

शिव जी के कण्ठ में पड़ी हुई कपालमाला तथा उनकी मुखाकृतियों की भयंकरता सिंह के मस्तक के घुंघराले केश हो गये हैं ॥ १००६ ॥

उनके नख की कोरों से होकर निकलती हुई उनके मस्तक स्थित चन्द्रमा की प्रभा की छाया सिंह के चमकते पंजे हैं ॥१०१०॥

इव प्रकार राजा यशोवर्मा के प्रताप का अनुभावन करने के लिए त्रिनेत्र धारी शिव जी ने सिंह का रूप धारण कर लिया जिसे देखकर पार्वती का वाहन सिंह भी भयभीत हो गया ॥ १०११ ॥

राजा यशोवर्मा ने शत्रुओं के मत्तगजों का मस्तक समर भूमि में काट दिया जिससे अविरल रक्तधारा बहने लगी जो विषधरों की नाक से निकलती उनकी जिह्वाओं के समान प्रतीत होती है ॥ १०१२ ॥

राजा द्वारा सम्पादित महायज्ञों से निकलती लता के समान धूम्ररेखा सुरपति इन्द्र के ऐरावत गज की सूंढ़ से निकलती मदधारा के समान दिख रही है जो महाराजा के उत्तम कार्यों का परिणाम है ॥ १०१३ ॥

लहुईकआ वि गुण-गारवेण गरुआ वि णिअअ-कुल-उव्वा ।
अप्पाण-गारवेणं पुणो वि गुरुईकआ जेण ॥ १०१४ ॥
पहु-धम्म-बंधणे संठिअस्स विवरीअ-सासिअ-जअस्स ।
करुणा-णीसास-सहा सहंति संरंभ-भिउडीओ ॥ १०१५ ॥
अह वा ।
कुम्भाहिवेण दीसइ उण्णामिअ-संख-रअण-वलएण ।
तिअसाण संभमुग्गाहिअग्घ-वत्तो व्व सलिल-णिही ॥ १०१६ ॥
उम्मिल्लस्स वि चिर-आल-मुक्क-णीसास-सिढिल-देहस्स ।
पट्ठी पुणो तरंगेहिँ लंघिआ कमढ-णाहस्स ॥ १०१७ ॥

राजा यशोवर्मा के उत्तम गुणों के समक्ष उनके राजवंश के पूर्वज जो इस समय लघु लगने लगे थे पुनः इनके गुणों की महत्ता से महत्त्वपूर्ण हो गये ।। १०१४ ।।

उसकी भृकुटि भंगिमा करूण निःश्वास सहने में समर्थ होती हुई अत्यन्त आकर्षक दिख रही है । यद्यपि उस समय राज्य शासन के कठोर नियमों के बन्धन थे तथापि वह अब उनके विरूद्ध प्रेम और सहानुभूति के साथ प्रजा पालन में तत्पर था ।। १०१५ ।।

राजा मशोवर्मा स्वयं विष्णु के अवतार हैं क्योंकि उनके वक्षःस्थल पर लक्ष्मी निवास करती है जो कच्छपरूपी विष्णु को आधार बनाकर किये गये सागर मन्थन के अनन्तर प्रकट हुई थी । समुद्र मन्थन के उसी दृश्य का वर्णन आगे के २४ पदों में किया गया है—

मन्थन के समय क्षीरसागर की ऊपरी सतह पर शंख तथा नाना प्रकार के चमकते हुए रत्न उभर आये थे जिसको कूर्मावतारी विष्णु इस प्रकार देख रहे थे मानो देवों ने उनकी पूजा हेतु रजतपात्र में पूजन सामग्री का प्रबन्ध कर रखा है ।। १०१६ ।।

कूर्माधिपति भगवान् का शरीर उस समय शिथिल हो उठा था और वे उनकी विशाल पीठ पर सागर की लहरें झेलने लगे जबकि चिरकाल से साँस लेने की फुर्सत नहीं थी अस्तु वे विश्राम कर रहे थे ।। १०१७ ।।

दीसंति कुम्म-तुलिआ घण व्व पुणरुत्त-विज्जु-विप्फुरणा।
ऊसास-दिट्ठ-तंबिर-कंठ-च्छेआ महा-मीणा ॥ १०१८ ॥

पेच्छंति सुर-दइच्चा घडिअ-धरा-मग्ग-गोर-परिणाहं।
पट्ठिं पेरंत-सहाव-सामलं कमढ-णाहस्स ॥ १०१९ ॥

कुम्म-ट्ठिअस्स दीसइ जलहिम्मि तरंग-भंगुर-णिवेसा।
ण-पहुत्त-रसाअल-कुंचिअ व्व पडिमा महिहरस्स ॥ १०२० ॥

वलइअ-भुअंग-वलयाववीड-पुंजिअ-णमंत-साहग्गा।
अग्गेहिँ सेल-घडिआ मूलेहिँ दलंति दुम-णिवहा ॥ १०२१ ॥

भुअआहिवस्स णिहसा झिज्जंति उरम्मि खर-हंतीओ।

कच्छपराज अपनी पीठ पर उन बड़ी-बड़ी मछलियों को संभाले हुए थे जिनके कण्ठ का रक्तवर्णी भाग उनके हाँफने पर दिखाई पड़ जाता था और इस समय घने मेघों के मध्य बार-बार चमकती बिजली जैसी लग रही थी ।। १०१८ ।।

देवों दानवों ने भगवान् कच्छप की पीठ देखी जिसका वह भाग जिस पर मन्दराचल की निरन्तर रगड़ चल रही थी, उज्ज्वल हो गया था और शेष उसी प्रकार काला था जैसा पहले था ।। १०१९ ।।

भगवान् की पीठ पर पड़ी मन्दराचल की छाया क्षीरसागर के ऊपर पड़ी हुई लहरों के कारण ऊपर-नीचे हो रही थी जिसे देखकर ऐसा लगता था मानो उस मन्दर के नीचे की नींव कम होने के कारण वह भगवान् की पीठ पर पूर्णरूप से जम नहीं पा रहा है, अस्तु हिल-डुल रहा है ।। १०२० ।।

उस पर्वत पर स्थित वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग शेषनाग के शरीर से लपेटे जाने पर झुक गये थे और पर्वत के शिखर पर दृढ़ता के लिपटे नाग के कारण वे वृक्ष जड़ से उखड़ गये थे ।।१०२१।।

शेषनाग के वक्ष पर तो पहले से ही पक्षिराज गरुड़ के पंजों

वण-गंठि-गआआ विहंग-णाह-णह-कोडि-कीलाओ ॥१०२२॥

फुट्टंति पाअवाणं रय-वित्थारावबद्ध-परिवेसा ।
विणिवत्ति-समय-ताडिअ-तडाआ पारोह-मालाओ ॥ १०२३ ॥

अट्टिअ-गिरि-वलण-गआगअंबु-वोच्छिण्ण-णिवडिअ-तडाओ ।
पत्ताआ विअड-भावं तलिणाआ वि कडअ-सरिआओ ॥१०२४॥

परिसिढिल-विअड-मूला तेच्चेअ वहंति पढम-तणु-धारा ।
भुअइंद-णिहस-विहडंत-विवर-मूला जलुप्पीला ॥ १०२५ ॥

वीसाम-मंथराअंत-सेल-वोच्छिण्ण-दूर-वडणाओ ।
मडहं कमेण वलयं णिज्झर-धाराओ बंधंति ॥ १०२६ ॥

के घाव से कई चिह्न बने हुए थे और अब मन्दर पर्वत पर निरन्तर घर्षण से उनके वक्षःस्थल से स्थान-स्थान से झर रहे हैं ॥ १०२२ ॥

तीव्र गति से गोलाई में नाचते हुए मन्दराचल पर उगे हुए तरूओं की पंक्तियाँ घूमते हुए पर्वत के तट से टकरा कर टूट जाती हैं ॥ १०२३ ॥

पर्वत की चोटियों से बहने वाली नदियाँ पहले तो उथली तथा छोटी थी परन्तु इस समय पर्वत के चक्कर लगाने से छिटकी हुई जलधारा पाकर एवं टकराव से तटों के टूट जाने से विशाल हो गई हैं ॥ १०२४ ॥

जल समूह, जिसका तल शिथिल तथा विस्तृत है, इस समय शेषनाग के घर्षण से बने छिद्रों के कारण धारा बनकर बहने लगा है ॥ १०२५ ॥

पहाड़ी झरने जिनका जल पर्वत के चक्कर काटने से रूका हुआ है, अब पर्वत के रूक जाने से धीरे-धीरे लघुवृत्ताकार की भाँति दिख रहे हैं ॥ १०२६ ॥

पावंति वलिअ-वित्थअ-गिरि-कडअ-णिहंसणा तलिण-मूला ।
वित्थारं दसण-च्छेअ-मंडला दिग्गइंदाण ॥ १०२७ ॥
णिहस-विरिक्क-दुम-लओ जह जह सेलम्मि घडइ सुअइंदो ।
तह तह दीहाअंतो पुणो वि वलइज्जइ गिरिम्मि ॥ १०२८ ॥
णिहस-परिगलिअ-वासुइ-णिम्मोअ-रयावबद्ध-परिवेसो ।
कुम्मम्मि होइ खण-विरइआलवालो व्व सलिल-णिही ॥१०२९॥
कम-लद्धालोअं फणि-णिहंस-झिज्जंत-तड-पणट्ठासु ।
णिंति अ-विणिक्खमंता वि वणअरा महिहर-दरीसु ॥ १०३० ॥
होंति गिरि-वलण-भावा अण्णण्ण-दिसा-घडंत-कडआण ।
सरलं पि पडंतीणं सिलाण कुडिल व्व गइ-मग्गा ॥ १०३१ ॥

अपने पूर्ण विस्तार के साथ पर्वत के घूमने के कारण घर्षण से दिग्गजों की सूँढ़ का वक्रभाग तथा बाहरी दाँत की नोक भिच गई है ॥ १०२७ ॥

घर्षण के कारण द्रुम और लताओं से विहीन पर्वत को जैसे-जैसे भुजगेन्द्र कसकर पकड़ते हैं वैसे-वैसे ही उनका वलय दीर्घ से दीर्घतर होता जाता है ॥ १०२८ ॥

तीव्रगति में चक्कर काटने से वासुकि नाग की केंचुली टुकड़े-टुकड़े होकर कच्छप के चारो ओर फैलती हुई मानो आलबाल बन गया है (मन्दराचल रूपी पर्वत का आलबाल कूर्म की पृष्ट पर बन गया हो) ॥ १०२६ ॥

कन्दराओं में रहने वाले वनचर मानो बाहर निकले हुए-से प्रतीत होते हैं क्योंकि कन्दराओं के अग्रभाग की चट्टान वासुकी के निघर्षण से क्रमशः घिस रही हैं और सूर्य का प्रकाश अधिकाधिक कन्दराओं में फैल रहा है ॥ १०३० ॥

सीधी गिरती हुई पर्वत-शिलाओं के नीचे के मार्ग, जो प्रत्येक दिशा के सम्पर्क में आये, पर्वत के आवर्त्तमान के कारण एक के पश्चात् दूसरे टेढ़े-मेढ़े दिख रहे थे ॥ १०३१ ॥

उच्छलिअ-सलिल-पूरिअ-गअण-दिसा-वलय-पडिहओआसो ।
खण-तुच्छम्मि पडिरवो णवर समुद्दे च्चिअ वलग्गो ॥ १०३२ ॥

वासुइ-णिहसुम्मूलिअ पक्ख-च्छेअ-व्वण-गंठि-णिव्वडिआ ।
णिवडंति सेल-कडआआ वज्ज-धारा-तड-क्खंडा ॥ १०३३ ॥

पसरंति वलंतोअहि-मंडलइज्जंत-कड्ढिअ-सरीरा ।
सुंकार-सरलिआवत्त-पसिढिला णवर भुअइंदा ॥१०३४ ॥

तरु-वलिअ-लआ-लच्छि लहंति सेलम्मि कडअ-सरिआओ ।
उम्मोइअ-वासुइ-णिहस-मग्ग-संदाणिअ-जलाओ ॥ १०३५ ॥

कडएहिँ तहेअ मही-सिहरेहिँ णहं व पेल्लिअं गिरिणो ।
अल्लीणं णवर दिसाहिँ णिहस-तणुअम्मि मज्झम्मि ॥१०३६॥

सागर-मन्थन से उत्पन्न भीषण ध्वनि कुछ क्षणों के लिए बन्द हो गई क्योंकि मन्थन के कारण समुद्र का जल ऊपर की ओर इतना उछला कि आकाश के रिक्त वायुमण्डल की सारी दिशाएँ जलमग्न हो गईं ॥ १०३२ ॥

इन्द्र के वज्र से कटे पंखवाले पर्वत के वे शिलाखण्ड जिनमें कटे भाग पर गाँठे पड़ गयीं थी, वासुकी नाग के निरन्तर घर्षण से उखड़ कर इस समय गिरने लगे थे ॥ १०३३ ॥

इस समय सागर-मन्थन से क्षुब्द बड़े-बड़े सर्प अपना शरीर बाहर निकाल कर तल पर उभरकर आ गये और विश्राम के समय भी फूत्कार कर रहे थे ॥ १०३४ ॥

पर्वत की चोटी से गिरती नदियाँ वृक्ष से लिपटी लताओं के समान दिख रही थीं और इस समय वे उस मार्ग से बहने लगी थीं जो वासुकी नाग के घर्षण से बन गया था ॥ १०३५ ॥

पर्वत की चट्टानों, धरातल तथा चोटियों से सागर के ऊपर अवस्थित आकाश ढंक गया और सारी दिशाएँ पर्वत के पतले तथा खण्ड-खण्ड हुए मध्यभाग से घिर गईं ॥ १०३६ ॥

कुम्म-विणिहिट्ठ-मूलो भुअआहिव-णिहस-तणुइआहोओ ।
कह-कह वि पढम-णिमिओ सुहेण ओसारिओ सेलो ॥१०३७॥

घडिअं मंदर-दर-दूमिअम्मि संखुहिअ-जलहि-तण्णाअं ।
सिसिरोवआर-पंकं व कुम्म-वीढम्मि महि-वेढं ॥ १०३८ ॥

इअ कम-णिम्महिआसुक-विहुर-खीरोअ-सरहसुव्वूढा ।
लच्छी अज्जवि वच्छ-त्थल-ट्ठिआ वुब्भइ इमेण ॥ १०३९ ॥

किं च ।

दीसइ कर-ताडण-मूढ-रुहिर-संगलिअ-सामल-च्छायं ।
हिअअ-ट्ठिअ-विरह-हुआस-धूम-मइलं व थणवट्टं ॥ १०४० ॥

कच्छप के पृष्ठभाग पर आधारित तथा वासुकि के घर्षण से खण्ड-खण्ड हुए पर्वत का भार कम हो गया था और जो पहले बड़ी कठिनाई से कूर्मपृष्ठ पर बैठ पाता था अब बड़ी आसानी से जम गया ॥ १०३७ ॥

धरती का तल क्षुब्ध जल के कारण नम हो गया और उसमें कीचड़ बनने लगा जो ऐसा प्रतीत होता था मानो पर्वत की रगड़ से छिली हुई कूर्मपीठ के लिए उपचार स्वरूप था ॥ १०३८ ॥

सागर मन्थन के इस उपक्रम से क्षुब्ध तथा व्यथित सागर से हठात् लक्ष्मी ऊपर आ गयी और आज भी उन्हें महाराज यशोवर्मा ने वक्षःस्थल पर धारण करते हैं ॥ १०३९ ॥

[आगे के ४ कुलकपदों में कवि ने महाराज के प्रताप तथा उनके शत्रुओं की स्त्रियों की दुःखद दशा का वर्णन किया है ।]

यशोवर्मा के शत्रुओं की स्त्रियाँ करूणा से निरन्तर अपनी छाती पीटती रहती हैं जिससे उनके शरीर का रक्त-प्रवाह बन्द हो गया और अब उनके उन्नत-विशाल उरोज पीतवर्णी होकर ऐसे लगते हैं मानो पति-वियोग के कारण उनके हृदय-दाह का धूम्र उनके वक्ष पर उभर आया है ॥ १०४० ॥

वअणुव्वहण-णिवेसिअ-करुद्ध-णह-मणि-मऊह-वोच्छेए ।
संधंति णिरंजण-णिम्मलाओ थोरंसु-धाराओ ॥ १०४१ ॥
घण-लंबालअ-माला-णिरोह-खणमेत्त-पुंजइज्जंता ।
उम्हविअ-गंडवासं चक्कलइज्जंति णीसासा ॥ १०४२ ॥
इअ लीला-रोसुग्गम-विसमिअ-भुमअम्मि जम्मि वुब्भंति ।
वेरि-रमणीहिँ वेहव्व-लंभ-विहुराइँ अंगाइं ॥ १०४३ ॥
जस्स मुह-मारुआहअ-विसंत-भुवणंतरेण उअराओ ।
वुब्भइ व अण्ण-बंभंड-डंबरो पंचअण्णेण ॥ १०४४ ॥
सो एस केसवो उवसमुद्दमुद्दाम-दाविआयामे ।
अह सोहइ सेसम्मि व णिअअम्मि जसम्मि विणिसण्णो ॥१०४५॥

उन स्त्रियों की आँखों से अञ्जनरहित निर्मल अश्रुधारा निरन्तर बहती हुई वहाँ पहुँचती है जहाँ उनके हाथों के मणिप्रभा-युक्त नखों का अन्त है क्योंकि अपना मुख ऊपर उठाने के लिए उनकी हथेली ठुड्डी पर लगी है ॥ १०४१ ॥

उनकी निःश्वास से जो छितराये हुए उनके काले घने बालों के कारण उसी पुंजीभूत केशराशि में चक्रीकृत होकर अवरूद्ध हो गये हैं, उनका कपोल भाग अत्यन्त उष्ण हो उठा है ॥ १०४२ ॥

साधारण रूप से ही महाराज यशोवर्मा को क्रोधावेश में टेढ़ी भृकुटि मात्र के कारण ही वैरियों की स्त्रियों के वैधव्य में उनके शरीर की ऐसी दशा हो गई है ॥ १०४३ ॥

[आगे के दो कुलक पदों में कवि ने यशोवर्मा का शेषशायी विष्णु के रूप में वर्णन किया है ।]

भगवान् विष्णु अपना पाञ्चजन्य शंख बजाने के लिए मुख से फूंकते हैं उस समय उनके उदर में स्थित तीनों लोकों में से एक विचित्र लोक हिरण्यगर्भ रूप शंख में मानो प्रवेश कर जाता है ॥ १०४४ ॥

यह महाराज यशोवर्मा यथार्थतः विष्णु की ही भाँति हैं जो अपने यश-गौरव से अत्यन्त आकर्षक लगते हैं मानो किसी उपसमुद्र में शेष शैया पर विराजमान हैं ॥ १०४५ ॥

अह वा ।

भारुव्वहणा-जोग्गाअरेण तारेहिँ णह-मऊहेहिं ।
सेस-सिसूहिँ व चलणारविंद-घडिएहिँ सोहंति ॥ १०४६ ॥

भुअइंद-फणा-मंडल-णिवेस-पडिलग्ग-रअण-राअं व ।
चलण-जुअमावहंति पज्जत्तालत्तअ-च्छायं ॥ १०४७ ॥

लीला-घोलाविअ-चलण-मुहल-मंजीर-रव-मिलंतेहिं ।
वुब्भंति सेस-फणा-वलएहिँ व राअहंसेहिं ॥ १०४८ ॥

कारण-किरि-खंधुक्खेव-लग्ग-परिकविल-केसर-च्छायं ।
वहमाणि किरण-कलावमिरिण-रसणा-गुणुग्गिण्णं ॥ १०४९ ॥

[आगे १७ कुलक पदों में राजा को पृथ्वी पालक होने के कारण भगवान् विष्णु ही सिद्ध किया है--]

पृथ्वी जिसे शेषनाग अपने सिर पर धारण किये हैं, इस समय महाराज के समीप एक सुन्दरी स्त्री के रूप में आयो है जिसके कमल-चरण मणि प्रभावान् नखों से सुशोभित हैं और वे चमकते हुए नख ऐसे लग रहे हैं मानों छोटे-छोटे नागशिशु शेष के चरणों में बैठे उनका भार हलका कर रहे हैं ॥ १०४६ ॥

पृथ्वी के वे चरण-युगल शेषनाग के मस्तक पर विराजमान हैं जो आल्ता लगे होने के कारण लाल रंग की शोभा को प्राप्त होकर इस प्रकार लग रहे हैं मानों शेष-फण की मणि चमक रही हो ॥ १०४७ ॥

पृथ्वी देवी के चरण-नुपुर ध्वनि से आकर्षित राजहंस उसे चारो ओर से घेरे हुए ऐसे लग रहे हैं मानो देवी को चरण लीला से प्रभावित शेष के सहस्रफण उन पर लोट रहे हों ॥ १०४८ ॥

पृथ्वी ने उस समय चमचमाती हुई किरण-समूह की पेटी, जिसमें सोने की झालरें लटक रहीं थीं जो सूकर की केसर कीं भाँति थी, धारण कर रखा था जिस समय विष्णु ने सूकर का रूप धारण करके उसे नरक में डूबने से उबारा था ॥ १०४९ ॥

सेविज्जंतिं स-रअण-रसणा-पडिणिव्वडंत-पडिमेण ।
आढत्त-रोहणुद्दलण-वइअरेणं पिव जणेण ॥ १०५० ॥

णाहि-विवरेण कारण-वराह-दाढा-वहेण व सहंतिं ।
पाआल-तमुब्भेआअमाण-रोमावलीएण ॥ १०५१ ॥

अज्जवि अणह-ट्ठिअ-राम-रमणि-णिग्गमण-सीर-मग्गं व ।
उअरमहिराम-वलि-वीइ-भंग-विसमं पआसेंतिं ॥ १०५२ ॥

सोहंतिं हारावलि-वलंत-रोमावली-तरंगेण ।
जउणा-संगअ-गंगा-सोत्तेण व मज्झएसेण ॥ १०५३ ॥

लायण्ण-परिप्फुरमाण-परिअणुक्खित्त-चामर-चएहिं ।

उस समय लोगों की प्रतिच्छाया उस स्वर्ण करधनी में पीछे की ओर प्रतिबिम्बित होती हुई इस प्रकार प्रतीत हो रही थी मानो लोग उस पर चढ़ने तथा उसे (धरती को) खोदने का उपक्रम कर रहे हों ॥ १०५० ॥

अपने नाभि-विवर तथा दाँत के उस चिह्न से वह इस प्रकार शोभायमान हो रही है मानो पृथ्वी के उद्धार हेतु सूकर वेषधारी भगवान् विष्णु के दाँत का चिह्न हो जिस पर काले घने केशों की पंक्ति मानो पाताल लोक से नाभि-विवर द्वार से निकलती हुयी घने काले धूम्रराशि की भ्रान्ति करा रही हो ॥ १०५१ ॥

हल से जोते गये अपने उदर पर लहराते हुए रेखसमूह से वह पृथ्वी इस प्रकार मनोहर प्रतीत हो रही है मानो अब तक उसके उदर में विराजमान श्रीराम प्रिया सीता के लिए बाहर आने का मार्ग बनाया गया हो ॥ १०५२ ॥

उसके शरीर के मध्यभाग पर रोमावलि जो रत्नहार से तरंगित हैं, इस प्रकार मनोरम प्रतीत हो रही है मानो गंगा की तीव्रधार यमुना से मिल रही हो ॥ १०५३ ॥

उस पृथ्वी-कामिनी के ऊपर उसकी लावण्यवटी सेविकाएँ अत्यन्त अनुराग से चामर डुला रही हैं, लगता है पृथ्वी ने समूल

अंतो-पाअड-भूरुह-मूल-कलावं व दंसंति ॥ १०५४ ॥

पहु-दंसण-रस-पसरिअ-ससेअ-रोमंच-संचय-णिहेण ।
सलिलाहअ-देस्स (सिअं) वीअ-लअं व दंसंति ॥ १०५५ ॥

अंतोवरिं च परिसंठिएण णह-णिण्णआएँ व जलेण ।
पडिमा-पडिएण सिअंसुएण संवलिअ-थण-विंबं ॥ १०५६ ॥

कंठ-कुसुमेसु बहुसो लीणुड्डीणेहिँ महुअर-कुलेहिं ।
आयासिअंग-लेहं सवक्ख सेलेहिं व पुणो वि ॥ १०५७ ॥

मुत्ता-पेरंतत्तण-पाविअ-पाआर-मंडल-गुणेहिं ।
दिव्व-पुरेहिँ व मणि-कुंडलेहिँ संभाविआभोअं ॥ १०५८ ॥

वृक्षराशि को इसीलिए अपने शरीर में स्थापित कर रखा है ॥ १०५४ ॥

वह ललना अपने परमप्रिय प्रभु के दर्शन से उत्पन्न आवेग के कारण निकलते हुए घने पसीने तथा रोमाञ्च के बहाने सारी पृथ्वी पर जल के चारो ओर फैलने से उत्पन्न बन-लताओं के नूतन अंकुरों का प्रदर्शन कर रही है ॥ १०५५ ॥

उस सुन्दरी के दोनों उन्नत-गोल स्तन श्वेत तथा पतले अंशुक (चोली) से ढँके हुए ऊपर आकाश गंगा तथा गंगा एवं अन्तः सलिला मन्दाकिनी के प्रतिबिम्ब की ओर संकेत करता है ॥ १०५६ ॥

उसके कण्ठ में पड़ी अधिकाधिक पुष्पमालाओं में एक पुष्प से दूसरे पर रस लेते हुए भँवर-समूह पृथ्वी के सुन्दर अंग पर सपक्ष पर्वत समूह का भान करा रहे हैं ॥ १०५७ ॥

रत्न-मण्डित कर्णाभरण से सुसज्जित उसका सुन्दर शरीर ऐसा लग रहा है मानो स्वर्ग-नगरी की सीमाओं पर खचित मोती चमक रहे हों तथा उस सीमा को घेरे हुए गोलाकार रक्षा-भित्ति बनी हुई हो ॥ १०५८ ॥

कुंडल-ससि-सूरंतर-णिसण्ण-कबरी-णिसा-विणीलद्धं ।
मुह-मंडलं सुमेरुं व कणअ-गोरं पआसेंति ॥ १०५९ ॥

सव्वत्तो हार-मऊह-दंड-पडिअग्गिअंग-भावेण ।
उम्मिल्ल-णिम्मलाणेअ-पह-समूहं व दीसंति ॥ १०६० ॥

अवअंस-कुसुम-णीसंदमाण-रअ-बिंदु-कलिअ-मूलेण ।
गंडत्थलेण दर-गलिअ-रेणु-भावेण व सहंति ॥ १०६१ ॥

माला-वलएहिँ पइण्ण-सुरहि-कबरी-लअं महुअराण ।
वेणी-बंधेहिँ व बहु-णरिंद-वेहव्व-पिसुणेहिं ॥ १०६२ ॥

इअ सुव्वइ एसो इर सरीर-भाव-परिसंठिअं बहुसो ।

सुमेरू की भाँति अपना कनक-गौरवर्णी मुखमण्डल प्रदर्शित करतो हुई ऐसी लग रही है मानो उस मुखमण्डल का शिरोभाग घनी केशराशि के कारण रात्रि सूचक है जो उसके कर्णाभूषण के कारण सूर्य और चन्द्रमा के मध्य स्थित है ॥ १०५९ ॥

जो रत्नहार उसने धारण कर रखा है उसकी चमकीली किरणों से उसका सारा शरीर जाज्वल्यमान हो रहा है। उसके नारी रूप पर पड़ती हुई ये किरणें उसके पृथ्वी रूप पर बने हुए मार्गों के समूह-सी दिख रही हैं ॥ १०६० ॥

उसके कपोल अतीव आकर्षक हैं जिन पर उसके कर्ण-पुष्पाभरण से टपक कर पराग सहित जल-बिन्दु उन्हें इस प्रकार आर्द्र बना देते हैं मानों धूल ही गीली होकर नीचे धरातल पर गिर रही है ॥ १०६१ ॥

लता की भाँति उसकी केशराशि बिखरी हुई है जिस पर भँवर मालायें मंडरा रही हैं मानो अनेकानेक पृथ्वीपतियों के बार-बार निधन से वैधव्य के कारण उसका जूड़ा खुला हुआ है ॥ १०६२ ॥

कहा जाता है कि केवल हमारे महाराज यशोवर्मा ने विष्णु के रूप में जब-जब इस पृथ्वी पर संकट पड़ा और यह इनके पास

पच्चक्खंचिअ देवि पुहइं पुलएइ पीडासु ॥ १०६३ ॥

किं च ।

सीसइ व जस्स ताराणुसारि-णिग्गअ-कलंक-वलएण ।
अत्ति-णयणाहि अज्ज वि समुब्भवो णिअअ-बिंबेण ॥ १०६४ ॥
वंसम्मि तस्स रअणी-रमणस्स पुरा परिट्ठिआ पहुणो ।
जे ताण अह पणामो एसो उण किंपि णिव्वडिओ ॥ १०६५ ॥

अवि अ ।

सज्झस-संवेउम्मीलणे वि अलसुम्मुहा समुत्तरइ ।
दिट्ठी पहरिस-विरलाअमाण-पम्हंतरालेसु ॥ १०६६ ॥
सत्तोहुत्त-गआगअ-हिअअ-वहाअंत-णह-मऊहेण ।

स्त्री वेष धारण करके आयो, तब-तब उसको प्रत्यक्ष भाव से कृपा पूर्वक देखा ॥ १०६३ ॥

और कहाँ तक कहा जाय, यह चन्द्रमा, जिसका जन्म अत्रि मुनि की आँख से हुआ है और उसका मण्डल तथा मध्य का गोल चिह्न भी तो अत्रि की आँख के गोलक तथा काली पुतरी से ही मिलता-जुलता दिखाई पड़ता है ॥ १०६४ ॥

राकापति चन्द्र के उस वंश में अगणित विख्यात तथा महान् नरपति राजा यशोवर्मा के पूर्व उत्पन्न हुए परन्तु इस वंश में मात्र यशोवर्मा की ही महत्ता सराहनीय है, अस्तु, हम सब उन्हीं का यशोगान तथा अभिनन्दन करते हैं ॥ १०६५ ॥

यह राजा ही ऐसा है कि इसके द्वारा जो शत्रु-बालाएँ बन्दी बनाई गई हैं उनकी भय तथा आशंका से खुली हुई आँखे भी बार-बार इसे देखने के लिए आतुर हो उठती हैं और आँखें नीची करके वे पुतलियों के मध्य उसका दर्शन करके आनन्द-विभोर होती रहती हैं ॥ १०६६ ॥

उन बालाओं के कोमल-किसलय सदृश हाथ उनके रेशमी वस्त्र से ढँके स्तनों पर पड़ रहे हैं और उनकी उंगलियों का प्रभायुक्त

कर-किसलएण लोलंसुअम्मि थण-मंडले वसिअं ॥ १०६७ ॥

गाढ-जहण-त्थल-क्खलण-मुहल-मणि-किंकिणीअमुक्कंपो ।
पडिकुसुमंदोलिअ-कंठ-दाममंगं तरंगेइ ॥ १०६८ ॥

इअ णिव्वत्तिअ-सेज्जा-परिणयणाण पडिवक्ख-कुमरीण ।
जाअंति जस्स पुरओ स-सज्झसा वम्मह विआरा ॥ १०६९ ॥

केऊर-मरगओग्गिण्ण-किरण-कलिले भुअम्मि अप्पाणं ।
सा जस्स विणोएइ व णलिणि-वणुक्कंठिआ लच्छी ॥ १०७० ॥

अहिआराणल-कुंडंब-मंडलं ताव णं समक्कमइ ।
तिमिरं कुलमिव तारा-फण-रअणवहं विसहराण ॥ १०७१ ॥

नख-वृन्द ऐसा प्रतीत होता है मानो बालाओं के हृदय को राजा के हृदय तक का मार्ग दिखा रहा हो ॥ १०६७ ॥

उन बालाओं के अन्तःकरण में कामुकता का उदय होते ही उनके शरीर में वासना तरंगे उठने लगती हैं और फलतः जब वे अपने सुदृढ़-विशाल जघन को ऊपर-नीचे हिलती हैं तो कटि में सजी हुई मणि मेखला के घुंघरू मुखरित हो उठते हैं साथ ही कण्ठ में पड़े पुष्पहार का प्रत्येक कुसुम आन्दोलित हो उठता है ॥ १०६८ ॥

प्रेम की इतनी विचित्र प्रतिक्रिया हुई कि मारे भय के अत्रुओं की परिणीता स्त्रियाँ राजा यशोवर्मा की सेज पर प्रेम की उत्सुकता से भर गयीं ॥ १०६९ ॥

वे राजा वैसे थे जिनकी भुजाओं पर केयूर में खचित नीलमणि से छिटकने वाली प्रभा से कमलवन से नियुक्त लक्ष्मी अपना मन बहलाती थी ॥ १०७० ॥

इसी बीच महाराज के शत्रु मण्डल बनाकर उन्हें पराजित करने के लिए दुष्टात्माओं को प्रसन्न करने के लक्ष्य से कुण्ड बनाकर आहुति देने लगे परन्तु जैसे मणिधारी विषधर कुल के समक्ष अन्धकार नहीं टिक सकता उसी प्रकार वे सभी विवर्ण हो उठे अर्थात् महाराज ने उन्हें परास्त कर दिया ॥ १०७१ ॥

पुहई-वइणो अम्हे सच्चरिआवेअणम्मि के तस्स ।
सुव्वइ ण-पहुत्तं चिअ तस्स वि फणिणो मुह-सहस्सं ॥ १०७२ ॥

तह वि णिसामेह णराहिवस्स भुअ-दप्प-दप्पणं एअं ।
रअणि-विरमम्मि णवरं पुरुमिल्ल-णरिंद-णिट्ठवणं ॥ १०७३ ॥

साहिज्जइ गउड-वहो एस मए संपअं महारंभो ।
णिसुए मुअंति दप्पं जम्मि णरिंदा कइंदा अ ॥ १०७४ ॥

एत्ताहे उण रविणो उव्वत्तिअ-कमढ-पिंगल-च्छाओ ।
परिघोलइ विअलिअ-किरण-कंदलो बिंब-परिणाहो ॥ १०७५ ॥

एए छाया-परिअत्त-मुहल-पारावआ पसज्जंति ।
गिरि-कुंजुणिद्द-मइंद-णंदिणो रण्ण-पेरंता ॥ १०७६ ॥

इस प्रकार महाराज यशोवर्मा की यशोगाथा का वर्णन हम लोग कैसे कर सकते हैं जबकि नागराज अपने सहस्रमुख से भी उनकी प्रशंसा करने में सर्वथा असमर्थ हैं ॥ १०७२ ॥

इस पर भी इस रात के अन्त में तुम्हें महाराज के भुज-बल का गौरव गान दर्पण द्वारा सुनने को मिल सकता है जिसके सामने इस वंश के पूर्व राजाओं का प्रताप धुंधला दिखाई पड़ता है ॥ १०७३ ॥

अब इसके अनन्तर 'गउडवहो' का महारम्भ वर्णन किया जायेगा जिसे सुनकर महान् भूपतिगण तथा कविराज अपना दर्प-त्याग कर देते हैं ॥ १०७४ ॥

इस समय सूर्य-मण्डल उल्टे पड़े हुए कछुए की भाँति लाल तथा पीतवर्णी हो चला है और वे अब अपनी नीचे गिरती हुई किरणों के साथ पश्चिम की ओर बढ़ने लगे हैं ॥ १०७५ ॥

सायंकाल वृक्षों की छाया में विश्राम हेतु अपने घोंसले की ओर आते हुए तथा गुटुर गूं का स्वरोच्चारण करते हुए कबूतर अतीव मनोहर दिखाई दे रहे हैं और पर्वत गुहाओं में गर्जना करते सिंहों से वन प्रदेश अत्यन्त अनुरञ्जक प्रतीत हो रहा है ॥ १०७६ ॥

मइलिज्जइ दिअसाहिव-किरणाइण्णत्थ-सेल-गलिएहिं ।
आयस-रस-विसरेहिँ व छाया-मग्गेहिँ महि-वेढं ॥ १०७७ ॥
सरिआण णिरंतर-मिलिअ-विहअ-णिवहोवरोह-मुच्चंता ।
उव्वेल्लंति व णिव्वडिअ-मंडला पुलिण-वित्थारा ॥ १०७८ ॥
दूरत्तण-पढम-णिअत्त-गो-हणा होंति णअर-मग्गेसु ।
सालंब-दिणअरच्चेअ धूसरा दिअस-परिणामा ॥ १०७९ ॥
थोअमिव विअड-गमणा गरुआअंत-जहणालसमुवेंति ।
धेणु-धवलीओ पण्हुअ-पीणापीणा वणंताओ ॥ १०८० ॥
संवेल्लिऊण एक्कं दिअसारंभ-पडिसारिअं विंझो ।
विइअं पक्खं व पुणो छाया-वलयं पसारेइ ॥ १०८१ ॥

पर्वतों से नीचे आते हुए छाया वाले ढर्रों से पृथ्वी तल अत्यन्त मलिन हो उठा है तथा सायंकालीन सूर्य की किरणें गलकर बहते हुए लोहे की भाँति दिख रही है ।। १०७७ ।।

नदियों के रेतीले विस्तृत तट इस समय अपने पूर्ण विकास में इस प्रकार दिख रहे हैं मानो समीप ही चहचहाते हुए पक्षि-समूह के वहाँ से उड़ जाने के कारण उन तटों का मण्डल पूर्णरूप से उभर आया हो ।। १०७८ ।।

दिवस के अन्त में नगर की सड़कें धूल-धूसरित हो जाती हैं, यद्यपि अभी सूर्य पश्चिमी-अन्तरिक्ष में ही लटके हैं और गउवें सायंकाल के पूर्व ही द्रुतगति से घर की ओर चली आ रही हैं क्योंकि उन्हें पर्याप्त दूर से आना है ।। १०७९ ।।

उत्तम कोटि की श्वेत गउवें, जिनके स्तनों से दूध की धार बह रही है, बन से धीरे-धीरे अलसाई चाल से चली आ रही है क्योंकि उनका जधन-स्थल भारी है यद्यपि अपने बछड़े को देखने की उत्सुकता के कारण वे बहुत शीघ्रता कर रही हैं ।। १०८० ।।

दिवसारम्भ में फैले हुए अपने एक पंख को समेटते हुए विंध्यगिरि ने अब अपनी छाया का विस्तार कर रखा है जिसे देखकर लगता है कि यह उसका दूसरा पंख है ।। १०८१ ।।

अंदोलइ दिण-लच्छी पच्छिम-सेल-त्थलावलंवासु ।
जरढ-सर-गंठि-रेहारुणासु रवि-किरण-मालासु ॥ १०८२ ॥
पच्छ-ट्ठिआअवत्तण-सुण्णइअ-गवक्ख-मग्ग-पइरिका ।
जाआ समुज्जलालेक्ख-सुंदरा मंदिरद्धंता ॥ १०८३ ॥
तंसागअ-रविअर-णिव्वडंत-मूलंतराल-विअडाइं ।
विरलाअंति व छाया-णिग्गम-सिढिलाइं रण्णाइं ॥ १०८४ ॥
सेलग्ग-खण-विहत्ता रवि-वडण-क्कमेण दूरमुच्छलिआ ।
घम्म-च्छेआ इव तारअत्तणं एंति मउलिंता ॥ १०८५ ॥
एंति गह-मोत्तिअड्ढे पओस-सीहाहए दिणेहम्मि ।
ल्हसिअ-ट्ठिअ-रुहिराअंब-कुंभ-करणिं रवि-मिअंका ॥ १०८६ ॥

दिनलक्ष्मी इस समय सूर्य की किरणों के उस झूले पर झूल रही हैं जो अस्ताचल से बँधा है और पके हुए नरकट के वर्ण का गुलाबी-सा दिख रहा है ॥ १०८२ ॥

सूर्य का प्रकाश पश्चिम दिशा की ओर होने से भवनों के पीछे पूर्व की ओर के झरोखे स्पष्ट तथा रिक्त होने के बाद उन भवनों के अन्तर्भाग में उरेहे गए विविध कलात्मक चित्र इस समय अतीव सुन्दर लग रहे हैं ॥ १०८३ ॥

इस समय बन प्रदेश अनूठे-से इसलिए लग रहे हैं कि उनके अन्दर की घनी छाया के हट जाने से वे शिथिल हो चले हैं और सायंकालीन सूर्य की तिरछी किरणों के पड़ने से उनका मध्य तथा नीचे का अंश स्पष्टतः दिख रहा है ॥ १०८४ ॥

ऐसा लगता है मानो सूर्य की उष्ण रश्मियाँ कुछ समय के लिए पर्वत शिखरों के अग्रभाग में चतुर्दिक छितरा गई हैं और बाद में सूर्यमण्डल के अस्ताचल गामी होने से वे सारे आकाश में छिटक कर असंख्य तारिकाओं का रूप धारण किये हुए हैं ॥ १०८५ ॥

नक्षत्र-मुक्ता से सम्पन्न दिवस-गज सायंकालीन सिंह द्वारा वधा जा रहा है और पूर्व तथा पश्चिम में क्रमशः उदीयमान चन्द्र सूर्य उसके क्षत कुम्भस्थल और अस्तगामी रक्ताभ हों ॥ १०८६ ॥

जामवई-मुह-भरिए संज्झा-मइराएँ दिणअराहारे ।
आआस-केसरं दंतुरेंति णक्खत्त-कुसुमाइं ॥ १०८७ ॥

आअव-किलंत-महिसच्छि-कोण-सोणाअवं दिणंतम्मि ।
उव्वत्तइ रविणो भू-कलंब-पुड-पाडलं बिंबं ॥ १०८८ ॥

संज्झालत्तअ-धरिअम्मि उअह जलणोवले व्व रवि-बिंबे ।
णिव्वडइ धूम-लेह व्व मासला जामिणि-च्छाया ॥ १०८९ ॥

जाअं व धूम-संचय-कलुसारुण-किरण-दंतुरं रविणो ।
तिमिरोवआर-मुज्झंत-विसम-संज्झाअवं बिंबं ॥ १०९० ॥

काली-कअ-सरस-गल-च्छेअ-महा-महिस-विब्भमो मिलइ ।

रात्रिदेवी अपने मुख में गुलाबी रंग की सान्ध्य मदिरा भरकर सूर्य रूपी पात्र में उँड़ेलती है जिससे आकाश वकुल तरू नक्षत्र-समूह से खचित होकर रोमांचित हो उठता है। वकुल तरू मदिरा-सेचन से पुष्पित होता है। यहाँ आकाश वकुल तरू है और अस्ताचल गामी सूर्य मदिरा पात्र हैं ॥ १०८७ ॥

दिन के अन्त में कदम्ब तरू पुष्प के पाटल के सदृश गुलाबी सूर्यमण्डल अस्ताचल पर विराजमान हो जाता है। उनका प्रकाश इस प्रकार रक्तवर्णी हो गया है जैसे सूर्य के प्रचण्ड ताप से भैंसे की आँख का कोना लाल हो गया हो ॥ १०८८ ॥

देखिये, जैसे ही सूर्य अस्त होता है और गोधूलि की लालिमा के ऊपर जलते हुए पाषण की भाँति दिखता है वैसे ही निशा की छाया चतुर्दिक् धूमलेखा-सी बिखेर देती है ॥ १०८९ ॥

चारो ओर घना धुआँ फैल जाने के कारण सूर्यमण्डल इस समय अपनी भूरी तथा गुलाबी किरणों वाला हो गया है और गोधूलि की छवि अन्धकार के बढ़ते जाने के कारण निर्जीव तथा धूमिल हो गई है ॥ १०९० ॥

अस्ताचलगामी गुलाबी सूर्यमण्डल का चुम्बन पाकर घना अन्धकार चारो ओर एकत्रित हो गया है जो ऐसा प्रतीत हो रहा

अत्थाअंबिर-रवि-बिंब-चुंबिओ तिमिर-संघाओ ॥ १०९१ ॥

लहइ स-संदण-तुरओ तिमिरक्कमंत-पिंजर-सरीरो।
महुमहण-गारवुव्वत्त-पिच्छ-गरुल-च्छविं सूरो ॥ १०९२ ॥

जाए णिराअवे दिणअरम्मि गिरि-रेणु-पाडल-मऊहे।
घोलइ मिलंत-तिमिरा कुलीर-कविला दिण-च्छाया ॥ १०९३ ॥

णिअ-कर-किलिंच-णीडत्थमत्थ-गिरि-पाअवाहि रवि-बिंबं।
णिवडइ संज्झा-कललोल्ल-विहअ-णाहंड-पिंडं व ॥ १०९४ ॥

थोउव्वत्तण-लक्खिअ-संज्झारुण-गअण-तालु-पेरंतो।
कवलेइ पओस-करी विहाण-पिंडं व रवि-बिंबं ॥ १०९५ ॥

है मानो वह विकट भैंसा है जिसकी ग्रीवा काली द्वारा काट दी गई हो और उससे रक्तस्राव हो रहा हो ॥ १०९१ ॥

घोर अन्धकार में ढँके हुए लाल-पीले सूर्य अपने रथ तथा अश्वों के साथ ऐसे लग रहे हैं मानो मधुसूदन विष्णु का भार संभालने के लिए पक्षिराज गरुड़ ने अपने पंख फैला दिये हो ॥ १०९२ ॥

अस्त के समय जैसे ही छविविहीन सूर्य की किरणें पर्वत की धूल से मिलकर गुलाबी हो जाती हैं वैसे ही अन्धकार के मिश्रण से दिन का प्रकाश धीरे-धीरे कुलीर की भाँति भूरा हो जाता है ॥ १०९३ ॥

अपनी ही किरणों में घिरा सूर्यमण्डल लकड़ी के जाल में फँसा हुआ ऐसा दिख रहा है जैसे अस्ताचल के तरू से नीचे इस प्रकार गिरा पड़ा है मानो पक्षिराज के उस अण्डे का प्रकाश हो जिसका ऊपरी भाग गोधूलि के प्रकाश से चमक रहा हो और कुछ-कुछ आर्द्र हो चला हो ॥ १०९४ ॥

रात्रि रूपी हाथी अपने प्रातःकालीन कलेवा की भाँति उस सूर्यमण्डल को कवलित कर रहा है जो उसके तालु तक निगला हुआ दिख रहा है और जिसकी चमक गोधूलि में गुलाबी हो गई है तथा मुंह के खुले रहने से थोड़ा-थोड़ा दिखाई दे रहा है ॥ १०९५ ॥

णह-वट्टं दूरुण्णअ-संज्झा-परिवेस-परिअरं सहइ ।
अहिणव-पडिबंधाअंब-बिंब-विअडावड-च्छायं ॥ १०९६ ॥
पुरुमिल्ल-दिसा-गअ-तिमिरमवर-भाआवलंबि-रवि-बिंबं ।
गरुलमिव गहिअ-गअ-कुम्ममुअह परितंबिरं गअणं ॥ १०९७ ॥
पल्हत्थइ तिमिर-महा-वराह-पडिपेल्लिओ सुमेरु व्व ।
संज्झालोओ पडिलग्ग-केसराअंत-रवि-किरणो ॥ १०९८ ॥
विअडंडम्मि व रवि-मंडलम्मि मुक्कम्मि पढममरुणंके ।
णह-सिरि-विणआएँ ससी वुब्भइ बीअंड-पिंडो व्व ॥ १०९९ ॥
आसार-पसर-सरला ताली-वण-दंड-धूसरा होंति ।
गंधव्व-पुराआरा णिराअवा रवि-अर-णिवेसा ॥ ११०० ॥

गोधूलि की चक्राकार स्थिति के कारण दूर तक फैली आभा से आकाश इस प्रकार सुन्दर लग रहा है मानो सूर्य के गुलाबी मण्डल द्वारा उसके चारो ओर नवीन सुरक्षा भित्ति निर्मित की गई हो ॥ १०९६ ॥

देखिये, पूर्व दिशा में बढ़ते हुए अन्धकार और पश्चिम में डूबते सूर्यमण्डल के कारण आकाश उन पक्षिराज गरूड़ की भाँति लग रहा है जिन्होंने एक दिग्गज तथा एक कच्छप अपने पंजे में दबा रखा हो ॥ १०९७ ॥

सूत्र की भाँति लटकती हुई सूर्य की किरणों के साथ गोधूलि की चमक उस सुमेरू पर्वत के सदृश नीचे गिर रही है जो अन्धकार रूपी महान् वाराह के द्वारा ढकेला गया हो ॥ १०९८ ॥

रक्तवर्णी तथा एक विकट अण्डे की भाँति सूर्यमण्डल इस समय एक किनारे हो गया है और एक द्वितीय अण्ड-पिण्ड की भाँति आकाश देवी द्वारा ले जाया जा रहा है ॥ १०९९ ॥

सूर्य की ताप विहीन किरणें इस समय झरने की बौछार की भाँति सीधी गिरती हुई सीधे खड़े ताल-वन-सदृश अत्यन्त भूरी हो गई हैं जिन्हें देखकर ऐसा लगता है यह गन्धर्वों की जादू नगरी हो ॥ ११०० ॥

रेहावसेस-दिणअर-मऊह-णिव्वडिअ-दंड-पडिबंधा ।
जालाअइ सालोआ अवर-दिसा भुवण-भवणस्स ॥ ११०१ ॥
गअण-महि-वेढ-णीलो मज्झे संज्झावसेस-पडिभिण्णो ।
घोलइ खज्जूर-क्खंध-पाडलो तिमिर-संघाओ ॥ ११०२ ॥
दीसइ दिसासु तारा-सहरी-जालाविला तिमिर-लेहा ।
रवि-पडण-संभमारंभ-रहस-चलिअ व्व कालिंदी ॥ ११०३ ॥
सायं मिलंति कम-णिव्वडंत-तम-मंडलावउण्णाओ ।
आसण्ण-भाव-पाअड-णिअअ-गइंदाओ व दिसाओ ॥ ११०४ ॥
ऊससिअ-सामलारुण-तम-वेल्ली-मूल-लक्खिअं कोवि ।
गअण-च्छलरुणयकंचमिंदुबिंबं समुद्धरइ ॥ ११०५ ॥

इस समय पश्चिम दिशा में सीधी पड़ती सूर्य किरणों की रेखा मात्र अवशेष रह गई है और दण्ड प्रतिबन्ध से युक्त लोक प्रासाद के गवाक्षों के सदृश यह आकाश प्रतीत होता है ॥ ११०१ ॥

एक ओर आकाशपटल पर घना-नीला-अन्धकार और दूसरी ओर पृथ्वी पर फैलता अन्ध-तामिस्र जिसके मध्य में गोधूलि है, इस प्रकार गुलाबी वर्ण धारण करके विद्यमान है मानो खजूर तरूका तना हो ॥ ११०२ ॥

सभी दिशाओं में फैला हुआ अन्धकार, नक्षत्रों के रूप में सहरी मछली की भाँति ऐसा लग रहा है जैसे यमुना की धारा हो जो अपने पिता सूर्य की गोद में बैठने के लिए आवेश तथा उत्कण्ठा में विपरीत दिशा की ओर चली जा रही हो ॥ ११०३ ॥

घने अन्धकार से परिपूर्ण दशों दिशाएँ परस्पर मिल रही हैं और उनकी समीपता के कारण दिशारक्षक गजराज भी एक दूसरे को दृष्टिगोचर हो रहे हैं ॥ ११०४ ॥

ऐसा लगता है कि किसी ने चन्द्रमण्डल को खोदकर इस प्रकार बाहर निकाला है मानो अन्धकार के गहरे लाल लता पुंज की उस जड़ को खोदकर निकाला हो जिसमें अब अंकुर निकल रहा है ॥ ११०५ ॥

होंत-वसुहाहिव-कहा-कोऊहल-कड्ढिआओ व मिलंति ।
दिअस-विराम-च्छवि-धूसराओ समअंचिअ दिसाओ ॥११०६॥
बहलत्तण कुहरूणसिअ-तम-सिहा-लंघणोणउच्छंगा ।
देंति थलुद्देसच्चिअ थोआलोआ दरी-संकं ॥ ११०७ ॥
आलोओ परिघोलइ ससिणो छाया-णिवेस-वोच्छिण्णो ।
मलिणाणुसार-पसरिअ-कसण-च्छवि-मग्ग-सवलो व्व ॥११०८॥
दीसइ णिसासु तारा-णिहेण फुडिअ-विरल-छिअ-कवालं ।
बंभंडग्ग-पुडं पिव कालंतर-जज्जरं गअणं ॥ ११०९ ॥
जाआओ कम-पसम्मंत-धूम-रअ-णिग्गमावरोहाओ ।
आरूढ-पओसाओ वि पविरल-तिमिराओ व दिसाओ ॥१११०॥

दिन के अन्त में उठी धूल से अन्धकार मयी दिशाएँ परस्पर मिल रही हैं, मानो महाराज यशोवर्मा की कीर्ति-गाथा सुनने के लिए वे आतुर हो रही हैं ॥ ११०६ ॥

यहाँ तक कि सुस्पष्ट मार्ग, जिन पर इस समय बहुत मामूली प्रकाश पड़ रहा है और जिनका धरातल उदास हो चला है, जब घने अन्धकार से घिर जाते हैं, उस समय उन्हें देखकर ऐसा भ्रम होता है मानो ये साक्षात् कन्दराएँ हैं ॥ ११०७ ॥

सन्ध्या की गोधूलि छाया के कारण चन्द्रमा का प्रकाश अस्त-व्यस्त हो रहा है इसलिए वह खण्ड-खण्ड सदृश प्रतीत हो रहा है तथा उसकी छाया मार्गों पर पड़ रही है जो चन्द्रमा में लगे दाग से प्रतिफलित प्रतीत होती है ॥ ११०८ ॥

रात में ताराओं के उदित हो जाने से आकाश एक ऐसे कपाल की भाँति दिखता है जिसमें कि जहाँ-तहाँ छिद्र हो गये हों मानो ब्रह्माण्ड का ऊपरी अर्द्धभाग कालान्तर से जर्जर और सछिद्र हो गया हो ॥ ११०९ ॥

धूम और धूल के अवरोध के क्रमशः प्रशान्त हो जाने के कारण अन्धकार अब प्रविरल हो गया है यद्यपि रजनी (समय बीतने से) घनीभूत हो गयी है ॥ १११० ॥

मूढ-ससि-दिणअरालोअ-मज्झ-पुंजिज्जमाण-तम-कसणं ।
संजाअमुहअ-धारा-णिम्मल-खग्गोवमं गअणं ॥ ११११ ॥

पेरंतेसु दरावद्ध-तिमिरमोसुक्क-कमल-परिसासं ।
आभाइ लावअ-वहू-वच्छ-कसाय-प्पहं गअणं ॥ १११२ ॥

गह-णिवह-बिंदु-संदोह-समिअ-संज्झाणलो समुक्खिवइ ।
उअय-सुपण्णो गअणम्मि अमअ-कलसं व ससि-बिंबं ॥१११३॥

तम-महुअर-जालुप्पअण-पअड-मअ-मंडलं णिसा-वइणो ।
बिंबं माहवमिव पिंड-खंडमावाडलं उअह ॥ १११४ ॥

उक्खिप्पइ गअण-तुला-दंडेण समूससंत-कर-केऊ ।
पच्छा रवि-पिंड-भरोणएण कलसो व्व सस-इंधो ॥ १११५ ॥

पश्चिम में डूबते सूर्य तथा पूर्व में उदय होते चन्द्रमा के मध्य अन्धकार की कालिमा से युक्त आकाश अपने दोनों ओर की प्रभा से युक्त खड्ग की भाँति दिख रहा है ।। ११११ ।।

क्षितिजों में धीरे-धीरे बढ़ते अन्धकार तथा शुष्क कमल की भाँति घनी नीलिमा युक्त आकाश माया लावक के वक्ष के समान कसैला दिख रहा है ।। १११२ ।।

उदय काल रूपी सुवर्ण गोधूलि की अग्नि को बुझाने के लिए नक्षत्रपुंज के सदृश अमृत की बूंदे छिड़क कर अमृत क्रमशः के रूप में चन्द्रमण्डल को आकाश में उठा रहे हैं ।। १११३ ।।

इस समय चन्द्रमण्डल की ओर देखिये जो शुद्ध शक्कर के ढेर के समान है और जिसमें मृग की आकृति स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है क्योंकि अन्धकार रूपी भ्रमर वहाँ से उड़ चुके हैं ।। १११४ ।।

सूर्यास्त के पश्चात् सूर्य और चन्द्र आकाश-तुलादण्ड के दो पलड़ों की भाँति बन जाते हैं। पश्चिम में सूर्य का पिण्ड अधिक वजनी दिखाई पड़ता है इसलिए वह तुलादण्ड को नीचे झुका देता है जिससे चन्द्रमा ऊपर टँगा हुआ है और सूर्य नीचे उतरने से लग रहे हैं ।। १११५ ।।